वीर सेवामन्दिर सस्ती ग्रन्थमालाका चतुर्थ पुष्प

श्रावक-धर्म-संग्रह

लेखक

श्री स्व० मा० दरयावसिंहजी सोधिया

सम्पादक

परमानन्द जैन शास्त्री

अनुवादक, समाधितन्त्र और अध्यात्मकमलमार्तण्डादि

प्रकाशक

वीर-सेवामन्दिर

सरसावा, जिला सहारनपुर

२००० प्रति } वी० नि० सं० २४७६ / विक्रम सं० २००६ { लागत मूल्य सवा रुपया

प्रस्तावना

भारतीय धर्मों में जैन धर्मका स्थान महत्वपूर्ण है उसके अहिंसादि सिद्धान्त लोकोपयोगी और आत्म-कल्याण करने वाले हैं उन पर चलने-से आत्मा अपना पूर्ण विकास कर सकता है। अनेकान्तको जीवनमें उतारनेसे संसारमें उसका कोई शत्रु नहीं हो सकता। अहिंसा और अपरिग्रहवादका आचरण करनेसे सांसारिक विषमताका सहजही निरसन होकर व्यर्थकी झंझटोंसे सदाके लिये मुक्ति मिल जाती है। इस तरह इन सिद्धांतोंके सर्वसाधारणमें प्रचारका अभाव देखकर हृदय तलमला उठता है कि इन सार्वजनीन महत्वपूर्ण सिद्धांतोंका जगत्‌में प्रचार क्यों नहीं हुआ? यदि इनका प्रचार हो तो कैसे हो, अथवा जनता जैन धर्मकी आत्माको और उसके गृहस्थ मुनि-धर्मके आचार-विचारोंको कैसे जाने और उन्हें जीवनमें किस तरह अपनाये?

समाजमें आज जो जैन-साहित्य प्रकाशित हो रहा है उसका मूल्य अधिक होनेसे सुगमतासे जनता उसे खरीद नहीं सकती अतएव वह जैन धर्मके सिद्धांतोंकी जानकारीसे प्रायः अपरिचित ही रह जाती है वह उन-की महत्ता एवं सार्वभौमिकतासे वंचित ही रहती है। इसीसे जैन धर्मका साहित्य सबको सुलभ हो सके और वे जैन धर्मके सिद्धांतों-का परिज्ञान कर अपना हितसाधन कर सकें इसी पवित्र भावनाको दृष्टिमें रखते हुए श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक चिदानन्द जी महाराजकी प्रेरणासे वीर सेवामन्दिरके तत्वावधानमें 'सस्ती ग्रन्थमाला' को स्थापनाकी गई है जिसका उद्देश्य स्वाध्याय प्रेमी पाठकों और पाठि-काओंको लागत मूल्यमें ग्रन्थोंको प्रकाशित कर देना है। ग्रंथमालासे इस समय छहढाला जैन महिला शिक्षासंग्रह और सरल जैनधर्म ये तीन ग्रंथ छप चुके हैं और श्रावक-धर्म-संग्रह आपके हाथमें है। शेष ग्रंथ

मोक्षमार्गप्रकाश रत्नकरण्ड-श्रावकाचारादि छप रहे हैं जो शीघ्र ही पाठकोंके हाथोंमें पहुँचेगें।

प्रस्तुत ग्रंथका विषय उसके नामसे स्पष्ट है, जिसमें जैन श्रावकके आचार-विचारोंका संकलन किया गया है उसके दैनिक कर्तव्योंके साथ श्रावकके पाक्षिक साधक और नैष्ठिक भेदोंका स्वरूप और उनकी आचार सम्बन्धि समस्त क्रियाओंका कथन दिया हुआ है। जिसे पढ़ते ही श्रावक अपनी क्रियाओंका सामान्य परिचय प्राप्त कर उन्हें जीवन-में लाने और अपने जीवनको पूर्ण अहिंसक बनानेमें समर्थ हो सके। इसीसे श्रावक धर्मके दिग्दर्शनके बाद इसमें कुछ साधुकी क्रियाओं-का भी संक्षिप्त कथन दिया हुआ है। जो उनके नैष्ठिक जीवनके बाद व्यवहारमें आना आवश्यक है। लेखकने इसके संकलनमें पर्याप्त श्रम किया है। जिससे यह ग्रंथ श्रावकोपयोगी बन गया है आशा है स्वाध्याय प्रेमी महानुभाव इसे अपनायेंगे और सस्ती ग्रंथमाला की इस निःस्वार्थ सेवाका अभिनन्दन कर प्रत्येक घरमें, ग्रंथमालाके पूरेसेट को खरीद कर ज्ञानार्जन करनेका प्रयत्न करेंगे।

यहां यह कहना आवश्यक जान पड़ता है कि ग्रंथका लागत मूल्य ग्रंथके छपनेसे पूर्व ही अनुमानित कर लिया था और वह केवल १५ फार्मों (२४० पृष्ठ) की संख्याको ध्यानमें रख कर ही किया गया था किन्तु ग्रंथमें ५ फार्म (८० पृष्ठ) के करीबका मैटर और बढ़ गया है जिसमें चार सौ रुपयेके करीबका खर्च अधिक हो गया है जिससे ग्रंथ-का मूल्य एक रुपयाकी बजाय सवा रुपया कर दिया गया है इस ग्रंथमाला का यह कार्य उदार मना श्रीमानोंकी सहायता पर निर्भर है। आशा है जिन वाणी भक्त महानुभाव एक सौ एक रुपया देकर सहायक बननेका प्रयत्न करेंगे। उन्हें ग्रंथमालाका पूरा सेट भेंट स्वरूप दिया जायगा। ग्राहक महानुभाव अपनी-अपनी प्रतियां शीघ्र ही रिजर्व करा लेवें अन्यथा पीछे पछताना पड़ेगा। इतने सस्ते मूल्यमें इन ग्रंथोंका मिलना दुर्लभ है।

परमानन्द जैन

लेखकका वक्तव्य

इस बातको बहुधा सभी धर्मानुयायी निर्विवाद स्वीकार करते हैं कि सम्पूर्ण संसारी जीवोंकी जन्म-मरण परिपाटीका कारण उनकी पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें लोलुपता और क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय एवं मोहरूप प्रवृत्ति है। इसीलिये ये दोष हीनाधिक रूपसे सभी संसारी जीवोंमें पाये जाते हैं तथा इन्हींके वश वे नाना प्रकारकी शुभाशुभ क्रियायें करते हुए उन क्रियाओंके परिपाकसे जन्म-मरणका चक्कर लगाते हुए, अति दुखी और दीन-हीन हो रहे हैं। जिन जीवोंके विषय-कषायोंकी प्रवृत्ति मन्द होती है वे शुभ (पुण्य) कर्म करते हुए भविष्य में देवगति या मनुष्यगति पाते हैं। इसी प्रकार जिनके विषय-कषायोंकी प्रवृत्ति तीव्र होती हैं वे अशुभ (पाप) कर्म करते हुए भविष्यमें नरकगति या तिर्यंच (पशु पक्षी-कीड़ी-मकोड़ा) गतिको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सभी संसारी जीव अपने किए हुए पुण्य पाप कर्मोंका फल स्वयं ही भोगते हैं। इन चतुर्गतिमें भ्रमण करते हुए जीवोंमें से जब किसीको उसके पूर्व संचित पुण्योदयसे औरोंकी अपेक्षा दुखकी कुछ मात्रा कम होती है तब लोग उसे सुखी समझते हैं। संसारी अज्ञानी जीवोंने दुखकी कमीको ही सुख मान रक्खा है। यथार्थमें वह सुख नहीं है। सच्चा सुख तो वही है जो विषय-कषायों के सर्वथा अभाव होनेपर शान्त दशारूप चिरस्थाई हो, और जिससे संसारपरिभ्रमण अर्थात् जन्म-मरणकी परिपाटीका सर्वथा अभाव हो-जाय, इसीका दूसरा नाम निष्कर्म अवस्था अर्थात् मोक्ष सुख है, जीवात्मा इस अवस्थाको पाकर ही परमात्मा हो सकता है। यद्यपि सभी संसारी जीव दुखसे बचनेके लिए अनिष्ट सामग्रियोंके दूर करने और सुखकी प्राप्तिके लिये इष्ट-सामग्रियोंका समाधान मिलाने

में निरन्तर अस्तव्यस्त रहते हैं, जबतक वे सच्चे दुख-सुखके स्वरूपको भलीभांति जानकर दुखके मूल कारण विषय कषायोंका अभाव नहीं करते तबतक निराकुल-स्वाधीन, अविनाशी, आत्मिक सुख को कदापि नहीं पा सकते।

ज्ञात रहे कि इन संसारी प्राणियोंमें एकेन्द्रीसे लेकर अमनस्क (असैनी) पंचेन्द्रिय,तक तो मनके बिना आत्महितके विचारसे सर्वथा ही शून्य हैं। अब रहे शेष सैनी पंचेन्द्रय, सो इनमेंसे जिनके मोहादि कर्मों का तीव्र उदय है वे सदा विषय-कषायों में ही अति मूर्च्छित रह धर्म से सर्वथा विमुख रहते हैं उनको आत्महितकी रुचि ही उत्पन्न नहीं होती। हाँ! जिनके मोहादि कर्मोंका कुछ मन्द उदय है, उन्हें धर्म बुद्धि होती ही है, उन्हें धर्मकी वार्ता सुहाती है और वे धर्म धारण करनेकी इच्छा भी करते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि दुखके अभाव और सुखकी प्राप्ति रूप मूल उद्देश्यकी सिद्धिके लिए ही प्रायः सभी मतोंने गृहस्थाश्रम और सन्यासाश्रम इन दो कक्षाओंको किसी-न-किसी रूपमें स्वीकार किया है, अथवा कोई-कोई उसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमोंमें भी विभक्त करते हैं; परन्तु खेदके साथ कहना पड़ता है कि वर्तमानमें शान्ति सुखकी प्राप्तिके निमित्तभूत, इन चारों आश्रमोंको अथवा दोनों कक्षाओंकी बड़ी अव्यवस्था हो रही है, इनका रूप अत्यन्त विपरीतसा हो रहा है। सदुपदेशकोंके अभावसे बहुधा गृहस्थाश्रमी अपने कर्त्तव्य-कर्मसे सर्वथा च्युत हो रहे हैं वे सच्चे दिल से न तो अपना कर्त्तव्य ही पालन करते और न साधु-धर्मके ही सहायक होते हैं, वरन् मनमाने दुराचरणोंमें प्रवृत्त देखे जाते हैं। इसी प्रकार प्रायः गृहत्यागी-साधुवर्ग द्वारा गृहस्थोंको सुमार्ग (मोक्षमार्ग) का उपदेश मिलना तो दूर रहा, वे स्वयं स्वधर्मसे पतित होते हुए गृहस्थोंको उलटे विषय-कषायोंमें फंसाकर अनन्त-संसारी बनाते हैं। इस प्रकार उलटी गङ्गा बह रही है॥

इस उल्टी गङ्गाके बहनेका कारण क्या है ! जब इस पर सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाता है तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि कई मत तो केवल ज्ञान मात्रसे ही सुखकी प्राप्ति एवं मोक्ष होना मानते हैं। इसलिए वे विरागता-को दूरही से नमस्कार करते हुए केवल ज्ञान बढ़ानेमें ही तत्पर रहते और अपनेको ज्ञानी एवं मोक्ष मार्गी समझते हैं। इसी प्रकार उनसे विरुद्ध कई मत केवल एक विरागतासे ही सुखकी प्राप्ति एवं मोक्ष होना मानते हैं, इसलिए वे संसार और मोक्ष सम्बन्धी तत्त्वज्ञानके बिना ही मनमाना भेष धर, मनमनी क्रियायें करते हुए अपनेको विरागी, सुखी और मोक्षमार्गी मानते हैं। इस प्रकार अंधे-लंगड़ेकी नांई ज्ञान-वैराग्य की एकता न होनेसे गृहस्थ और सन्यास दोनों आश्रमोंका धर्म यथार्थरूपसे पालन नहीं होता। प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि कई लोग तो राजविद्या अथवा धर्मज्ञान शून्य न्याय, व्याकरणादि विद्या या अनुभव हीन धर्मविद्यामें निपुण होकर ज्ञानी, मोक्षमार्गीपनेकी ठसक धराते हुए, सदाचारको ताकमें रख, विषय-कषायोंमें लवलीन रहते हुए, संसार संपदा बढ़ाने और विलासप्रिय बननेमें ही तत्पर रहकर अपने तईं सुखी मान रहे हैं। परन्तु खेदके साथ कहना पड़ता है कि उन्हें सच्चे आत्मज्ञान एवं विरागताके बिना शांति सुखके दर्शन भी नहीं होते। इसी प्रकार कई लोग केवल विरागताके उपासक बनकर आत्मज्ञानकी प्राप्ति हुए बिना ही पेट पालने अथवा ख्याति-लाभ-पूजादि प्रयोजनोंके वश मनमाने भेषधर अपने तईं विरागी-मोक्षमार्गी प्रसिद्ध करते हैं। ऐसे लोग भी ज्ञान वैराग्यकी एकताके बिना महा-सन्तप्त (दुखी) और असन्तुष्ट देखे जाते हैं। वे बहुधा ब्रह्मचारी, स्वामी नामोंसे प्रसिद्ध होते हुए भी विषय-कषायोंमें लिप्त रहते हैं, उनके हृदयमें शान्तिसुखके बदले संकल्प-विकल्पोंकी ज्वालायें धधकती रहती हैं। यह सब दुष्परिणाम ज्ञान-वैराग्यकी पृथकता का है। अतएव मुमुक्षु सज्जनोंको उचित है कि पहले तो वीतराग—विज्ञानताके मार्गमें प्रवर्तनेवाले विद्वानों एवं वीतराग-विज्ञानताके प्ररूपक सच्छास्त्रों

द्वारा मोक्षमार्ग सम्बन्धी तत्त्वोंका भलीभाँति ज्ञान प्राप्त करें। संसार, संसारके कारणों तथा मोक्ष, मोक्षके कारणोंको जानें, उनकी भलीभांति जांच कर उन पर दृढ़ विश्वास लावें। पीछे संसारके कारणोंको छोड़ने और मोक्षके कारणोंको ग्रहण करनेके लिए गृहस्थ एवं मुनिधर्म रूप विरागताको यथाशक्य अंगीकार करें। इस प्रकार ज्ञानवैराग्यकी गाढ़ी मित्रता एवं एकीभाव ही सच्चे, आत्मिक, अविनाशी सुखकी प्राप्तिका यथार्थ उपाय है॥

यहां यह कह देना कुछ अनुचित न होगा कि जिस प्रकार गृहस्थ धर्म अथवा साधु धर्म धारण करनेके पहिले आत्म-ज्ञान होनेकी आवश्यकता है, उसी प्रकार मुनि धर्म धारण करनेके पहिले यह बात जानना भी अति आवश्यक है कि गृहस्थाश्रममें गृहस्थ धर्म साधन करते हुए मनुष्य किस-किस प्रकार, कितने दर्जे तक विषय-कषायोंको घटा सकता है और कितने दर्जे तक विषय-कषाय घटने पर आत्म-स्वरूप साधने योग्य साधु धर्म अंगीकार कर सकता है? अतएव साधु धर्म अंगीकार करनेके पहिले गृहस्थ धर्मको भली भांति जान कर उसका अभ्यास करना प्रत्येक मनुष्यका प्रथम-कर्त्तव्य है। इसी अभिप्रायको मनमें धारण कर मेरी इच्छा दीर्घकालसे गृहस्थधर्मके स्वरूपको भली भाँति जानने की थी। अतएव इसीका सतत प्रयत्न किया, जिससे श्रावकाचार के ज्ञाता वृद्ध-विद्वानों एवं संस्कृतपाठी पंडित महाशयोंकी सहायता द्वारा गृहस्थ धर्मके प्रकाशक अनेक संस्कृत-भाषाके ग्रन्थोंके आधार से इस विषयको एकत्र करते-करते यह "श्रावक-धर्म संग्रह" नामक ग्रन्थ संग्रह हो गया। इसमें मुख्यपने-गृहस्थधर्मका और गौणपने साधु-धर्मका वर्णन है। आशा है कि इससे अन्य मुमुक्षुओंको भी अपना २ कर्तव्य भलीभांति ज्ञात होगा और वे इसके अनुसार आचरण कर क्रमशः शांतिसुखका अनुभव करते हुए परम शांति युक्त परमात्म-अवस्था को प्राप्त होंगे।

मैंने इस श्रावकधर्म संग्रह करनेका कार्य अपनी मान-बड़ाई, लोभ

अथवा और किसी दुरभिनिवेशके वश होकर नहीं किया, केवल अपने ज्ञानवर्धन एवं कल्याण निमित्त किया है। इसमें जो कुछ विषय प्रतिपादन किया गया है वह श्री सर्वज्ञ, वीतराग, तीर्थंकर भगवानके हितोपदेशकी परिपाटीके अनुसार निर्ग्रंथाचार्य महर्षियों द्वारा रचित ग्रन्थोंके आधारसे तथा उस पवित्र मार्गके अनुयायी एवं प्रवर्तक अनेक मुमुक्षु-विद्वानोंकी सम्मतिसे किया गया है। इतना अवश्य है कि कहीं-कहीं पूर्वाचार्योंके संक्षिप्त वाक्योंकी ध्वनि वृद्ध विद्वानोंकी सम्मति एवं तर्कवादसे स्पष्ट कर दी गई है। पुनः इस ग्रंथका संशोधन भी अनेक धर्म-मर्मज्ञ अनुभवी सज्जनों द्वारा कराया गया है।

इस ग्रन्थके संग्रह करनेमें नीचे लिखे ग्रन्थोंका आश्रय लिया गया है।

(१) रत्नकरंडश्रावकाचार—मूलकर्ता श्रीसमंतभद्रस्वामी। भाषाटीकाकार पं० सदासुखजी।

(२) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा—मूलकर्त्ता श्रीकार्तिकेय स्वामी। भाषाटीकाकार पं० जयचन्द्रजी।

(३) भगवती आराधना—मूलकर्त्ता श्रीशिवार्य। भाषाटीकाकार पं० सदासुखजी।

(४) वसुनन्दि श्रावकाचार—आचार्य वसुनन्दी।

(५) धर्मपरीक्षा—अमितगत्याचार्य।

(६) त्रिवर्णाचार—सोमसेन भट्टारक संग्रहीत।

(७) चारित्रसार—मंत्रिवर चामुंडराय।

(८) अमितगति श्रावकाचार—अमितगत्याचार्य।

(९) सागारधर्मामृत—पं० आशाधरजी।

(१०) गुरुपदेश श्रावकाचार—पं० डालूरामजी।

(११) प्रश्नोत्तरश्रावकाचार—मूलकर्त्ता भट्टारक सकलकीर्ति। भाषाटीकाकार पं० बुलाकीदासजी।

(१२) पीयूषवर्ष श्रावकाचार—ब्रह्मनेमिदत्त।

(१३) पार्श्वनाथपुराण—पं० भूधरदासजी।

(१४) तत्वार्थबोध भाषापद्यानुवाद—पं० बुधजनजी।

(१५) क्रियाकोष—पं० दौलतरामजी।

(१६) क्रियाकोष—पं० किशनसिंहजी।

(१७) ज्ञानानन्द श्रावकाचार—ब्र० रायमल्लजी।

(१८) अष्टपाहुड़— (सूत्रपाहुड-भावपाहुड) मूलकर्त्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य। भाषाटीकाकार पं० जयचन्दजी।

(१९) यशस्तिलकचम्पू–श्रीसोमदेवसूरि।

(२०) सुभाषितरत्नसन्दोह–श्रीअमितगत्याचार्य।

(२१) समाधितंत्र टीका—पं० पर्वतधर्मार्थी

(२२) सुदृष्टितरंगिणी—पं० टेकचन्दजी।

(२३) धर्मसार—मू० भट्टारक सकलकीर्ति। भाषाटीकाकार पं० शिरोमणिजी।

(२४) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—श्रीअमृतचन्द्राचार्य। भाषाटीकाकार पं० टोडरमलजी।

(२५) आदिपुराण—श्रीजिनसेनाचार्य। भाषाटीकाकार पं० दौलतरामजी॥

(२६) भद्रबाहुसंहिता—भट्टारक भद्रबाहु।

(२७) धर्मसंग्रहश्रावकाचार—पं० मेधावी।

(२८) तत्वार्थसूत्र— (सर्वार्थसिद्धिटीका) भाषाटीकार पं० जयचन्दजी।

(२९) श्रीमूलाचार—श्रीवट्टकेर। भाषाटीकाकार पं० पारसदासजी।

(३०) सारचतुर्विंशतिका—भट्टारक सकलकीर्ति। भाषाटीकाकार पं० पारसदासजी॥

यहां कोई शंका करेगा कि जब जैन धर्ममें भट्टारकोंका कोई पदस्थ ही नहीं, किन्तु यह भेष कल्पित और शिथिलाचाररूप है और बहुधा सभी जैन इनके वाक्योंको संदेहकी दृष्टिसे देखते तथा भविष्यमें देखेंगे तो फिर उनके रचित या संग्रहीत ग्रन्थोंका आधार इस ग्रन्थमें लेनेकी क्या आवश्यकता थी ?। उसका समाधान यह है कि जिन बातोंका उल्लेख वीतरागता, विज्ञानताके मार्गपर चलने वाले दिगम्बर जैनाचार्योंने किया है, उन्हींकी पुष्टि इन भट्टारकोंने भी अपने ग्रन्थोंमें की है, इससे सिद्ध हुआ कि दिगम्बर-पूर्वाचार्योंके वाक्य संशयरहित, सर्वमान्य हैं। बस यही विशेषता बतानेके लिये भट्टारकीय ग्रन्थोंके आधार भी इस ग्रन्थमें संग्रह किये गये हैं।

यद्यपि इस ग्रन्थके संग्रह करनेमें बहुत सावधानी रखी गई है तथापि बुद्धिकी मन्दता एवं प्रमादवश कोई त्रुटि रह गई हो या हीनाधिक होगया हो, तो उदारबुद्धि विद्वज्जन क्षमा करनेकी कृपा करें और जो त्रुटियां ज्ञात हों, वे कारण सहित सूचित करें, जिससे भविष्यमें यह ग्रन्थ सर्वथा निर्दोष हो जाय।

इन्दौर
ज्येष्ठ शुक्ला ५
विक्रम सं० १९७०
वीर निर्वाण सं० २४३६.

विनीत,
दरयावसिंह सोधिया

विषय-सूची

विषय ... पृष्ठ

श्रावक-धर्म-संग्रह

मंगलाचरण

॥ दोहा ॥

शिवसुखदा शिवसुखमई, मंगल परम प्रधान ।
वीतराग-विज्ञानता, नमो ताहि हित मान ॥ १ ॥
वृषकरो युग आदि में, ऋषिपति श्री ऋषभेश ।
वृषभचिह्न चरणन लसै, वंदू आदि जिनेश ॥ २ ॥
सन्मतिपद सन्मति करन, सन्मति-सुख-दातार ।
सुखवांछक सब जगत जन, तातैं सन्मति धार ॥ ३ ॥
मुक्तिमार्गसाधक द्विपद, विकल सकल हितकार ।
तामें श्रावक पद प्रथम, वरणों प्रतिमासार ॥ ४ ॥
प्रतिमा चढ़ि यति पद धरै, साधै आत्मस्वरूप ।
सिद्ध स्वात्मरसरसिक ह्वै, सद्गुणनिधि सुखभूप ॥ ५ ॥

मैं ग्रथके आदिमें मंगल निमित्त वीतरागता-विज्ञानता-रूप परम शक्तिको हृदयमें धारण करनेकी इच्छा करके इसे नमस्कार करता हूँ, तथा इस शक्तिके धारक अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधुसमूहको नमस्कार करता हूं,

जिनके चरणप्रसादसे गृहस्थधर्मको दर्पणवत् स्पष्ट दर्शानेवाला यह "श्रावकधर्मसंग्रह" नामक ग्रंथ निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त हो।

धर्म की आवश्यकता।

इस अनंतानंत आकाशके बीचों बीच अनादि-निधन ३४३ राजू प्रमाण घनाकार लोक स्थित है। उसमें भरे हुए अक्षयानन्त जीव अनादिकालसे ही देखने-जानने मात्र अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शन गुणको भूलकर, शरीर सम्बन्धके कारण केवल इन्द्रिय-जनित सुखोंको प्राप्त करनेके लिये आकुल-व्याकुल होते हुए नाना प्रकारकी अशुभ प्रवृत्तियां कर रहे हैं जिससे वे उनके फलस्वरूप नाना प्रकारके दुःखोंको प्राप्त होते हैं। इनको अपने आत्मीक-पारमार्थिक शान्ति-सुखकी खबरभी नहीं है। अज्ञानतावश, दुःखोंकी मन्दता अथवा किसी एक दुःखकी किंचित्काल उपशांतिको ही ये भोले जीव सुख माना करते हैं और इसी निमित्त इन्द्रियजनित विषयोंके जुटानेका सदा प्रयत्न करते रहते हैं। इन दुःखोंके मूल कारण जो उनके पूर्वकृत दुष्कर्म है उनको तो पहिचानते नहीं, केवल बाह्य निमित्त कारणोंको दुःखदायक जान. संकल्प विकल्प करते हुए उनके दूर करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार झूठे उपायोंसे जब दुःख दूर न होकर उल्टा बढ़ता है तब निरुपाय होकर कहने लगते हैं—"हमारे भाग्य में ऐसा ही लिखा था" भगवानको ऐसाही करना था अथवा अमुक देवी देवताका हम पर कोप है" इत्यादि। इस तरह और भी अनेक बिना सिरपैर की कल्पनायें करते हैं और लाचार होकर सहायताकी इच्छा से लोकरूढ़िके अनुसार अनेक बिषयी-कषायी देवों की पूजा मानता करते, भेषी संसारासक्त कुगुरुओंकी सेवा करते और संसारवर्द्धक (जन्ममरण की पद्धति बढ़ानेवाले) उपदेश युक्त शास्त्रोंकी आज्ञाओंका पालन कर हिंसादि पाप करनेमें ज़रा

भी नहीं डरते हैं। तिस पर भी चाहते क्या हैं? यह कि तृष्णा रूपी दाहज्वरको बढ़ानेवाली और आकुल-व्याकुल करनेवाली इन्द्रियजनित सांसारिक सुख-सम्पदा प्राप्त हो। इस प्रकार उपर्युक्त विपरीत कर्तव्योंका परिणाम यह होता है कि ये जीव उल्टे सांसारिक चौरासी लक्ष योनियोंमें जन्म मरण करनेके चक्करमें पड़कर सदा दुखी रहते हैं।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इन्द्रिय-जनित विषय-सुख, सच्चे सुख नहीं किन्तु सुखाभास हैं। क्योंकि ये अस्थिर, अन्त में विरस, पराधीन, वर्तमानमें दुःखमय और भविष्यत्‌में दुःखोंके उत्पादक हैं। अतएव सच्चे सुखके वांछक पुरुषोंको चिरस्थायी आत्मीक स्वाधीन सुखकी खोज करना चाहिये और उसके स्वरूपको समझकर उसीकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिये।

वास्तवमें देखा जाय तो आकुलता-व्याकुलता रहित आत्मा का शान्तिभावही सच्चा सुख है, जिस शान्तिभावकी प्राप्ति के लिये बड़े-बड़े योगी-यति संसारके झगड़ोंसे जुदा होकर और कामिनी-कांचनको छोड़कर वनवास करते हैं। वही शान्ति भाव आत्मा का स्वाधीन सुख है, जिसे आत्माका धर्म कहते हैं। उस आत्मधर्मके मर्मको जाने बिना "कांखमें लड़का गांवमें टेर" की कहावतके अनुसार यहां वहां धर्मकी ढूंढ-खोज करना अथवा आत्म-धर्म के साधक निमित्त मात्र कारणों को ही धर्म मान बैठना और उसके लिये कपोल-कल्पित नाना-प्रकारकी असत् क्रियायें करना व्यर्थ है; क्योंकि मूल बिना शाखा कहां? इसका खुलासा यह है कि आत्माका स्वभाव (धर्म) रागद्वेष रहित चेतना मात्र है जिसको देखना-जानना भी कहते हैं। इसके विशेष भेद उत्तम क्षमा; मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये

दश धर्म हैं अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र (रत्न-त्रय धर्म) या जीवदया (अहिंसाधर्म) हैं। यह आत्मधर्म अनादि कर्म सम्बन्धके कारण विपरीत हो रहा है, इसलिये कर्मजनित विभावों और आत्मीक स्वभावोंके यथार्थ स्वरूप जाने बिना ये जीव संसाररोग की उल्टी औषधि करते और सुखके बदले दुःख पाते हैं।

यदि एक बार भी जीवको अपने स्वाभाविक स्वरूप शुद्ध ज्ञान-दर्शनकी तथा अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मजनित इन नाना प्रकारके स्वांगों की परख हो जाती, तो जन्म मरणके दारुण दुःख इसे कदापि न भोगने पड़ते और यह सदाके लिए इनसे छुटकारा पा जाता। परन्तु करे क्या? संसारमें अनेक मार्ग ऐसे बन रहे हैं जो धर्मके नामसे जीवोंकी आंखोंमें धूल डाल उल्टे विषय कषायों के गड्ढे में पटक उन्हें अन्धे और अपाहिज (पुरुषार्थ हीन) कर देते हैं जिससे उनका फिर सुमार्गके निकट आना कठिन हो जाता है। भावार्थ—जिन पंचेन्द्रिय जनित विषय-सुखों में जीव अज्ञानता वश भूल रहे हैं उन्हींका वे बार बार उपदेश देकर मोहनिद्रामें अचेत कर देते हैं जिससे उनको यह बोध नहीं होने पाता कि हम कौन हैं? कहांसे आये हैं और कहां जाना पड़ेगा? वर्तमानमें जो यह सुख दुःखकी सामग्री हमें प्राप्त हो रही है इसका कारण क्या है? आत्मा तथा शरीर अलग अलग पदार्थ हैं या एक ही हैं? आत्माका स्वभाव क्या है? और कर्मजनित रागद्वेषरूप विकार भाव क्या हैं? तथा हमारा सच्चा सुख क्या और कैसे प्राप्त हो सकता है? इत्यादि इत्यादि।

इस प्रकार संसारी जीवोंकी अचेत एवं दुःखमय दशा देख कर परमोपकारी परमपूज्य तीर्थंकर भगवान्‌ने असार संसार से विरक्त हो शुभाशुभ कर्मोंको जीत ('कर्मारातीन् जयतीति

जिन:' अर्थात् जो कर्मशत्रुओंको जीत शुद्धात्मस्वरूपको प्राप्त हो सो जिन है) अपनी पूर्वकृत दर्शनविशुद्धि (सम्यग्दृष्टिकी सब जीवोंको मोक्ष मार्गमें लगानेकी उत्कट वांछा) भावना के द्वारा बांधे हुए तीर्थंकर प्रकृति नामकर्मके उदयवश श्री अर्हत्स्वरूपको प्राप्त होकर संसारी जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश दिया जिसमें मोक्ष और मोक्षके कारणों तथा संसार और संसारके कारणोंका स्वरूप भलीभांति दरसाया। मोक्ष प्राप्ति के लिये आत्माके स्वभाव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानको भलीभांति सिद्ध करनेके पीछे कर्म-जनित विभावोंको छोड़ स्वभावमें प्राप्त होनेके लिये सम्यकचारित्र धारण करनेका उपाय बताया तथा इस अनादि रोगको एकदम दूर करनेकी शक्ति सर्व-साधारण जीवोंमें नहीं है, इसलिये जैसे बड़े भारी व्यसनी का एकदम व्यसन छूटना अशक्य जान क्रम क्रमसे छोड़नेकी परिपाटी बताई जाती है उसी प्रकार उन जिनेश्वरदेवने निज दिव्यध्वनि द्वारा विषय-कषायग्रसित [दुर्व्यसनी] संसारी जीवोंको इस संसार रोगसे छूटने-के लिये श्रावक और मुनि-धर्म-रूप दो श्रेणियोंका उपदेश दिया।

१ श्रावकधर्म—जिसमें गृहस्थ अवस्थामें रहकर कषायों के मन्द करने और इन्द्रियोंके विषय जीतनेको अणुव्रतादि साधन बताये गये हैं।

२ मुनिधर्म—जिसमें गृहस्थपना त्याग, सर्वथा आरम्भ-परिग्रह तथा विषय-कषाय रहित हो, निज शुद्धात्मस्वरूपकी सिद्धिके अर्थ महाव्रत, तप, ध्यानादि साधन बताये गये हैं, जिससे आत्मा अपने स्वाभाविक वीतराग-विज्ञानभाव (शुद्ध चैतन्यभाव) को प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाय।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आत्माका स्वाभा-

बिक धर्म है। यह कर्मजनित उपाधिके कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप विपरीत या उल्टा हो रहा है। इस लिये आगे इस ग्रन्थमें क्रमशः इन तीनों या स्वरूप वर्णन किया जायगा।

सम्यग्दर्शन प्रकरण।

दोहा।

आतम अनुभव नियत[1] नय, व्यवहारे तत्त्वार्थ।
देव-धर्म-गुरु-मान्यता, सम्यग्दर्शन सार्थ॥ १॥

सबसे प्रथम आत्मा के स्वभाव (धर्म) का सम्यक्श्रद्धान होना आवश्यक है। क्योंकि इस सम्यग्दर्शन[2] को सत्पुरुषों ने ज्ञान तथा चारित्र का मूल माना है। सम्यक्त्व यम (महाव्रत) प्रशम (विशुद्ध भाव) का जीवन है और तप, स्वाध्यायका आश्रय है। इसके बिना ज्ञान तथा चारित्र मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित रहते हैं। इसी कारण प्रथम ही सम्यक्त्व होनेके उपायका संक्षिप्त रूपसे वर्णन किया जाता है:–

लोकस्वरूप।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन छहों द्रव्योंका समूह लोक कहलाता है। यह लोक (सृष्टि) अनादि काल (सदा) से है और अनन्तकाल तक बना रहेगा अर्थात् इन द्रव्योंको किसीने बनाया नहीं और न कभी ये नाश होंगे। क्योंकि द्रव्य उसे कहते हैं जो अपने गुणों कर सदा ध्रौव्य और पर्यायों करके उत्पाद-व्यय रूप रहता है। सूत्रकारने भी कहा है—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इसी कारण इन द्रव्योंका समूहरूप लोक अनादि-निधन है।

---

१ निश्चय, २ सम्यग्दर्शनको सम्यक्त्व या श्रद्धान भी कहते है।

ये छहों द्रव्य यद्यपि अपने अपने गुणोंसे युक्त सदा सत् रूप (मौजूद) रहते हैं। तथापि पर्याय परिणमानेकी शक्तिरूप उपादान कारण तथा पर्याय परणमनेरूप निमित्त कारण होनेसे इनकी पर्याय पलटती रहती है। इनमें से जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें सूक्ष्म[1] और स्थूल[1] दोनों प्रकारकी पर्यायें होती हैं और शेष[2] धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन चार द्रव्यों में केवल सूक्ष्म पर्याय ही होती है।

वहां जीवों की तो अनादिसम्बन्धरूप पौद्गलिक कर्मसंतति संयोगके निमित्तसे और पुद्गलकी जीव अथवा पुद्गलके निमित्तसे पर्यायें पलटती हैं। इस प्रकार जीवके परसंयोगजनित और पुद्गलके स्वपरजनित स्थूल विकार (परिणमन) स्थूलबुद्धि जीवोंको रातदिन दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु इन पल्टनोंके कारण सूक्ष्म अर्थात् विशेषज्ञानके विषय होनेसे अल्पज्ञोंको ज्ञात नहीं होते और चमत्कार सा भासता है। भावार्थ-पुद्गलों में स्वाभाविक रीतिसे और जीवोंमें उनके शुभाशुभ परिणाम

---

१ स्थूल पर्याय—जैसे जीवका मनुष्यसे पशुपर्यायरूप आकार हो जाना, पुद्गलका घटसे कपालपर्यायरूप आकार हो जाना। सूक्ष्म-पर्याय-जीवमें ज्ञानादि गुणोंके, पुद्गलमें स्पर्शादि गुणोंके, धर्म द्रव्य में गतिसहकारित्व गुणके, अधर्मद्रव्यमें-स्थिति सहकारित्व गुणके, कालद्रव्यमें वर्तना-गुणके और आकाशमें अवकाशदानगुणके अवि-भागप्रतिच्छेदोंमें अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धिरूप षट्स्थान, पतितवृद्धि वा हानिरूप परिणमन होना। इसका विशेष खुलासा श्रीगोम्म-टसारजी से जानना।

२ धर्म, अधर्म का अभिप्राय यहां पुण्य पाप न समझना किन्तु ये द्रव्य हैं। इनका वर्णन आगे विस्तरापूर्वक किया जायगा।

द्वारा बन्ध किये हुए सूक्ष्म कर्मपरमाणुओंके उदयवश जो परिणमन होते हैं उन सबके कारण सूक्ष्म और अदृष्ट होनेसे लोक-रूढ़िके अनुसार ईश्वरको ही हर कोई इनका कर्त्ता ठहराता है यहां तक कि लोग जीवोंके सुख दुःखका कर्त्ता "इस हाथ दे उस हाथ ले" की कहावत प्रसिद्ध होते हुए भी ईश्वर ही को मानते हैं। यही कारण है कि जीव आप तो अनेक प्रकारके पाप करते हैं और उनके फलस्वरूप दुःखों से बचनेके लिये उन दुष्कर्मोंको न छोड़कर अज्ञानतावश देव-देवियों या ईश्वरको कर्त्ता समझ उनकी नाना प्रकार से पूजा-मानता करते हैं जिससे और भी अधिक पापकर्मोंसे लिप्त होकर दुःखोंके स्थान बनते हैं।

संसारी जीव यद्यपि लोकरूढ़िके अनुसार सद्गुरुके उपदेशके अभावसे ईश्वरको सृष्टिका या सुख-दुःखका कर्त्ता तो मान लेते हैं, परन्तु यह नहीं विचारते कि ईश्वरका कर्त्तापना सम्भव है या असम्भव ? सदोष है या निदोष ?

यदि इस विषयमें सद्गुरुके उपदेशपूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात हो जाय कि सृष्टिका तथा प्रत्येक जीव के सुख-दुःख का कर्त्ता ईश्वरको मानना भ्रमपूर्ण है। हां, इतना अवश्य है कि ईश्वरने मोक्ष होनेके पहले जीवन्मुक्त (सशरीर-परमात्म) अवस्थामें करुणाबुद्धिके उदयवश जीवोंके उद्धारार्थ सुख-दुःख, संसार-मोक्षका स्वरूप तथा मोक्षका मार्ग निरूपण कर दिया है और उपदेश दिया है कि जीव ही संसार का कर्त्ता और जीव ही मुक्तिका कर्त्ता है; विष-अमृत दोनोंके लड्डू इसके हाथ में हैं चाहे जिसको ग्रहण करे। भावार्थ-जीवको सुख-दुःखकी प्राप्ति होना उसीके किये हुये सत्कर्म एवं कुकर्मके आधीन है। जीव ही संसार (अपने जन्म-मरण) का कर्त्ता ब्रह्मा, पोषक विष्णु, और नाशक महेश है। खुदा या

ईश्वर आदि किसीको संसारका उत्पादक, पोषक और नाशक मानना युक्ति-विरुद्ध है, तथा ऐसा माननेसे कई दोष भी उत्पन्न होते हैं। यहां पर उसीका संक्षिप्त-रूपसे वर्णन किया जाता है:—

सृष्टिका अनादिनिधनत्व।

यदि ऐसा माना जाय कि बिना कर्त्ताके कोई कार्य होता नहीं दिखता, इसी हेतुसे सृष्टिको ईश्वर या खुदा आदि किसी ने बनाया है। तो यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि सृष्टि बनने के पूर्व कुछ था या नहीं? इसका उत्तर यही होगा कि ईश्वरके सिवाय और कुछ भी नहीं था; क्योंकि जो ईश्वरके सिवाय पृथ्वी जल आदि होना माना जाय तो फिर ईश्वरने बनाया ही क्या? अतएव अकेला ईश्वर ही था। यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब बिना कर्त्ता के कोई भी कार्य न होनेका नियम है तो ईश्वर भी तो एक कार्य (वस्तु) है, इसका कर्त्ता होना भी जरूरी है। यहाँ कोई कहे कि ईश्वर अनादि है इसलिए उसका कर्त्ता कोई नहीं। भला जब अनादि ईश्वरके लिये कर्त्ताकी आवश्यकता नहीं तो उपर्युक्त षट् द्रव्य युक्त अनादि सृष्टि का कर्त्ता मानने की भी क्या जरूरत है? और यदि ऐसा माना भी जावे कि पहले ईश्वर अकेला था और पीछे उसने सृष्टि रची तो सृष्टि रचनेके लिए उपादान सामग्री क्या थी और वह कहां से आई? अथवा जो ऐसा ही मान लिया जाय कि ईश्वर तथा सृष्टि बनने की उपादान सामग्री दोनों अनादिसे थीं, तो प्रश्न होता है कि निरीह (इच्छारहित, कृतकृत्य) ईश्वरको सृष्टि रचने की आवश्यकता क्यों हुई? क्योंकि बिना प्रयोजन के कोई भी जीव कोई भी कार्य नहीं करता। यहां कोई कहे कि ईश्वर ने अपनी प्रसन्नता के लिए सृष्टि रचने का कौतूहल किया, तो ज्ञात होता है कि सृष्टिके बिना अकेले ईश्वरको बुरा (दुःख)

लगता होगा ? इसीलिए जब तक उसने सृष्टिकी रचना नहीं कर पाई तब तक वह दुखी रहा होगा। सो ईश्वरको दुखी और अकृतकृत्य मानना सर्वथा ईश्वरकी निन्दा करना है। फिर भी जो कोई कुछ भी कार्य करता है वह इष्ट रूप सुहावना ही करता है, सो सृष्टि में सुखी तो बहुत थोड़े और दुखो बहुत जीव दिखाई देते हैं, इसी प्रकार सुहावनी वस्तुएं तो थोड़ी और कुरूप, भयावनी, घिनावनी बहुत देखने में आती हैं जो कर्त्ताकी अज्ञानता की सूचक हैं। इस प्रकार ईश्वरको सृष्टि कर्त्ता माननेमें और भी अनेक दोष आते हैं। फिर सभी कर्त्तावादी बहुधा ईश्वरको न्यायी और दयालु कहते हैं। सो जब ईश्वर ऐसा है तो क्या कारण है कि उसने सब जीवोंको एकसा रूप, सुख, दुखादि, न दिया, किसीको मनुष्य, किसीका कीड़ा, किसीको कुरूप किसीको सुरूप, किसीको धनवान, किसीको निर्धन आदि अलग २ प्रकारका बनाया ? उसको किसीसे राग द्वेष तो था ही नहीं। यहां कोई कहे कि ईश्वर सब जीवोंको उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल देता है। भला जब ऐसा है कि फल की प्राप्तिके कर्त्ता जीव ही हैं तो ईश्वरको सृष्टिका या जीवों के सुख-दुःखका कर्त्ता मानना निमूल ठहरा। अथवा यदि यह कहो कि जैसे जज न्याय करके जीवोंको उनके अपराधके अनुसार दण्ड देता है, उसी प्रकार ईश्वर भो जीवोंके पूर्व शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उन्हें सुख-दुख देता है, बिना दिये सुख-दुख कैसे मिल सकता है ? इसका समाधान यह है कि यदि ईश्वर अल्पज्ञ और निर्बल होता तो उसे दण्ड देकर दूसरोंको यह बात दिखलानेकी आवश्यकता पड़ती कि जो अमुक अपराध करेगा उसको अमुक दण्ड दिया जायगा। परन्तु उसे तो बहुधा सभी मतावलम्बी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और परम दयालु मानते हैं। यदि ऐसे ईश्वरको सुख-दुख देनेके झगड़ेमें पड़ना

पड़ता या पाप मेटने और पुण्य प्रचार करनेका विकल्प करना पड़ता, तो वह सर्वज्ञ और शक्तिमान ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से ही सब जीवोंको अपराध करनेसे रोक सकता था। परन्तु ऐसा न करके वह सांसारिक न्यायाधीशोंकी पदवीको धारण करना चाहता है और वह जानते हुए, दयालु होते हुए शक्ति रखते हुए भी जीवोंसे अपराध कराता और फिर उन्हें दण्ड देता है सो इससे तो उसके उत्तम गुणोंमें दोष लगता है, अतएव ईश्वरको फलदाता कहना व्यर्थ है। सब जीव जैसे परिणाम करते हैं वैसे ही सूक्ष्म कार्माण वर्गणा उनकी आत्मासे एक क्षेत्रावगाह रूप बन्धको प्राप्त होकर उदय अवस्थामें जीवोंको सुख-दुखका कारण होती है यथा—

"कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करै सो तस फल चाखा॥"

यहां कोई संदेह करे कि जैनमत ईश्वरको सृष्टिका कर्त्ता न माननेसे नास्तिक ठहरता है, तो इसका समाधान इतना ही बस होगाकि ईश्वरको सृष्टिका कर्त्ता माननेसे आस्तिक और न माननेसे नास्तिककी सिद्धि नहीं है। किन्तु आत्मा परमात्माका अस्तित्व मानने वाले आस्तिक और अस्तित्व न मानने वाले नास्तिक कहलाते हैं, सो जैनमत आत्माको अनादि, स्वयंसिद्ध, तथा परमात्माको सर्वज्ञ, वीतराग, परमशांतरूप पूर्णसुखी मानता है, इसलिए जैनमतको नास्तिक कहना अति भ्रमयुक्त है।

इत्यादि बातों पर (जिनका उल्लेख श्री मोक्ष मार्ग प्रकाशक ग्रन्थमें विस्तारपूर्वक और अति-सरलतासे किया गया है) जब प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण द्वारा सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो यही सिद्ध होता है कि ईश्वर (परमात्मा, खुदा या गॉड) तो कृत-कृत्य और निष्कर्म अवस्था को प्राप्त होकर

आत्मानन्दमें मग्न रहते हैं। उनको सृष्टिके करने, धरने, बिगाड़नेसे क्या प्रयोजन ? लोकमें जो जीव-पुद्गलका परिणमन हो रहा है वह उन द्रव्योंके शक्तिरूप उपादान तथा अन्य बाह्य निमित्त कारणोंसे ही होता है।

अब यहां पर सृष्टि सम्बन्धी द्रव्यों का संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है :--

---

षड्द्रव्य स्वरूप वर्णन।

इस लोक में चैतन्य और जड़ दो प्रकारके पदार्थ हैं। इन में चैतन्य एक जीव-द्रव्य ही है, शेष पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल ये पांचों द्रव्य जड़ हैं। इनमें जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म काल ये ५ द्रव्य अनन्त-आकाशके मध्य ३४३ घन *राजू-मात्र क्षेत्र में भरे हुए हैं। भावार्थ--यह लोक आकाश सहित षट द्रव्यमय है अर्थात् जितने आकाश में जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य,

---

* राजू का प्रमाण-इस मध्य लोक में (जिसे लोग पृथ्वी कहते हैं) पच्चीस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्य के जितने समय होते हैं उतने द्वीप समुद्र एक दूसरेको वलया कार घेरे हुए है। सबके बीचमें जम्बूद्वीप १ लाख योजन व्यास लिये गोलाकार है। इसको घेरे हुये लवण समुद्र २ लाख योजन चौड़ा है इस प्रकार दूनी २ चौड़ाई लिए सब द्वीप समुद्र हैं जितना लंबा क्षेत्र सब द्वीप समुद्रो का दोनों तरफका हो वही राजू का प्रमाण है; क्योंकि मध्यलोक १राजू (पूर्व-पश्चिम) है। इसीको दूसरी तरहसे ऐसा भी कह सकते हैं कि कोई देव पहिले समय १ लाख योजन दूसरे-समय २ लाख योजन गमन करे इस प्रकार प्रति समय दुगुना २ गमन करता हुआ अढाई सागर अर्थात् २५ कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्यके जितने समय हैं उतने समय तक बराबर चला जाय तब आधा राजू हो, इसे दूना करनेसे जो क्षेत्र हो वही १ राजू प्रमाण है॥

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य (और छठा आकाश द्रव्य आधाररूप है ही) हैं वह लोकाकाश कहाता है, शेष लोकसे परे अनन्त अलोकाकाश है। यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि आकाशके ठीक बीचोंबीच लोक है यह कैसे निश्चय हो ? इसका समाधान यह है कि जब लोकसे परे सब तरफ अनन्त आकाश है अर्थात् सब तरफ अनन्तकी गणना लिये एक बराबर आकाश है तो सिद्ध हुआ कि आकाशके अति मध्यभागमें ही लोक है।

इन छहों द्रव्योंमें जीव द्रव्य की संख्या (गणना) अक्षयानन्त है। पुद्गलद्रव्यकी परमाणु संख्या जीवोंसे अनंतानंतगुणी है। धर्म-द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य एक एक ही हैं। कालके कालाणु असंख्यात हैं। यह तो इनकी संख्या कही, अब इनका संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है :—

जीवद्रव्य वर्णन

प्रत्येक जीव चैतन्य अर्थात् ज्ञान-दर्शन लक्षणयुक्त असंख्यात प्रदेशी है। यद्यपि इसका स्वभाव शुद्ध चैतन्य (देखने जानने) मात्र है, तथापि अनादि पुद्गल (द्रव्यकर्म) संयोगसे रागद्वेषरूप परिणमन करता हुआ विभावरूप होरहा है। जिससे इसमें स्वभाव विभावरूप ९ प्रकार परणतियां पाई जाती हैं :—

इन नवों प्रकारों का वर्णन इस प्रकार है :—

(१) जीवत्व—जीवमें अपने तथा परपदार्थोंके जानने की शक्ति है। इसलिए यथार्थमें (निश्चयनय से) इसके एक "चेतना" प्राण है। परन्तु व्यवहार नयसे (सांसारिक अशुद्ध अवस्था में) इंद्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास ४ प्राण हैं। इन चार प्राणोंके विशेष भेद १० होते हैं। यथाः—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये ५ इन्द्रिय प्राण। मन बल, वचन बल, काय

बल वे तीन बल प्राण। १ आयु और १ श्वासोछ्वास। इन प्राणों करके यह जीव अनादि कालसे जीता है।

(२) उपयोगत्व—निश्चयनयसे जीव चैतन्यमात्र है जिसके व्यवहारनयसे ज्ञान-दर्शन दो भेद हैं। तथा विशेष भेद १२ (८ प्रकार ज्ञान और ४ प्रकार दर्शन) हैं। तथा कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, सुमति, सुश्रुत, सुअवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

(३) अमूर्त्तत्व—निश्चयनयसे जीव अमूर्तीक अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित है। परन्तु संसारअवस्थामें कर्म-नोकर्म अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल शरीर सहित होने से मूर्तीक है।

(४) कर्तृत्व—शुद्ध निश्चयुनयसे अपने शुद्धचैतन्य परिणामका, अशुद्ध निश्चयनयसे अशुद्ध चेतन परिणामका अर्थात् रागादि भावोंका और व्यवहारनयसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय चार घाति कर्मोका तथा आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार अघाति कर्मो एवं अष्ट कर्मों का कर्ता है।

(५) भोक्तृत्व— शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध चैतन्य परिणाम का अशुद्ध निश्चयनयसे अशुद्ध चैतन्य परिणाम अर्थात् रागादि भावोंका और व्यवहारनयसे अपने शुभाशुभ परिणामों द्वारा बांधे हुए अष्ट प्रकार ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों के फलका तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द रूप जो इन्द्रियों के विषय हैं उनका और धन, स्त्री आदि का भोक्ता है।

(६) स्वदेहपरिमाणत्व—प्रत्येक जीव शुद्ध निश्चयनय से लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् लोकाकाश के प्रदेश गणनामें जितने हैं, ठीक उतने उतने ही प्रदेश प्रत्येक जीवके

हैं। परन्तु व्यवहारनयसे जैसा छोटा, बड़ा शरीर धारण करता है। इसीके आकार उसके आत्मप्रदेश संकोच विस्तार रूप हो जाते हैं। सिर्फ समुद्घात* अवस्थामें आत्मप्रदेश शरीरके बाहिर भी निकलते हैं और सिद्धअवस्थामें चरम अर्थात् अंतिम शरीरसे किंचित् न्यून आकर प्रमाण आत्म-प्रदेश रह जाते हैं।

(७) संसारत्व—जब तक जीव कर्ममल युक्त रहता है, तब तक संसारी है। संसारी जीवोंके मुख्य दो भेद हैं:—स्थावर और त्रस। स्थावर ५ प्रकार के हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्नि कायिक, वायुकायिक, और वनस्पतिकायिक,। त्रस चार प्रकार के हैं:—दोइन्द्री-लट, शंख आदि, तेइन्द्री-चिऊंटी, खटमल बिच्छू आदि। चौइन्द्री-मक्खी, भौंरा, मच्छर आदि। पंचेन्द्री—पक्षी, पशु, मनुष्य, नारकी, देव आदि। इनके विशेष-भेद ८४ लाख योनि तथा एक सौ साढ़े निन्यानवै लाख कोड़ि कुल हैं।

(८) सिद्धत्व—यदि सामान्य रीतिसे देखा जाय तो अष्ट कर्मोंके नाश होनेसे जीवके एक आत्मीक, निराकुलित, स्वाधीन सुखकी प्राप्ति होती है उस समय शुद्ध चैतन्य गुणयुक्त आत्मा अंतिम शरीरसे किंचित् न्यून आकारसे लोक शिखर के अन्त (लोकाग्र) में जा तिष्ठता है और अनंत काल तक इसी सुख अवस्थामें रहता है। एसी सिद्धि हो जाने पर जीव सिद्ध कहाता है। यदि विशेषरूपसे कहा जाय तो अष्ट कर्मोंके अभावसे उन अष्टगुणोंकी प्राप्ति होती है जो अनादि काल

---

*समुद्घात—जिन कारणोंसे आत्म प्रदेश शरीरसे बाहर भी निकलें, वे ७ हैं। यथा—कषाय, वेदना, मारणांतिक, आहारक, वैक्रियक, तैजस और केवल ॥

से कर्मोंसे आच्छादित होरहे थे। यथा—ज्ञानावरणके अभाव से अनंतज्ञान, दर्शनावरणके अभाव से अनंत दर्शन, मोहनीय के अभावसे क्षायिक सम्यक्त्व, अंतरायके अभावसे अनंत वीर्य (शक्ति), आयु कर्मके अभावसे अवगाहनत्व, नामकर्म के अभावसे सूक्ष्मत्व, गोत्र कर्मके अभावसे अगुरुलघुत्व, और वेदनीयके अभावसे अव्याबाधत्व गुण उत्पन्न होता है।

(९) ऊर्ध्वगतित्व—जीव जब कर्मबंधसे सर्वथा रहित हो जाता है तब ऊर्ध्वगमन कर एक ही समयमें सीधा लोकाग्र (मोक्षस्थान) में जा पहुंचता है। जब तक कर्म सहित रहता है तब तक मरने पर (स्थूल शरीर छोड़ने पर) दूसरा शरीर धारण करने के लिए आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान चारों विदिशाओं के सिवाय पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर चारों दिशाओंमें तथा ऊर्ध्व-अधो (ऊपर-नीचे) श्रेणीबद्ध (सीधा) गमन करता और पहिले, दूसरे, तीसरे या चौथे समयमें जन्म (नया स्थूल शरीर) धारण कर लेता है, अन्तरालमें तीन समयसे अधिक नहीं रहता।

'सारांश' उपर्युक्त नवों प्रकारोंका यह है कि आत्माका स्वाभाविक आकार सिद्ध समान और गुण शुद्धचैतन्य केवल-ज्ञान है। जबतक यह स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त नहीं होता तबतक वह अनादि कर्म संयोगसे अनेक शरीर रूप और मति, श्रुतादि, विकल ज्ञान रूप रहता है।

पुद्गलद्रव्य वर्णन।

यह पुद्गल द्रव्य जड़ (अचैतन्य) है। स्पर्श* रस, गंध,

---

*स्पर्श ८ प्रकार—शीत-उष्ण, रूक्ष-चिकण, हलका-भारी, नरम-कठोर। रस ५ प्रकार—खट्टा, मीठा, चिरपिरा, कडुवा, कषायला।

वर्ण, गुणों वाला है तथा इसमें शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, द्विकोण, त्रिकोण गोल आदि संस्थान (आकार, खंड, अंधकार, छाया, प्रकाश, आतप आदि पर्यायें होती रहती हैं। पुद्गलकी स्वभावपर्याय, परमाणु और स्वभावगुण, दो अविरुद्ध स्पर्श, एक रस, एक गंध, एक वर्ण ये ५ हैं जो परमाणुमें होते हैं। विभावपर्याय स्कंध और विभावगुण स्पर्श से स्पर्शान्तर, रस से रसान्तर आदि २० हैं।

पुद्गलके अणुसे लेकर महास्कंध वर्गणा तक कार्माण वर्गणा, तैजस वर्गणा, आहारक वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनो वर्गणा आदि २३ भेद हैं। हर प्रकारकी वर्गणाओंसे जुदे २ प्रकारके कार्य होते हैं। जैसे कार्माण वर्गणासे ज्ञानावरणादि कर्म, आहारक वर्गणा से औदारिक-वैक्रियक-आहारक शरीर, भाषा वर्गणासे भाषा, मनो वर्गणासे मन और महास्कंध वर्गणासे यह अविनाशी, अनादि-अनंत लोक बना हुआ है।

पुद्गल परमाणुओं की संख्या जो जीवोंसे अनंतानंतगुणी है वह इस प्रकार है कि कितने ही पुद्गल तो खुले हुए परमाणु रूप और कितने ही संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणुओं से मिलकर स्कंधरूप लोकमें भरे हुए हैं। सिवाय इसके प्रत्येक जीवके साथ अनन्त अनन्त पुद्गल नोकर्म शरीर (स्थूल शरीर) तथा कर्म शरीर (सूक्ष्म शरीर) की दशामें बधे हुए हैं। इस तरह जीवों की अक्षयानन्त संख्यासे पुद्गल परमाणुओं की संख्या अनन्तानन्त गुणी है।

धर्म द्रव्य वर्णन।

यह धर्मद्रव्य पुद्गल और जीवोंको गमन करनेमें उदासीन

गंध २ प्रकार—सुगंध, दुर्गन्ध। वर्ण ५ प्रकार—श्वेत, पीला, हरित, लाल, काला।

रूपसे गति सहकारी है अर्थात् चलते हुए जीव-पुद्गलोंको चलन-सहाई है, किन्तु जो स्थिर हों उन्हें धर्म द्रव्य हठात् (जबर्दस्ती) नहीं चलाता। जैसे पानी मछलियोंके चलनेमें सहायक होता है किन्तु प्रेरक नहीं होता। यह द्रव्य असंख्यात प्रदेशी, जड़, अरूपी और एक है। लोकाकाशके बराबर है, इसमें केवल स्वभाव पर्याय होती है, विभाय पर्याय नहीं होती।

अधर्म द्रव्य वर्णन।

यह अधर्मद्रव्य पुद्गल और जीवोंको स्थित होते (ठहरते) हुए उदासीन रूपसे स्थिति सहाई है अर्थात् जो पदार्थ ठहरे, उसे ठहरनेमें सहायता देता है। किन्तु चलते हुए पदार्थको हठात् नहीं ठहराता। जैसे पथिकको ठहरनेके लिये वृक्षकी छाया स्थिति-सहाई है किन्तु प्रेरक होकर नहीं ठहराती। यह द्रव्य असंख्यात प्रदेशी जड़, अरूपी और एक है। लोकाकाशके बराबर है। इसमें स्वभाव पर्याय होती है, विभाव पर्याय नहीं होती।

काल द्रव्य वर्णन।

यह काल द्रव्य वर्तना-लक्षण युक्त है। प्रत्येक द्रव्यके वर्तने अर्थात् पर्यायसे पर्यायान्तर होनेमें सहकारी उदासीन कारण है। व्यवहारनयसे इसकी पर्याय समय, घटिका (घड़ी) दिन आदि हैं, क्योंकि कालद्रव्यके निमित्तसे ही द्रव्योंमें समय समय सूक्ष्म पर्यायें होती हैं। आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक परमाणुके मन्दगतिसे गमन करनेमें जितना काल लगता है, वही काल द्रव्यकी समय नामक सबसे छोटी पर्याय है। इसीसे आवली, मुहूर्त, दिन, वर्ष, कल्प काल आदिका प्रमाण होता है। यह द्रव्य जड़ अरूपी है इसके अणु (जिन्हें कालाणु कहते हैं) गिनतीमें असंख्यात जुदे २ हैं। यह धर्म,

अधर्मद्रव्यके समान काय रूप एक नहीं है। किन्तु लोकाकाश, धर्म, अधर्म तथा एक जीवद्रव्यके बराबर ही असंख्यात कालाणु इसके अलग २ हैं अर्थात् लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालाणु स्थित है। इसमें स्वभाव पर्याय होती है, विभाव पर्याय नहीं होती।

आकाश द्रव्य वर्णन।

यह आकाश द्रव्य जीव, पुद्गलादि पांचों द्रव्योंको रहने के लिये अवकाश देता है, इसमें अवगाहनत्व गुण है। यह जड़ अरूपी, अनंत प्रदेशी एक द्रव्य है। इसमें स्वभाव पर्याय होती है, विभाव पर्याय नहीं होती। इसके मध्यभागके जिन असंख्यात प्रदेशों (जितने क्षेत्र) में जीव, पुद्गलादि पंच द्रव्य भरे हुए (स्थित) हैं उसे लोकाकाश कहते हैं; शेष अनन्त आलोकाकाश कहाता है।

उपर्युक्त छह द्रव्योंमें ४ द्रव्य उदासीन, स्वभावरूप और स्थिर हैं। केवल जीव-पुद्गल ही में लोकभरमें भ्रमण करने की शक्ति है, इससे इन दोनोंको क्रियावान् कहते हैं शेष ४ द्रव्य निष्क्रिय हैं, पुद्गल जड़ है इसलिए चाहे स्वभावअवस्था में रहो, चाहे विभाव अवस्थामें रहो उसे कुछ सुख दुख नहीं होता, केवल एक जीव द्रव्य ही ऐसा है जिसे स्वभावअवस्था में सुख-शांति और विभावअवस्थामें दुख होता हैं, क्योंकि यह चैतन्य है।

जीवात्मा अनादि कालसे पुद्गल कर्मके संबन्धसे राग-द्वेष रूप परणमता, चतुर्गतिमें भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार दुखी हो रहा है। जब पूर्वबद्ध (पहिलेका बांधा हुआ) कर्म उदय कालमें सुख*दुख रूप फल देता है तब जीव उस फल

* साता वेदनीयके उदय होने पर जीवकी इच्छानुकूल अन्य पदार्थों

के अनुसार पुनः रागी-द्वेषी होकर, अपने मन, वचन, कायको शुभ अथवा अशुभ रूप प्रवर्ताकर नये पुद्गल कर्मोंका बंध करता है। इस प्रकार जीवके प्राचीन कर्म उदयमें आकर खिरते जाते और फिर नये कर्म बंधते जाते हैं, जिससे कर्मबंधकी संतान नहीं टूटती और जीवको दही बिलोनेकी मथानीकी नांई सांसारिक जन्म-मरणके चक्कर खाने पड़ते हैं, छुटकारा नहीं होता। जिस प्रकार मथानीसे लिपटी हुई रस्सीका एक छोर खींचा जाय और दूसरा छोड़ा दिया जाय तो वह चक्कर रहित हो सकती है। यदि उसी तरह जीव अपने पूर्वबद्ध कर्मों के उदय आने पर शान्त भाव धारण करे और रागी-द्वेषी न हो तो प्राचीन कर्म अल्प रस देकर या सत्ता ही में रस रहित होकर बिना रस दिये हुए उदयमें आकर झड़ जांय और नवीन कर्मों का बंध न होवे। ऐसा होनेसे क्रमशः कर्मोंका अभाव होकर जीव निष्कर्म (शुद्ध) अवस्थाको प्राप्त हो सकता है।

जब परीक्षा तथा स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा अनुभव किया जाता है तो निश्चय होता है कि आत्माका असली स्वभाव ज्ञान-दर्शन मात्र है, इसमें राग द्वेषकी लहरें मोह (ममत्व) भाव वश पुद्गलमें अपनापन माननेके कारण उठती हैं, और यहां मोह कर्मबंध का मूल है, जैसे खानिमें अनादि कालसे सुवर्ण, किट्टिका (पाषाण) युक्त अशुद्ध हो रहा है, तैसे ही जीव मोह

का परिणमन सुख कहलाता है, यथार्थमें यह भी सच्चा सुख नहीं, सुखाभास मात्र है, क्योंकि यह स्वाधीन, नित्य, आत्मजनित नहीं है, पराधीन, क्षणभंगुर और पर-जनित है। असाता वेदनीयके उदय होने पर जीवकी इच्छाके प्रतिकूल अन्य पदार्थोंका परिणमन दुःख कहलाता है।

के निमित्तसे पुद्गल कर्म मिश्रित संसार अवस्थाको अनादि कालसे धारण कर रहा है* अपने स्वरूपको भूल, मनुष्य, पशु, देव, नारकी, गोरा, काला आदि कर्म जनित पर्यायोंको ही अपना आत्मस्वरूप निश्चय करता (मानता) हुआ बहिरात्मा हो रहा है। जिससे ज्ञानका पुंज होते हुए भी किंचित् मति-श्रुत ज्ञानी, पूर्ण सुख का पुंज होते हुए भी अति दुखी और आत्मीक शुद्ध (सिद्ध) अवस्थाका पात्र होते हुए भी एकेन्द्री, दोइन्द्री, तेइन्द्री आदि तुच्छ जीव हो रहा हैं। यदि यह जीव परीक्षा पूर्वक इन सब बातों पर विचार करे और अपने स्वभाव-विभावका बोध प्राप्त कर उस पर दृढ़ विश्वास लावे तो अपने स्वरूप का ज्ञाता अन्तरात्मा हो सकता है। और फिर राग द्वेषको दूर कर शुभाशुभ कर्म करना छोड़ साम्यभाव धारण करे तो निष्कर्म हो अपने शुद्ध स्वभावको पाकर कृतकृत्य परमात्मा हो सकता है।

सम्पूर्ण संसारी जीवोंके भव्यत्व, अभव्यत्व उपादान शक्तियोंके कारण भव्य, अभव्य दो भेद हैं। ये शक्तियां जीवों में स्वयं हैं, किसीकी बनाई हुई नहीं हैं. जैसे मूंग या चने कोई

---

*इसी बात को प्रकारान्तर से अन्यमतावलम्बी भी कहते हैं। कोई तो कहते हैं कि ब्रह्म, मायाके वश संसारमें सगुण (सशरीर-अशुद्ध) अवस्थामें रहता है और मायाके अभाव होने पर निर्गुण (शुद्ध) ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। कोई कहते हैं कि पुरुषसे जब तक प्रकृति (कर्म) का संयोग रहता है तब तक वह संसारी रहता है प्रकृतिके दूर होने से शुद्ध हो जाता है। कोई कहते हैं कि आत्माके पीछे जब तक शैतान लगा हुआ है तब तक दुनियामें रहता है, शैतानके दूर होने पर रूह में रूह मिल जाती है। इस प्रकार इन सबके कहनेका भाव जैनमतके उपर्युक्त विज्ञानसे बहुधा मिलता जुलता सा ही है।

तो सीझनेवाले और कोई घोरड्डू अर्थात् न सीझनेवाले स्वयं ही होते हैं।

भव्य—जिनमें मोक्ष प्राप्ति होने (सीझने) की शक्ति होती है। ये तीन भेदरूप हैं—(१) निकट भव्य—जिनको सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयके बाह्य कारण मिलकर अल्पकालमें ही मोक्ष हो जाता है। (२) दूरभव्य—जिनको उपर्युक्त प्रकारसे दीर्घ कालमें मोक्ष होता है। (३) दूरातिदूर (दूरानदूर) भव्य—जिनको बाह्य कारण सम्यग्दर्शनादिके अनंत काल तक नहीं मिलते और न मोक्ष होता है, तथापि इनमें भव्यत्व शक्ति है।

अभव्य—जिनमें मोक्ष प्राप्त करनेकी उपादान शक्ति ही नहीं, इनको सम्यग्दर्शनादि प्राप्तिके बाह्य कारण मिलने पर भी मोक्ष नहीं होता।

निकट भव्य तथा दूर भव्य, पुत्र होनेकी उपादान शक्ति युक्त सधवा स्त्रीके समान, दूरातिदूर भव्य पुत्र होनेकी शक्तियुक्त विधवा स्त्रीके समान और अभव्य बांझ स्त्रीके समान मोक्ष प्राप्तिके विषयमें जानो।

जीवोंको मोक्ष होने न होनेकी अंतरंग उपादान शक्तियां हम तुम अल्पज्ञ पुरुष यथार्थ रूपसे नहीं जान सकते। इसलिये सदा पुरुषार्थ पूर्वक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके कारण मिलाना चाहिये। भावार्थ—जिन कारणोंसे आत्मबोध हो उन कारणों के मिलानेका सदा पूर्ण प्रयत्न करते रहना हरएक मनुष्यका कार्य है, जिससे मोक्षकी प्राप्ति हो जाय।

सप्त तत्त्व वर्णन

जैन दर्शनमें जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व माने गये हैं। इनमें जीव, अजीव इन दो के अतिरिक्त शेष पांच तत्वोंकी उत्पत्ति "जीवाजीवविशेषाः"

अर्थात् जीव और अजीव (पुद्गल) के संयोग तथा वियोग की विशेषतासे है। जीव पुद्गलका संयोग रहना संसार, और जीव-पुद्गल का वियोग हो जाना मोक्ष है। इसी कारण मोक्ष प्रकरणमें ये सप्त तत्व अति ही कार्यकारी हैं ये आत्माके स्वभाव विभाव बतलानेके लिए दर्पणके समान हैं। इनके ज्ञान-श्रद्धान बिना जीव अपनी असली स्वाभाविक सुख अवस्था को नहीं पा सकता, अतएव इनका स्वरूप भली भांति जानना अत्यावश्यक है।

सबसे प्रथम इन जीवादि तत्वोंका विशेष स्वरूप जानना चाहिये; क्योंकि इनको विशेष रूपसे जाने बिना दृढ़ विश्वास नहीं हो सकता और दृढ़ निश्चय हुए बिना कर्तव्या-कर्तव्यकी यथार्थ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इन सप्त तत्वोंके जाननेका मुख्य उद्देश्य यही है कि जिससे आत्माके स्वभाव-विभावका श्रद्धान ऐसा हो जायकि जीवसे पुद्गल (कार्माण वर्गणा) केसम्बन्ध होनेके कारण आश्रव और बंध हैं तथा जीवसे पुद्गल (कर्म वर्गणाक अलग होनेके कारण, संवर निर्जरा हैं इसलिये संसारके मूलभूत आस्रव, बंधके कारणोंको दूर करने और संवर, निर्जरा के कारणोंको मिलानेसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार विशेष रूपमें आत्म श्रद्धान का होना सम्यग्दर्शन है। सो यह बात सात तत्वोंके जाने बिना होना असंभव है! इसी कारण स्पष्ट रूपसे आत्मश्रद्धान कराने-वाले असाधारण कारण "तत्वश्रद्धान" को सूत्रकारों ने सम्य-ग्दर्शनका लक्षण कहा है। और इन सप्त तत्वों के बोध कराने के निमित्त कारण देव, शास्त्र, और गुरु हैं, इसीलिये आरंभिक दशामें देव, शास्त्र गुरुके श्रद्धानको शास्त्रकारों ने सम्यग्दर्शन कहा है; क्योंकि सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरुके निमित्त बिना इन जीवादि सप्त तत्वोंका उपदेश मिलना या बोध होना

असंभव है। इस प्रकार उत्तरोत्तर कारणोंसे जब यथार्थ आत्म श्रद्धान हो जाता है तब ये सम्यक्त्वके सभी लक्षण अनुभवमें एकसे आने लगते हैं। अब यहां सप्त तत्वोंका विशेष वर्णन किया जाता है।

जीव, अजीव (पुद्गल आदि पंच जड़ पदार्थ) दो तत्वों का वर्णन तो द्रव्योंके प्रकरणमें हो चुका है, शेष ५ तत्वोंका वर्णन इस प्रकार है:—

आस्रव तत्त्व वर्णन

जीवोंकी मिथ्यात्व, अविरत, कषाय आदि भावोंसे युक्त मन, वचन कायकी प्रवृत्ति होनेसे अथवा उनके अभावमें पूर्वबद्ध कर्मोंके उदय होनेसे केवल योगों द्वारा आत्मप्रदेशोंमें चंचलता होती है जिससे पुद्गल परमाणु आत्मासे बद्ध होनेके सन्मुख होते हैं यही द्रव्यास्रव है और जिन परिणामों या भावों से पुद्गल परमाणु (कार्माण वर्गणा) बन्धके सन्मुख होते हैं उन भावोंको भावास्रव कहते हैं। इस भावास्रवके विशेष भेद ५७ हैं, जो नीचे लिखे अनुसार हैं—

मिथ्यात्व—अतत्त्व श्रद्धानको कहते हैं, अर्थात् यथार्थ तत्वों तथा उनके यथार्थ स्वरूपसे उल्टे, अयथार्थ तत्वों पर तथा उनके अयथार्थ स्वरूप पर विश्वास करना मिथ्यात्व है। इसके ५ भेद हैं यथाः-[१] एकान्त मिथ्यात्व—पदार्थोंमें अनेक धर्म हैं, उनमेंसे केवल एक ही को मानना, शेष सबका अभाव मानना सो एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे जीव-पुद्गल आदि द्रव्य अपने द्रव्यत्वकी अपेक्षा नित्य अर्थात् अनादि अनंत हैं, न ये उत्पन्न हुए हैं, न कभी नष्ट होंगे, परन्तु पर्याय अपेक्षा अनित्य भी हैं अर्थात् इनकी पर्याय पलटती रहती है, एक पर्याय नष्ट होती, और दूसरी उत्पन्न होती है। अब यदि इनमें नित्य

या अनित्य एक ही धर्म मानकर दूसरेका अभाव माना जाय, तो वस्तुका यथार्थ बोध नहीं हो सकता, न कोई क्रिया सध सकती है; क्योंकि वस्तु तो नित्य-अनित्य दोनों गुण युक्त है अतएव केवल एक गुण युक्त ही मान लेना एकान्त मिथ्यात्व है। लोकस्थित सभी पदार्थोंमें अनेकानेक धर्म पाये जाते हैं, यद्यपि वचन द्वारा एक समयमें एक ही धर्म कहा जा सकता है, तथापि अपेक्षा पूर्वक कहनेसे अन्य धर्मोंका अभाव नहीं ठहरता, जहां एक धर्म मुख्यतासे कहा जाय वहां दूसरे धर्मों की गौणता समझना चाहिये। ऐसा होनेसे ही पदार्थोंमें रहने वाले अन्य धर्मोंका भी बोध होकर यथार्थ प्रवृत्ति होती है। जैसे ग्वालिन दही बिलोते समय रई (मथानी) की रस्सी के एक हाथसे पकड़े हुए छोरको अपनी ओर खींचती और दूसरे हाथमें पकड़े हुए छोरको ढीला कर देती है, सर्वथा नहीं छोड़ देती, तभी दहीका सागर (घृत) हाथ लगता है। यदि दूसरे हाथसे सर्वथा रस्सी छोड़ दी जाय तो कदाचित भी घी की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार अपेक्षा रहित एक ही धर्म को लेकर पदार्थको सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा एक, सर्वथा अनेक, सर्वथा द्वैत, सर्वथा अद्वैत माननेसे कुछ भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। (२) विनय मिथ्यात्व— सुगुरु-सुदेव-सुधर्म, कुगुरु-कुदेव-कुधर्म इन सबको एक सदृश मानना-पूजना या सच्चे तत्त्वोंको झूठे तत्त्वोंको एकसा समझना, दोनोंको एकसी महत्त्व की दृष्टिसे देखना, मानना यह सब विनय मिथ्यात्व है। (३) विपरीत मिथ्यात्व—देव, गुरु, धर्म तथा तत्त्वोंका जिस प्रकार यथार्थ स्वरूप है, उससे उल्टा विश्वास कर लेना अर्थात् रागी-द्वेषी कुदेवों*में देवका, परिग्रह

---

* जिन देवोंके पास रागका चिन्ह स्त्री और द्वेष का चिन्ह शस्त्र हो

धारी कुगुरुओंमें गुरुका, हिंसामयी अधर्ममें धर्मका और संसारके कारणरूप कुतत्त्वोंमें सुतत्त्वोंका श्रद्धान कर लेना यह सब विपरीत मिथ्यात्व है। (४) संशयमिथ्यात्व—अनेक मतोंके देव, गुरु, शास्त्र, तत्त्वादि सुन कर सत्य-असत्यके निर्णयकी इच्छा न करना और विचारनाकि अनेक मत तथा अनेक लोग अनेक तरहसे धर्मका स्वरूप वर्णन करते हैं, नहीं मालूम, इनमें कौन सत्य है और कौन असत्य है? इस प्रकार निर्णय की इच्छा रहित सन्देह रूप रहना सो संशय मिथ्यात्व है। (५) अज्ञान मिथ्यात्व—देव-कुदेव, धर्म-कुधर्म, वक्ता-कुवक्ता, शास्त्र-कुशास्त्र, तत्त्व-कुतत्त्व, जिनमन्दिर-अन्यमन्दिर, वीतराग प्रतिमा-सराग प्रतिमा, सच्चे साधु-असाधु, संयम-असंयम आदि संसार तथा मोक्षके कारणोंके विषयमें विवेक रहित रहना सो अज्ञान मिथ्यात्व है।

अविरति—पापोंको त्याग न करना अविरति कहलाती है। इसके बारह भेद हैं। स्पर्शन रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन इन छहोंको वश न करना, इनके विषयोंमें लोलुपी बने रहना तथा पृथ्वीकायिक, अप्‌कायिक, तेजकायिक, वायु कायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक इन छः कायके जीवों की रक्षा न करना, ये बारह अविरति हैं।

वे कुदेव हैं। जिन गुरुओंके अंतरंगमें राग द्वेष और बाह्य वस्त्र, धान्यादिक परिग्रहसे प्रीति हो, जो गुरुपनेका अभिमान रखने वाले और याचना करने वाले हों वे सब कुगुरु हैं। जिन धर्म क्रियाओंमें रागादि (भाव हिंसा) की वृद्धि तथा त्रस स्थावर हिंसा (द्रव्य हिंसा) हो, वह कुधर्म अथवा जिन शास्त्रोंमें हिंसा की पुष्टिकी गई हो, वे कुशास्त्र हैं। इसी प्रकार जिन तत्वोंके मानने और उनके अनुसार चलनेसे संसार की परिपाटी बढ़ती हो, वे कुतत्व हैं।

कषाय—जो आत्मगुणको घाते अथवा जिससे आत्मा मलिन (विभावरूप) होकर बंध अवस्थाको प्राप्त हो सो कषाय है। इसके २५ भेद हैं। ४ अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ-यह कषाय अनन्त संसारके कारण स्वरूप मिथ्यात्वमें तथा अन्याय रूप क्रियाओंमें प्रवृत्ति करानेवाली है। इसके उदय वश जीव सप्त व्यसनादि पापोंको निरर्गल हो सेवन करता है (भावदीपक)। ४ अप्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ-इसके उदयमें श्रावकके व्रत रंच-मात्र भी नहीं होते, तथापि अनन्तानुबन्धीके अभाव और सम्यक्त्वके प्रभावसे अन्याय रूप विषयों (सप्तव्यसन सेवन) में प्रवृत्ति नहीं होती। इस कषाय के उदयसे न्यायपूर्वक-विषयोंमें अति-लोलुपता रहती है। ४ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ-यह कषाय यद्यपि मन्द है तथापि इसके उदय होते हुए महाव्रत मुनिव्रत या सकल संयम) नहीं हो सकता, इसके क्षयोपशमके अनुसार देशसंयम (श्रावक व्रत) हो सकता है। ४ संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ—यह कषाय अति मन्द है, मुनिव्रतके साथ साथ इस कषायका उदय होते हुए भी यह संयमको बिगाड़ नहीं सकती, केवल इसके उदयमें यथाख्यात चारित्र नहीं हो सकता। ६ हास्यादिक—१ हास्य जिसके उदयसे हँसी उत्पन्न हो। २ रति-जिसके उदयसे पदार्थों में प्रीति उत्पन्न हो। ३ अरति-जिसके उदयसे पदार्थोंमें अप्रीति उत्पन्न हो। ४ शोक-जिसके उदयसे चित्त खेदरूप हो, उद्वेग उत्पन्न हो। ५ भय-जिसके उदयसे डर लगे। ६ जुगुप्सा-जिसके उदयसे पदार्थोंमें घृणा उत्पन्न हो। ३ वेद—१ पुरुषवेद-जिसके उदयसे स्त्रीसे रमनेकी इच्छा हो। २ स्त्रीवेद-जिसके उदयसे पुरुषसे रमने की इच्छा हो।

३ नपुंसक वेद-जिसके उदयसे स्त्री-पुरुष दोनोंसे रमनेकी इच्छा हो।

योग—मन, वचन, काय द्वारा आत्म प्रदेशों के कम्पायमान होनेको योग कहते हैं। ये १५ प्रकारके है। ४ "मनोयोग" मनकी सत्यरूप प्रवृत्ति सो "सत्यमनोयोग है। मनकी असत्य रूप प्रवृत्ति सो "असत्य मनोयोग" है। मन की सत्य-असत्य दानों मिश्र रूप प्रवृत्ति सो "उभयमनोयोग" है। मनकी सत्य-असत्य कल्पना रहित प्रवृत्ति सो "अनुभयमनोयोग" है॥ ४ "वचनयोग"— वचनको सत्य रूप प्रवृत्ति सो "सत्यवचनयोग" है। वचनकी असत्यरूप प्रवृत्ति सो 'असत्यवचनयोग' है। सत्य-असत्य मिश्ररूप वचनकी प्रवृत्ति सो 'उभयवचनयोग' है। सत्य-असत्यकल्पनारहित वचन की प्रवृत्ति सो 'अनुभय वचनयोग' है॥ ७ 'काययोग'—औदारिकशरीरकी प्रवृत्ति सो 'औदारिक काययोग' है। औदारिक मिश्र कायकी प्रवृत्ति सो 'औदारिक मिश्र काययोग' है। वैक्रियकशरीरकी प्रवृत्ति सो 'वैक्रियक काययोग' है। वैक्रियकमिश्रकायकी प्रवृत्ति सो 'वैक्रिक मिश्र काययोग' है। आहारकशरीरकायकी प्रवृत्ति सो 'आहारक काययोग' है। आहारकमिश्रकायकी प्रवृत्ति सो आहारक मिश्र काययोग है। कार्माणशरीरकी प्रवृत्ति सो कार्माण काययोग है।*

*औदारिक काययोगकी प्रवृत्ति पर्याप्त मनुष्य-तिर्यंच और औदारिक मिश्रकी अपर्याप्त मनुष्य तिर्यंचके। वैक्रियक काययोगकी प्रवृत्ति पर्याप्त देव-नारकीके और वैक्रयक मिश्रकी अपर्याप्त देव नारकीके। आहारक काय योगकी प्रवृत्ति छठे गुणस्थानमें पर्याप्त आहारक पूतलाके और आहारक मिश्रकी अपर्याप्त आहारक पूतलेके। कार्माण काय योगकी प्रवृत्ति अनाहारक अवस्थामें तथा केवल समुद्घातके मध्यके ३ समयोमें होती है।

जब मन-वचन-काय के योग तीव्र कषाय रूप होते हैं तब पापास्रव होता है और जब मन्द कषाय रूप होते हैं तब पुण्यास्रव होता है। जब कषाय युक्त योगोंकी प्रवृत्ति होती है। सांपरायिक आस्रव होता है और जब कषाय रहित पूर्वबद्ध कर्मानुसार योग चलते हैं, तब ईर्यापथ आस्रव होता है। सांपरायिक आस्रवमें प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबंध, अनुभागबंध चारों प्रकार बंध होता है परन्तु ईर्यापथ आस्रवमें केवल प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध दो ही प्रकारका बन्ध होता है॥

४ बंध तत्त्व वर्णन।

जीवके रागादि रूप अशुद्ध भावोंके निमित्त से पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओंका आत्माके प्रदेशोंसे एक क्षेत्रावगाह रूप होना सो बंध कहलाता है। तहां पूर्व बद्ध द्रव्यकर्मके उदय से आत्माके चैतन्य परिणामोंका राग-द्वेष रूप परिणत होना सो भावबंध और आत्माके रागद्वेष रूप होनेसे नूतन कार्माण वर्गणाओंका आत्मासे एक क्षेत्रावगाह रूप होना सो द्रव्य बंध है। सो द्रव्यबंध चार प्रकार है प्रदेशबंध, प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध॥ (१) प्रदेश बंध-जीवके मन, वचन, कायकी हीनाधिक प्रवृत्तिके अनुसार कर्म वर्गणाओंका आत्म प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाह रूप होना सो प्रदेशबंध है॥ सर्व संसारी जीवोंके कार्माण वर्गणाओंका बंध प्रत्येक समयमें अभव्य राशिसे अनन्त गुणा और सिद्ध राशि के अनंतवें भाग ऐसे मध्य अनन्तानन्तके प्रमाणको लिए हुए होता है। इन समयप्रबद्ध वर्गणाओंमें ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंका अलग-अलग हीनाधिक विभाग होता है। वह विभाग या बंटवारा इस प्रकार हैं, सबसे अधिक 'वेदनीयका'। उससे कुछ कम 'मोहनीयका'। उससे कुछ 'कम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय'

तीनों बराबर बराबर। इनसे कुछ कम 'नाम, गोत्र' दोनोंका बाराबर बराबर। और सबसे कम आयु कर्मका विभाग होता है॥ प्रति समय बंधी हुई कर्माण वर्गणाओंमें केवल आयुबंध के योग्य त्रिभागके अंतमुहूर्त कालको छोड़ शेष समयोंमें सात कर्म रूप ही बंटवारा होता हैं, और आयु बंधके योग्य त्रिभाग के अंतमुहूर्त काल* में ८ कर्म रूप बँटवारा होता है॥ (२) 'प्रकृति बंध प्रत्येक कर्म' के बँटवारेमें आई हुई वर्गणाओंमें आत्मगुणके घातनेकी पृथक् पृथक् शक्तियोंका उत्पन्न होना सो प्रकृतिबंध है, जैसे 'ज्ञानावरणीमें ज्ञान' आच्छादनेकी 'शक्ति, दर्शनावरणीमें' दर्शन अच्छादनेकी शक्ति, 'मोहनीयमें' आत्मज्ञानके होन देनेमें असावधानी करानेकी शक्ति, 'अन्तराय'में वीर्य अर्थात् आत्मबलके उत्पन्न न होने देनेकी शक्ति, 'आयुकर्ममें' आत्माको शरीरमें स्थित रखनेकी 'शक्ति, नाम कर्ममें अनेक प्रकार शरीर रचनेकी शक्ति, 'गोत्र' कर्ममें नीच ऊंच गोत्रमें उत्पन्न करानेकी शक्ति, 'वेदनीय कर्ममें' सांसारिक सुख दुख अनुभव करानेकी शक्ति होती है। यह

*वर्तमान आयुके दो भाग बीत जाने पर तीसरे भागके आरंभ के अंतमुहूर्तमें आयु बन्ध होनेकी योग्यता होती है। यदि वहां बंध न हो तो उस शेष एक भागके दो तिहाई काल बीत जाने पर शेष तीसरे भागके आरंभके अंतमुहूर्तमें आयुबंधकी योग्यता होती है। इस प्रकार आठ त्रिभागोमें आयु बन्धकी योग्यता होती है, यदि इन आठों में बंध न हो तो आवलीका असंख्यातवां भाग मात्र समय मरनेमें शेष रहे उसके पूर्व अंतमुहूर्तमें अवश्य ही आयुका बंध होता है। प्रकट रहेकि जिस त्रिभागमें आयुका बन्ध हो जाता है उसमें तथा उसके पीछेके त्रिभागोंके आरंभिक अंतमुहूर्त कालमें आठ कर्म रूप बँटवारा अवश्य होता है।

अष्ट कर्मोंके सामान्य प्रकृति बंधका संक्षिप्त स्वरूप कहा। विशेष तथा उत्तर प्रकृतियोंके बंधका स्वरूप श्रीगोम्मटसारजी के कर्मकाण्डसे जानना चाहिये।

(३) 'स्थितिबन्ध'—कषायकी तीव्रता-मन्दताके अनुसार उन कर्म वर्गणाओंमें आत्मासे बंध रूप रहनेके कालकी मर्यादाका पड़ जाना स्थितिबंध है। इसमें 'उत्कृष्ट स्थिति' ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी-अंतराय और वेदनीयकी ३० कोड़ा-कोड़ी सागरकी, नाम गोत्रकी २० कोड़ाकोड़ी सागरकी, मोहनीय की ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी (चारित्र मोहनीयकी ४० कोड़ा-कोड़ी सागरकी, और दर्शन मोहनीयकी ७० कोड़ाकोड़ी सागर की) तथा आयुकी ३३ सागरकी पड सकती है। 'जघन्यस्थिति' ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी-मोहनीय-अन्तराय और आयुकी अंत-र्मुहूर्त, नाम-गोत्रकी ८ मुहूर्त और वेदनीयकी १२ मुहूर्तकी पड सकती है॥ (४) 'अनुभागबन्ध-कषायोंकी तीव्रता' मन्दताके अनुसार उन कर्मवर्गणाओंमें तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर रस (फल) देनेकी शक्तिका पडना अनुभाग बंध कहाता है। यह रस-शक्ति घातिया कर्मोंमें शैल-अस्थि-दारुलतारूप, अघातिया कर्मोंकी पाप प्रकृतियोंमें हालाहल-विष-कांजी-नीम-रूप और पुण्य प्रकृतियोंमें अमृत-शर्करा-खांड-गुड़ रूप इस तरह चार-चार प्रकारकी होती है।

योगकी प्रवृत्तिसे प्रदेश-प्रकृति बंध और कषायोंकी प्रवृत्तिसे स्थिति-अनुभाग बंध होता है। इसलिए जब कषाययुक्त योगकी प्रवृत्ति होती है तब प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुराग चारों प्रकारका बंध होता है। यह चारों प्रकारका बन्ध दशवें सूक्ष्म सांपराय गुण स्थान तक होता है। ऊपरके गुणस्थानोंमें कषायोंका अभाव होनेसे केवल योगोंकी ही प्रवृत्ति होती है तब प्रदेश प्रकृति रूप दोही प्रकारका बंध होता है। इन योग-

कषायोंकी विशेषतासे अष्ट कर्मोंके बंध में जो विशेषता होती है उसका सारांश इस प्रकार है:—योगोंके अधिक चलनेसे अधिक कार्माण वर्गणाओंका प्रदेशबंध होता है और कम चलनेसे कम होता है। कषायोंकी तीव्रतासे पाप रूप १०० प्रकृतियोंमें अनुभाग अधिक और ६८* पुण्य प्रकृतियोंमें अनुभाग कम तथा कषायोंकी मन्दतासे ६८ पुण्य प्रकृतियोंमें अनुभाग अधिक और १०० पापप्रकृतियोंमें अनुभाग कम पड़ता है। इसी प्रकार तीव्र कषायसे मनुष्य, तिर्यंच, देव इन तीनों आयुकी स्थिति कम और शेष सर्व कर्म प्रकृतियोंकी स्थिति अधिक पड़ती है और मंद कषाय होनेसे इन तीनों आयुकी स्थिति अधिक और शेष कर्म प्रकृतियोंकी स्थिति कम पड़ती है।

यहां यदि कोई सन्देह करेकि जड़ कर्मोंमें यह क्रिया आप ही आप कैसेहो जाती है? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे एक कालमें ग्रहण किया हुआ अन्न पेटमें पहुँच कर वायु, पित्त कफ, रस, रुधिरादि धातु-उपधातु रूप परणमता और उसमें पचनेके कालकी स्थिति तथा वायु, पित्त, कफादि रूप मंद-तेज रसशक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार जीवके शुभाशुभ भावोंका निमित्त पाकर कार्माण वर्गणायें आत्मासे

*चारों घातिया कर्मों की ४७ प्रकतियां तो पापरूप ही है, अघातियों में शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र तथा सातावेदनीय आदि ६८ पुण्य प्रकतियाँ और अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र तथा असाता वेदनीय आदि ५३ प्रकृतियां पापरूप हैं। इस प्रकार ८ कर्मों की १०० प्रकतियां पापरूप और ६८ पुण्यरूप हैं। यद्यपि अष्टकर्मोंकी कुल प्रकतियां १४८ ही हैं तथापि वर्ण रसादि की २० प्रकतियां पाप-पुण्य दोनों रूप ही होती हैं। इन सब के नाम स्वरूप, बंधके विशेष भेदादि श्रीगोम्मटसारजीसे जानना॥

एक क्षेत्रावगाह होकर ज्ञानावरणादि अष्ट प्रकार कर्म रूप परिणमतीं और उनमें स्थिति-अनुभागादिका विशेष हो जाता है।

५ संवर तत्त्व वर्णन।

जिन मिथ्यात्वादि भावोंके होनेसे कर्माश्रव होकर बंध होता है, उन भावोंका रुकना सो भावसंवर और कर्मवर्गणाओंके आगमनका रुकना सो 'द्रव्यसंवर' है।

इस जीव के मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योगोंद्वारा आस्रव होकर बंध होता है जो संसार भ्रमणका कारण है। अतएव आस्रव रोकनेके लिए सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे मिथ्यात्व का, देशविरति और महाविरति के धारने से अविरति का, यथाख्यातचारित्रकी प्राप्तिसे कषायोंका और योगप्रवृत्ति रोककर योगों का संवर करना प्रत्येक मोक्षाभिलाषी पुरुष का कर्तव्य है। इस प्रकार आस्रवोंके रोकनेकी अपेक्षा संवर के ५७ भेद वर्णन किए गए हैं। यथा-दशलक्षणधर्म—प्राप्ति, द्वादश अनुप्रेक्षा चिंतवन, बाईस परीषहजय, पंच आचार, पंच समिति और तीन गुप्तिका पालन करना॥

दशलक्षण धर्म—नीचे लिखे दशलक्षण धर्म आत्माके स्वभाव हैं। इन लक्षणोंसे आत्माके स्वभावकी पहिचान होती है। प्रत्येक धर्म में जो उत्तम विशेषण लगा हुआ है वह ख्याति, लाभ, पूजा प्राप्तिकी इच्छाकी निवृत्तिके हेतु हैं अथवा (सम्यग्ज्ञानपूर्वक होने के लिए है॥ १ (उत्तम क्षमा)—सम्यग्ज्ञानपूर्वक दूसरोंके अपराधको अपने तईं दंड देनेकी शक्ति होते हुए भी क्षमा करना, क्रोधित न होना॥ २ (उत्तममार्दवसम्यग्ज्ञान पूर्वक) अपने तईं ज्ञान, धन, बल, ऐश्वर्यादि अभिमान के कारण होते हुए भी अभिमान न करना, विनय रूप रहना॥

३ (उत्तम आर्जव)—सम्यग्ज्ञान पूर्वक मन-बचन-काय की कुटिलता त्यागना, सरल रूप रहना ॥ ४ 'उत्तम सत्य'—पदार्थों का सत्य स्वरूप जानना तथा सम्यग्ज्ञान पूर्वक पदार्थों का स्वरूप ज्यों का त्यों वर्णन करना और प्रशस्त वार्तालाप करना अर्थात् धर्मानुकूल बचन बोलना, धर्मको हानि या कलंक लगाने वाला बचन न बोलना ॥ ५ 'उत्तम शौच'—सम्यग्ज्ञान पूर्वक आत्माको कषायों द्वारा मलिन न होने देना, सदा निर्मल रखना तथा लोभ त्यागना और सन्तोष रूप रहना ॥ ६ 'उत्तम संयम'—सम्यग्ज्ञान पूर्वक इंद्रिय मनको विषयोंसे रोकना और षट् कायके जीवोंकी रक्षा करना ॥ ७ 'उत्तम तप'—सांसारिक विषयोंकी इच्छा रहित होकर अनशन (उपवास), ऊनोदर (अल्पआहार), वृत्तिपरिसंख्यान अटपटी आखड़ी लेना, रस परित्याग (दूध, दही, नमक, तेल, घी, मिष्ट इन रसोंमेंसे एक दो आदि रसोंका छोड़ना), विविक्तशय्यासन (एकान्त स्थान में सोना-बैठना), काय क्लेश (शरीरसे उष्ण, शीतादि परीषह सहना) ये षट् बाह्य तप और प्रायश्चित विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (शरीरसे ममत्व छोड़ना) और ध्यान ये छह अंतरंग तप, ऐसे बारह प्रकार तप करना अर्थात् इनके द्वारा आत्माको तपाकर निर्मल करना, कर्म रहित करना ॥ ८ 'उत्तम त्याग'—अपने न्याय-पूर्वक उपार्जन किए हुए धनको मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाके निमित्त औषधदान, शास्त्र-दान, आहारदान और अभयदानमें तथा उपकरणादि सप्त क्षेत्रों में* व्यय करना सो व्यवहारत्याग और राग द्वेषको

* १ जहाँ जिनमंदिर न हो वहाँ जिनमंदिर बनवाना २ जिनप्रतिमा विराजमान कराना ३ तीर्थयात्रा करना ४ शास्त्र लिखाकर दान करना ५ पूजन करना ६ प्रतिष्ठा करना ७ औषध आहारादि ४ प्रकार दान देना ॥

छोड़ना सो अंतरंग त्याग है ॥ ९ 'उत्तम आकिंचन्य'—बाह्य दश प्रकार (खेत, मकान, चांदी, सोना, पशु, अनाज दासी, दास, वस्त्र, वर्तन) और अंतरंग १४ प्रकार (क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, मिथ्यात्व, राग, द्वेष) परिग्रहसे ममत्वका सर्वथा त्याग करना ॥ १० 'उत्तम ब्रह्मचर्य'—बाह्य 'व्यवहार' ब्रह्मचर्य तो स्त्री-विषयका त्याग और अतरंग (निश्चय) ब्रह्मचर्य व्रत अपने आत्मस्वरूपमें उपयोगको स्थिर करना है ॥

द्वादश अनुप्रेक्षा—जो वैराग्य उत्पन्न करनेको माता समान और बारम्बार चिंतवन करने योग्य हों, सो अनुप्रेक्षा या भावना कहलाती हैं, ये १२ हैं। यथा:—(१)'अथिर भावना'—सांसरिक सर्व पदार्थोंका संयोग जो जीवसे हो रहा है उसे अथिर चिंतवन करके उनसे रागभाव तजना ॥ (२) अशरण भावना जीवको इसके शुभाशुभ कर्मही शरण अर्थात् सुख दुख देने वाले हैं, अथवा मोक्ष मार्गके सहकारी निमित्त कारण पंच परमेष्ठीका इसे शरण हैं अथवा यह आत्मा अपनेको आपही शरण रूप हैं अन्य किसीका शरण नहीं है। उदयमें आये हुए कर्मोंके रोकनेको कोई समर्थ नहीं है। तथा मरणकालमें जीवको कोई शरण नहीं है। इस तरह निरन्तर चिंतवन करके अपने आत्महितमें रुचि करना ॥ (३) 'संसार-भावना'—यह यह संसार जन्म, जरा, मरण रूप है। इसमें कोई भी सुखी नहीं है। प्रत्येक जीवनको कोई न कोई दुख लगा हुआ है। इस प्रकार संसारको दुख स्वरूप चिन्तवन करके उसमें रुचि नहीं करना, विरक्त रूप रहना ॥ ४ 'एकत्व भावना'—यह जीव अकेला आपही जन्म, जरा, मरण, सुख, दुख, संसार मोक्षका, भोक्ता है, दूसरा कोई भी इसका साथी नहीं है। ऐसा विचार

कर किसी के आश्रय की इच्छा न करना, स्वयं आत्महितमें पुरुषार्थ करना, ॥ (५) 'अन्यत्व भावना'—इस आत्मा से अन्य सर्व पदार्थ वा जीव अलग हैं ऐसा चिन्तवन करते हुए इनसे सम्बन्ध नहीं चाहना ॥ (६) 'अशुचित्व भावना'—यह शरीर हाड़ मांस, रक्त, कफ, मल, मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओंका घर है ऐसा विचारते हुए इससे रागभाव घटाना और सदा आत्माक शुद्ध करनेका विचार करना ॥ (७) आस्रव भावना— जब मन, वचन, कायके रोगोंकी प्रवृत्ति कषाय रूप होती है तब कर्मोंका आस्रव होता है और उससे कर्म बंध होकर जीव को सुख-दुख की प्राप्ति तथा सांसारिक चतुर्गति का भ्रमण होता है। इस तरह विचार करते हुए आस्रव के मुख्य कारण कषायों को रोकना चाहिए ॥ (८) 'संवर भावना'—कषायोंकी मन्दता तथा मन, वचन, काय (योगों) की निवृत्ति जितनी जितनी होती जाती है उतना उतना ही कर्मका आश्रव होना भी घटता जाता है इसीको संवर कहते हैं। संवर होनेसे कर्माश्रव रुक कर बंधका अभाव होता है। बंधके अभावसे संसारका अभाव और मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ (९) 'निर्जरा भावना'-- शुभाशुभ कर्मोंके उदयानुसार सुख-दुखकी सामग्रीके समागम होने पर समताभाव धारण करनेसे सत्तास्थित कर्मोंका स्थिति-अनुभाग घटता है और बिना रस दिये ही कर्म वर्गणाएं, कर्मत्व शक्ति रहित होकर निर्जरती हैं। इस प्रकार संवर पूर्वक एकदेश (कुछ २) कर्म का अभाव निर्जरा और सर्वदेश (सम्पूर्ण) कर्मका अभाव मोक्ष कहलाता है। ऐसा चिन्तवन करके निर्जरा के कारणभूत तपमें ख्याति, लाभ, पूजादिकी वांछा रहित होकर प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥ (१०) 'लोक भावना'—यह लोक ३४३ राजू घनाकार है, जिसके ऊर्ध्व लोक, मध्यलोक, अधोलोक तीन भेद हैं, जिसमें संसारी जीव अपने किये हुए

शुभाशुभ कर्मोंके वश चतुर्गतिमें भ्रमण कर रहे हैं, जीवोंके सिवाय पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये पांच द्रव्य और भी इस लोक में स्थित हैं, इन सब को अपनी आत्मासे अलग चितवन करके सबसे राग द्वेष छोड़ आत्मस्वभावमें लीन होना ही जीवका मुख्य कर्तव्य है ॥

बोधिदुर्लभ भावना—अपनी वस्तुका पाना सुलभ तथा संभव और पर वस्तुकी प्राप्ति दुलभ तथा असंभव है। जो पर वस्तुकी इच्छा करता है तथा प्राप्तिका उपाय करता है वह बंध अवस्थाको प्राप्त होकर दुखी होता है सो यह जीव इस संसारमें अनादि कालसे अपने आत्म-स्वरूपको भूलकर शरीर स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि पर वस्तुओंको अपनाता हुआ दुखी हो रहा है। परन्तु ये पर पदार्थ कभी भी उसके नहीं हो सकते; क्योंकि निजात्माके सिवाय अन्य सर्व पदार्थ इससे पृथक् हैं। अतएव इन सर्व परपदार्थोंमें अपनत्व छोड़ निजात्म ज्ञानकी प्राप्ति करना संभव, सुलभ और सुखदाई है। यद्यपि अनादि कालसे कर्मोंसे आच्छादित होनेके कारण आत्मज्ञानकी प्राप्ति दुर्लभ हो रही है तथापि यह उत्तम मनुष्य पर्याय, उच्च-कुल दीर्घायु, इन्द्रियोंकी परिपूर्णता, आत्मज्ञान होने योग्य क्षयोपशम, पवित्र जिनधर्मकी प्राप्ति, साधर्मियोंका सत्संग आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ समागम प्राप्त हुआ है। इसलिये जैसे बने तैसे आत्मज्ञानकी उत्पत्तिमें यत्न करना चाहिये ॥

धर्म भावना— दशलक्षण रूप, दया रूप अथवा शुद्ध ज्ञान दर्शन-चारित्र रत्नत्रय स्वरूप धर्म जो जिनदेव ने कहा है उसकी प्राप्तिके बिना जीव अनादि कालसे संसारमें भ्रमण कर रहा है उसके प्राप्त होनेसे ही यह सांसारिक अभ्युदयको भोगता हुआ मोक्षको प्राप्त हो सकता है। ऐसा चितवन धर्म भावना

है। इस प्रकार चिंतवन करनेसे जीवका धर्ममें सदा अनुराग रहता है।

बाईस परीषहजय—असाता वेदनीय आदि कर्मजनित अनेक दुखोंके कारण प्राप्त होनेपर भी खिन्न न होना तथा उन्हें पूर्व संचित कर्मोंका फल जान निर्जराके निमित्त समता (शांति) भाव पूर्वक सहना सो परीषह जय है॥ ये बाईस भेद रूप हैं॥ यथाः—(१) 'क्षुधा परीषह'—भूखकी वेदनाको शांति पूर्वक खेद रहित सहन करना॥ (२) 'तृषा परीषह'—प्यासकी वेदनाको शांति पूर्वक खेद रहित सहना॥ (३) 'शीत परीषह' शीतकी वेदनाको शांतिपूर्वक खेद रहित सहना॥ (४) 'उष्ण परीषह'—गर्मीकी बाधाको शांति पूर्वक खेद रहित सहना॥ (५) 'दंश-मशक परीषह'—डांस (दंश) मच्छर (मशक) आदि अनेक जीव जन्तुओं जनित दुःखोंको शान्ति पूर्वक, खेद रहित सहना॥ (६) 'नग्न परीषह'—उपस्थ (काम) इन्द्रियको वश करना और वस्त्रके सर्वथा त्याग करनेसे उत्पन्न हुई नग्न-रूप लोक लाजको जीतना॥ (७) 'अरति परीषह'—द्वेषके कारण आनेपर खेद रहित शान्तचित रहना॥ (८) 'स्त्री परीषह'—स्त्रियोंमें वा काम-विकार में चित्त नहीं जाने देना॥ (९) 'चर्यापरीषह'—ईर्यापथ शोधते अर्थात् चार हाथ प्रमाण भूमिको निर्जन्तु देखते हुए पांव पैदल चलते खेद न मानना॥ (१०) 'निषद्यापरीषह'—उपसर्ग के कारण आनेपर खेद न मानना तथा उपसर्ग* के दूर न होने तक वहांसे नहीं हटना, वहीं संयम रूप स्थिर रहना॥ (११) 'शयन परीषह'—रात्रि को कठोर, कंकरीली भूमिपर खेद न मानते हुए एक आसनसे अल्प निद्रा लेना॥ (१२) 'आक्रोश

*सिंह, बाघ, चोर दुष्ट, वैरीकृत आक्रमण या बाधा होना।

परीषह'—क्रोधके कारण आनेपर या वचन सुननेपर क्षमा तथा शान्ति ग्रहण करना ॥ (१३) 'वध-बंधन परीषह'—कोई आपको मारे अथवा बांधे तो खेद न मानते हुए शान्ति पूर्वक सहन करना ॥ (१४) 'याचना परीषह'—औषध, भोजन, पान आदि किसीसे नहीं मांगना ॥ (१५) 'अलाभपरीषह'—भोजनादिकका अलाभ होते हुए उससे कर्मकी निर्जरा होती जान शांत भाव धारण करना, खेद न मानना ॥ (१६) 'रोगपरीषह'—शरीरमें किसीभी प्रकारका रोग आनेपर कायर न होना, खेद न मानना, शांत भाव पूर्वक सहना ॥ (१७) 'तृणस्पर्श परीषह'—पांवमें कठिन कंकरों या नुकेले तृणोंके चुभने पर भी उसकी वेदनाको खेद रहित, शांत भाव सहित सहना तथा पांवमें कांटा या शरीरके किसी अंगमें फांस आदि लग जाय तो अपने हाथसे न निकालना, और तज्जनित वेदनाको शांत भाव पूर्वक सहन करना। यदि कोई अपनी बिना प्रेरणाके निकाल डाले तो हर्ष नहीं मानना ॥ (१८) 'मलपरीषह'—शरीर पर धूल आदि लगनेसे उत्पन्न हुआ जो ग्लानिका कारण मल, पसेव आदि, उसे दूर करनेको स्नानादि संस्कार नहीं करना, धूल नहीं छुड़ाना, शरीर नहीं पोंछना, न उसके कारण चित्तमें खेदित होना (यहां पर मल-त्याग सम्बन्धी अपवित्रता दूर करनेका निषेध न जानना) ॥ (१९) 'सत्कार पुरस्कार परीषह'—आप आदर सत्कारके योग्य होते हुए भी कोई आदर-सत्कार न करे तथा निन्दा करे तो मनमें खिन्न न होना ॥ (२०) 'प्रज्ञा परीषह'—विशेष ज्ञान होते हुए भी उसका अभिमान न करना ॥ (२१) 'अज्ञानपरीषह'—बहुत तपश्चरणादि करते हुए भी आपको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होते तथा अन्यको थोड़े तपश्चरणादिसे ज्ञानकी प्राप्ति होती देख खेद नहीं करना ॥ (२२) 'अदर्शन परीषह'—ऐसा सुना है

तथा शास्त्रोंमें भी कहा हुआ है कि तप बलसे अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं, मुझे दीर्घ काल कठिन कठिन तप करतेहो गया परन्तु अभीतक कोई ऋद्धि उत्पन्न नहीं हुई सो यह उपर्युक्त बातां कदाचित् असत्य तो नहीं है ? ऐसा संशय न करना ॥

तेरह प्रकार चारित्र-पहले, पंचाचार यथा—(१) दर्शनाचार—तत्वार्थमें परमार्थ रूप श्रद्धानकी प्रवृत्ति करना ॥ (२) 'ज्ञानाचार'--ज्ञान का प्रकाश करना, अर्थात् ज्ञान बढ़ाने के लिये शास्त्रोंका अध्ययन करना ॥ (३) 'चारित्राचार'-- पाप क्रियाओंकी निवृत्ति अर्थात् प्राणिवधका परिहार करना ॥ (४) 'तपाचार'—कर्मोंके नाश करनेवाले काय-क्लेश, प्रायश्चित्तादि तप करना ॥ (५) 'वीर्यचार'--अपनी शक्तिको न छिपाते हुए शुभ तथा शुद्ध क्रियाओंमें शक्ति भर उत्साह पूर्वक प्रवृत्ति करना* ॥ 'दूसरे पंचसमिति'--यथा:—(१) 'ईर्यासमिति चार हाथ प्रमाण निर्जन्तु पृथ्वी निरखते हुए तथा इधर उधर न देखते हुए गमन करना ॥ (२) 'भाषासमिति'—अपने तथा दूसरोंके हितरूप तथा मितरूप वचन बोलना ॥ (३) 'एषणासमिति'-४६ दोष, बत्तीस अन्तराय, १४ मल दोष टाल कर शुद्ध आहार लेना ॥ (४) 'आदाननिक्षेपणसमिति'-शास्त्र, पीछी, कमंडलादि धर्मोपकरणोंको देख-शोधकर उठाना, रखना ॥ (५) 'प्रतिष्ठापनासमिति-मल, मूत्र, कफादि शरीरके मल प्राशुक एवं शुद्ध भूमिमें क्षेपण करना ॥ 'तीसरे त्रिगुप्ति यथा:-मन-वचन-काय की प्रवृत्तिको रोकना सो मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति तथा कायगुप्ति हैं ॥

इस प्रकार उपर्युक्त आस्रवके ५७ कारणोंको, संवरके ५७ कारणों द्वारा रोकनेसे शुभाशुभ कर्मोंका आना नहीं होता।

---

*किसी-किसी ग्रन्थ में पंचचार की जगह पंच महाव्रत कहे गए है।

६- निर्जरा तत्त्व वर्णन

पूर्वसंचित कर्मोंका एकदेश (कुछ अंश) क्षय होना 'निर्जरा'-कहलाती है। यह दो प्रकारकी है। (१) 'सविपाक-निर्जरा-जो कर्म उदय कालमें रस (फल) देकर नष्टहों, ऐसी निर्जरा सम्पूर्ण संसारी जीवोंके सदा काल होती रहती है। यह मोक्षमार्गमें कार्यकारी नहीं होती, क्योंकि इससे नवीन कर्मबंध होता है ॥ (२) 'अविपाकनिर्जरा'--परिणामोंकी निर्मलतासे अर्थात् इच्छाओंको रोक चित्तको राग द्वेष रहित करके ध्यान करनेसे व तप करनेसे पूर्वसंचित (सत्तास्थित) कर्मोंका अपने उदय कालके पहिले ही बिना रस एकदेश नाश (क्षय) हो जाना ॥ यह अविपाक 'निर्जरा मोक्षमार्गमें कार्य-कारी है, क्योंकि यह संवरपूर्वक होती है अर्थात् इसमें नवीन कर्मोंका बंध नहीं होता ॥

७ मोक्ष तत्त्व वर्णन

सर्वकर्मोंके सर्वथा नाश होनेसे आत्माके स्वभाव-भाव का प्रकट हो जाना अर्थात् भावकर्म (रागद्वेष) द्रव्य कर्म (ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों) तथा नोकर्म (औदारिक आदि शरीरों) से रहित होकर अपने अनंतज्ञान-अनंतदर्शनादि आत्मीक गुणोंको प्राप्त होना और सदाके लिये जन्म-जरा मृत्यु रहित निर्बंध अवस्थाको प्राप्त हो जाना सो मोक्ष है।

इन उपर्युक्त सप्त तत्वोंको नीचे लिखे अनुसार चिंतवन करनेसे मिथ्यात्व मन्द पड़ता है और सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी सभावना हो जाती है। यथा—(१) 'जीवतत्व-जो दर्शन-ज्ञानमय चेतनास्वरूप है सो मैं आत्मराम हूँ, मेरा स्वभाव देखने-जानने मात्र है, परन्तु अनादिकालसे कर्मसम्बन्धके

कारण रागद्वेषमय, आत्मीक तुच्छ शक्तियों युक्त मनुष्य पर्याय रूप हो रहा हूँ। (२) अजीवतत्व'—सामान्यरूपसे पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल अचेतन जड़ हैं, मैं आत्मा अजीव नहीं हूं, मेरा स्वभाव ठीक इनसे विपरीत चैतन्यरूप (३) 'आस्रवतत्व—यह तत्व जीव-पुद्गल संयोगजन्य है, उसमें राग, द्वेष, मोह रूप जीवके भाव भावास्रव हैं तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंके योग्य पुद्गलवर्गणाओंका आना सो द्रव्य आस्रव है, ये दोनों मेरे चैतन्य स्वरूपसे पृथक त्यागने योग्य हैं। (४) बंधतत्व—मैं जो रागद्वेष-मोह भावरूप परणमता हूं सो मेरा चेतन-आत्मा इनसे बंधता है यह भावबंध है और ज्ञानावरणादि आठ प्रकार पुद्गल-कर्मोंका प्रकृति, प्रदेश, अनुभागयुक्त आत्मासे एकक्षेत्रावगाहरूप होना सो द्रव्यबंध है। यह बंधतत्त्व आत्माका विभाव, संसार--चतुर्गति भ्रमणका कारण त्यागने योग्य है। (५) संवरतत्त्व—आत्माका राग द्वेष-मोह भावरूप न होना, ज्ञान-दर्शनरूप चेतन्य भावमें स्थिर रहना सो संवर, आत्माका भाव है, उपादेय है, इससे नूतन कर्मोंका आस्रव-बंध रुक जाता है जिससे आगामी कर्मपरिपाटी का उच्छेद हो जाता है। (६) निर्जरातत्त्व—पूर्व संचित कर्मों के उदय या उदीरणासे जो सुख-दुख वर्तमानमे उपस्थित होते हैं उन्हें मैं जो साम्यभावपूर्वक सहन करूं तो मेरा राग-द्वेष भाव मन्द पड़े तथा प्राचीन कर्म रस रहित होकर झड़ते जायें, आत्मा निर्मल होती जाय, अतएव यह निर्जरा तत्त्व उपादेय है। (७) (मोक्षतत्व)—घातिकर्मोंका अभाव होकर आत्माका अनन्त चतुष्टय स्वभाव प्राप्त होना सो भाव-मोक्ष और आत्माकी निष्कर्म-निर्मल अवस्था हो जाना सो द्रव्यमोक्ष है। य मोक्ष तत्त्व आत्माका स्वभाव है। भावार्थः—आत्माके स्वभाव। विभावोंका चिन्तवन करनेसे संवर-निर्जरा पूर्वक मोक्ष होती है।

इसी प्रकार अन्य पदार्थ जो दृष्टिगोचर हों, उनमें इस प्रकार तत्त्वोंका चिन्तवन करे। यथा स्त्री दिखाई दे, तब ऐसा विचारे, यह स्त्री जीव नामक तत्त्वकी विभाव पर्याय है। इसका शरीर पुद्गलका पिण्ड है। यह जो हाव-भाव चेष्टा करती सो आस्रव तत्व है। इसकी आत्माकी मलिनता इसके आस्रव तथा बंधका कारण है। यदि इसको देख मेरे विकार भाव हों तो मेरे भी कर्मोंका आस्रव बंध हो। यदि दोनोंके भाव निर्मल रहें और सर्व पदार्थोंमें रागद्वेष रहित प्रवृत्ति हो, आत्मस्वरूप में स्थिरता हो, तो संवर-निर्जरापूर्वक मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है।

प्रगट रहे कि जहाँ तहाँ शास्त्रोंमें उपर्युक्त सप्त तत्त्वोंके साथ पुण्य-पापको मिलाकर नव पदार्थोंका वर्णन किया गया है। यद्यपि पुण्य-पाप, आस्रव हीके भेद हैं अर्थात् शुभास्रव पुण्यरूप और अशुभास्रव पापरूप है, तथापि आचार्योंने व्यवहारी-मन्दबुद्धि जीवोंको स्पष्ट रूपसे समझानेके लिए पुण्य-पापको पृथक रीतिसे वर्णन किया है। यहांपर जो आस्रवके ५७ भेद कहे गये हैं, उनमें ५ मिथ्यात्व और १२ अविरति तो पापास्रव ही के कारण हैं और कषाय तथा योगों की जब शुभरूप प्रवृत्ति होती है तब पुण्यास्रव होता है और जब अशुभ रूप प्रवृत्ति होती है तब पापास्रव होता है।

सम्यक्त्व का स्वरूप।

इस प्रकार ऊपर कहे हुए द्रव्यों तथा तत्त्वोंका स्वरूप भली भांति जानकर उन पर दृढ़ विश्वास करना ही सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व या श्रद्धान कहाता है। यह श्रद्धान धर्मरूप वृक्षकी जड़ यथार्थमें तत्त्वज्ञानपूर्वक आत्मधर्ममें श्रद्धा रुचि, प्रतीति रूप है॥ आप्त, आगम, पदार्थादिका श्रद्धान निश्चय सम्यक्त्व

-का कारण है इसलिए व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है और आत्मश्रद्धान कार्यरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है जो आत्माका स्वभाव है। इसके उत्पन्न होनेपर उपाधिरहित शुद्धजीवकी साक्षात् अनुभूति (स्वानुभवगोचरता) होती है ॥ यह अनुभव अनादि कालसे मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) कर्मके उदयसे विपरीत रहता है। प्रकट रहे कि अनादि मिथ्यादृष्टि* जीवके दर्शन मोहकी एक मिथ्यात्व प्रकृतिकी ही सत्ता होती है। जब जीवका पहिले ही पहिल तत्त्व श्रद्धान होनेसे उपशमसम्यक्त्व होता है तो उस समय मिथ्यात्वकी उदयरहित अवस्थामें परिणामोंकी निर्मलतासे उस सत्तास्थित मिथ्यात्व प्रकृतिका द्रव्य शक्तिहीन होकर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति-मिथ्यात्व इन तीन रूप हो जाता है। इसके सिवाय अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभकी चार प्रकृति भी इस मिथ्यादर्शनकी सहकारिणी हैं। इसी कारण अनादिमिथ्यादृष्टि के ४ अनन्तानुबंधी १ मिथ्यात्व और सादिमिथ्यादृष्टि* के ४ अनन्तानुबन्धी ३ मिथ्यात्वकी सत्ता होती है और इन्हीं पांच या सात प्रकृतियों के उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें उपादानकारण आत्माके परिणाम और बाह्यकारण सामान्यरूप से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी योग्यताका मिलना है। वहाँ द्रव्योंमें प्रधान द्रव्य तो साक्षात् तीर्थकरके दर्शन-उपदेशादि हैं। क्षेत्रमें समवसरण, सिद्धक्षेत्रादि हैं। कालमें अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल संसार परिभ्रमणका

---

* जिस जीविको अनादिकाल से कभी सम्यकक्त्व (आत्म के स्भाव विभावो का श्रद्धान) नहीं हुआ उसे अनादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। और सम्यक्त्वी होकर पुनः आत्मश्रद्धान से च्युत होकर मिथ्यात्वी हो जाता है उसे सादिमिथ्यादृष्टि कहते हैं।

शेष रहना है। भावमें अधःप्रवृत्त आदि करण (भाव) है। तथा विशेषकर अनेक हैं। यथा किसीके अरहंतके बिम्बका दर्शन करना है, किसीके तीर्थ करके जन्म कल्याण आदिकी महिमाका देखना है, किसीके जातिस्मरण (पूर्व जन्मकी बातोंकी स्मृति) है, किसीके वेदना (दुःख) का अनुभव है, किसीके धर्मश्रावण और किसीके देवादिककी ऋद्धिका देखना है। इत्यादि सहकारी अनेक कारण हैं। भव्य जीवको जब इन मेंसे कोई बाह्य कारण मिलता है तब सम्यक्त्वकी बाधक उपर्युक्त ५ या ७ प्रकृतियोंका उपशम (अंतमुहूर्त तक उदय आकर रस देनेके अयोग्य) होनेसे उपशम सम्यक्त्व हो जाता है। इस सम्यक्त्वको जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति अन्तमुहूर्त की है। पश्चात् नीचे लिखी चार अवस्थाओं में से कोई एक अवस्था अवश्य हो जाती है। अर्थात् जो मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय आजाय तो मिथ्यात्वी, अनन्तानुबन्धी किसी कषायका उदय हो जाय तो सासादनसम्यग्दृष्टि, और जो मिश्रमोहनीय का उदय हो जाय तो मिश्रसम्यक्त्वी हो जाता है, अर्थात् उसके सम्यक्त्व और मिथ्यात्वसे विलक्षण मिश्ररूप परिणाम हो जाते हैं, जैसे दही, गुड़ मिश्रित खट्टा-मीठा रूप मिश्रित स्वाद होता है। कदाचित् किसी जीवके सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वका उदय हो जाय तो क्षयोपशम या वेदक* सम्यक्त्व हो जाता है। इसकी जघन्यस्थिति अंतमुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति साधिक ६६ सागर है। यद्यपि क्षयोपशम सम्यक्त्व में सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व

---

* सम्यक्त्वकी घातक सर्वघातिया (४ अनन्तानुबन्धी, मिथ्यात्व और मिश्र मिथ्यात्व), प्रकृतियोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा क्षयोपशम-सम्यक्त्व और सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्वके उदयकी अपेक्षा वेदक सम्यक्त्व कहाता है।

के उदयसे किंचित् मल-दोष लगते हैं तथापि वे मल-दोष सम्यक्त्वके घातक न होनेसे सम्यक्त्व नहीं छूटता ॥ जब जीवके सम्यक्त्वकी विरोधिनी उपर्युक्त ७ प्रकृतियोंकी सत्ताका सर्वथा अभावहो जाताहै तब क्षायिक सम्यक्त्व होताहै इसकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति साधिक कुछ अधिक) तेतीस सागर है। इस प्रकार उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकके भेदसे सम्यक्त्व ३ प्रकार है।

'पंचाध्यायी'में सम्यक्त्वको परमावधि, सर्वावधि तथा मनःपर्यय ज्ञानका विषय कहा है, सो दर्शन मोहकी कर्म प्रकृतिके उपशम, क्षयोपशम या क्षय (को जानने) की अपेक्षा जान पड़ता है। 'अन्यग्रन्थों में' यह भी कहा है कि सम्यक्त्वके परिणाम (भाव) केवलज्ञानगम्य हैं सो सम्यक्त्व होनेपर आत्मामें जो निर्मलता उत्पन्न होती है उस भावकी अपेक्षा कहा हुआ जान पड़ता है ॥ छद्मस्थ (अल्प-ज्ञानी) के प्रकट रूप से ज्ञान में आनेके लिए परिणामोंके प्रकट होने योग्य चिन्हों की परिक्षा करके सम्यक्त्वके जाननेका व्यवहार है यदि ऐसा न हो तो छद्मस्थ—व्यवहारी जीवके सम्यक्त्वके होने का निश्चय न होनेसे आस्तिक्यका अभाव ठहरे और व्यवहार का सर्वथा लोप होजाय। इसी कारण आप्त (सच्चे देव) के कहे हुए वाह्य चिन्हों की आगमन (शास्त्र) अनुमान तथा स्वानुभव से परीक्षा करके निश्चय करना योग्य है।

सम्यक्त्व के चिह्न

सम्यक्त्वका मुख्य चिन्ह तो उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माकी अनुभूति है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञानका विशेष है तथापि सम्यक्त्व होनेपर इस अनुभूतिका स्वसंवेदन ज्ञानद्वारा इस प्रकार आस्वाद एवं अनुभव होता है कि "यह

शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूं तथा जो विकार है सो कर्मजनित भाव हैं मेरा स्वरूप नहीं" इस प्रकार भेद ज्ञानपूर्वक ज्ञानका आस्वाद, ज्ञानकी तथा आत्माकी अनुभूति कहाती है यह अनुभूति शुद्धनयका विषय, स्वानुभवगोचर और वचनअगोचर है। यह अनुभूति ही सम्यक्त्वका मुख्य चिन्ह है जो मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धी कषायके अभावसे उत्पन्न होता है। इसके होनेसे प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्यादि गुण प्रगट होते हैं, इन गुणोंके आश्रयसे ही सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके जानने का व्यवहार है। इस विषयमें अपनी परीक्षा तो अपने स्वसंवेदन ज्ञान से होती है और दूसरोंकी उनके मन, वचन, काय की चेष्टा एवं क्रियाद्वारा की जाती है।

जिस सम्यक्त्व के साथ प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिय-युक्त राग भाव होता है उसे सराग सम्यक्त्व कहते हैं। और जिसमें केवल चैतन्य मात्र आत्मस्वरूपकी विशुद्धता होती है उसे वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं। यद्यपि कषायोंकी मन्दता, संसारसे उदासीनता, धर्मानुराग, अहिंसारूप भाव, और तत्व-श्रद्धानकी दोनों सम्यक्त्वोंमें समानता है तथापि अहिंसामें जैसे वीतरागभाव और दयामें जैसे सरागभाव होते हैं वैसे ही सराग-वीतराग सम्यक्त्वके भावोंमें अनन्तर जानना॥ 'भावार्थ'—वीतराग सम्यक्त्वमें आत्मश्रद्धान वीतरागता लिये उदासीनता रूप और सराग सम्यक्त्वमें रागभावादि युक्त अनुकम्पादिरूप होता है॥ ये सराग-वीतराग विशेषण सम्यक्त्व चौथे गुण-स्थानसे छठे गुणस्थान तक शुभोपयोगकी मुख्यता लिये होता है और वीतराग सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोगकी मुख्यता लिये होता है॥ अब यहां इन चारों चिन्होंका स्पष्ट स्वरूप कहते हैं॥

प्रशम—मिथ्यादृष्टियोंमें तथा उनके वाह्यभेषोंमें सत्य-श्रद्धानका अभिमान, आत्माके अतिरिक्त शरीरादि पर्यायोंमें आत्मबुद्धिका अभिमान वा प्रीति, कुदेवादिकमें भक्ति, और अन्यायरूप विषय (सप्तव्यसनादि) सेवनमें रुचि ये सब बातें अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे होती हैं, परन्तु जिस जीवके प्रशमभाव उत्पन्न हुआ हो उसके ऐसे भाव नहीं होते अथवा जिस प्रकार अपना बुरा करनेवालोंके घात करनेका विचार मिथ्यादृष्टि करता है वैसा निर्दयभाव सम्यग्दृष्टि नहीं करता। वह विचारता है कि मेरा भला बुरा जो कुछ हुआ है वह वास्तव में मेरे शुभाशुभ परिणामों द्वारा बांधे हुए पूर्वसंचित कर्मोंका फल है। ये अन्य पुरुष तो निमित्त मात्र हैं। ऐसे यथार्थ विचारोंके उत्पन्न होनसे उस प्रशमवान् जीवकी कषाय मन्द रहती है अथवा अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयवश न्यायपूर्वक विषयोंमें लोलुपता तथा गृहस्थीके आरम्भादिकमें प्रवृत्ति होती है सो भी बहुत विचारपूर्वक होती है। वह विवश इन कार्योंको करते हुए भी भला नहीं समझता, अपनी निन्दा गर्हा करता रहता है। वह विचारता है कि कौन समय हो, जब इन जंजालोंसे दूर होकर इष्ट सिधिके सन्मुख होऊं। ऐसी कषायोंकी मन्दताको प्रशम कहते हैं। भावार्थ—जहां अनंतानुबंधी कषायकी चौकड़ी सबंन्धी रागद्वेषका अभाव हो जाता है, सो प्रशम है॥

संवेग—धर्म तथा धर्मके फलमें अनुराग एवं परम उत्साह का उत्पन्न होना संवेग कहलाता है। इसको अभिलाषा या वांछा नहीं कह सकते, क्योंकि अभिलाषा या वांछा इन्द्रिय-विषयोंकी चाहको कहते हैं, सो वह यहां है नहीं, यहां तो केवल आत्म-हितरूप शुभ वांछा है। इसीमें संसार-शरीर भोगोंसे विरक्ता-

रूप निर्वेद भी गर्भित है, क्योंकि जब पंचपरिवर्तनरूप संसार से भयभीतपना होकर अपने आत्मस्वरूप धर्मकी प्राप्तिमें अनुराग होता है तभी अन्य सांसारिक विषयाभिलाषसे तथा परद्रव्योंसे सच्ची विरागता होती है यही निर्वेद कहलाता है ॥

अनुकम्पा—अन्य प्राणियोंको दुखी देखकर दयावश दुखी होना, उनके दुख दूर करनेका शक्तिभर उपाय करना, न चले तो पश्चात्ताप करना और अपना बड़ा दुर्भाग्य मानना । इस प्रकार अनुकम्पा करनेसे अपने तांई पुण्यकर्मका बन्ध होनेके कारण तथा कुछ अंशोंमें पापकर्मके बंधसे बचनेके कारण अपनी आत्मा पर भी अनुकम्पा होती है ।

आस्तिक्य—लोकमें (संसारमें जो जीवादि पदार्थ हैं उनका भलीभांति बोध दो प्रकारसे होता है । एक तो हेतुवाद नय—प्रमाणद्वारा । दूसरे सूक्ष्म स्वभावसे इन्द्रियोंके अगोचर जैसे परमाणु अन्तरित (कालसे अन्तर वाले जैसे राम रावण) दूरवर्ती (देशकी अपेक्षा जैसे मेरु) पदार्थोंका आगमन प्रमाण से ॥ अतएव अपनी बुद्धिपूर्वककी हुई श्रद्धाको अथवा सर्वज्ञ वीतराग देव (केवली) ने सूक्ष्मादि पदार्थोंका जैसा निरूपण किया है यथार्थमें पदार्थोंका स्वरूप वैसा ही है, अन्यथा प्रकार नहीं, इस प्रकारकी श्रद्धाको आस्तिक्य कहते हैं ॥

कई ग्रन्थोंमें सम्यक्त्वके साथ संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा इन ८ गुणोंका उत्पन्न होना कहा है । सो ये आठों गुण उपर्युक्त चारों भावनाओंमें ही गर्भित हो जाते हैं । यथा—प्रशममें निन्दा-गर्हा, संवेगमें निर्वेद, वात्सल्य और भक्ति गर्भित हैं ॥

सम्यक्त्वके अष्ट अङ्ग।

सम्यक्त्वके ८ अङ्ग होते हैं यथा—निश्शङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन या उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ॥ इनका स्पष्ट वर्णन लिखा जाता है :—

(१) निश्शंकित अंग—शङ्का नाम संशय तथा भयका है। इस लोकमें धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, पुद्गल परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, द्वीप, समुद्र, मेरु पर्वतादि दूरवर्ती पदार्थ, तथा तीर्थंकर, चक्रवर्ती, राम, रावणादि अन्तरित पदार्थ हैं। इनका वर्णन जैसा सर्वज्ञ-वीतराग भाषित आगममें कहा गया है सो सत्य है या नहीं ? अथवा सर्वज्ञ देवने वस्तुका स्वरूप अनेकान्तात्मक अनन्तधर्मसहित) कहा है सो सत्य है कि असत्य ? ऐसी शङ्का उत्पन्न न होना सो निश्शङ्कितपना है; क्योंकि ऐसी शङ्का मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होती है ॥

पुनः मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे पर पदार्थोंमें आत्मबुद्धि उत्पन्न होती है। इसी को पर्यायबुद्धि कहते हैं अर्थात् कर्मोदय से मिली हुई शरीरादि सामग्रीको ही जीव अपना स्वरूप समझ लेता है। इस अन्यथा बुद्धि से ही सप्त प्रकारके भय उत्पन्न होते हैं। यथा—इहलोकभय, परलोकभय, मरणभय वेदनाभय, अनरक्षाभय, अगुप्तिभय और अकस्मात्भय ॥ जब इनमेंसे किसी प्रकारका भय हो तो जानना चाहिये कि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे हुआ है ॥ यहाँपर कोई शङ्का करे कि भय तो श्रावकों तथा मुनियोंके भी होता है, क्योंकि भयप्रकृतिका उदय अष्टम गुणस्थान तक है तो भय का अभाव सम्यक्त्वीके कैसे सम्भव हो सकता है।
उसका समाधान-सम्यग्दृष्टिके कर्मके उदयका स्वामीपना नहीं है

और न वह परद्रव्य द्वारा अपने द्रव्यत्वभावका नाश मानता है, पर्यायका स्वभाव विनाशीक जानता है। इसलिये चारित्रमोह सम्बन्धी भय होते हुए भी दर्शनमोह सम्बन्धी भयका तथा तत्त्वार्थश्रद्धानमें शङ्काका अभाव होनेसे वह निश्शङ्क और निर्भय ही है॥ यद्यपि वर्तमान पीड़ा सहनेमें अशक्त होनेके कारण भय से भागनाआदि इलाज भी करता है तथापि तत्त्वार्थ श्रद्धानसे चिगने रूप दर्शनमोह सम्बन्धी भयका लेश भी उसे उत्पन्न नहीं होता। अपने आत्मज्ञान-श्रद्धानमें निश्शङ्क रहता है॥

(२) **निःकांक्षित अङ्ग**—विषय-भागोंकी अभिलाषाका नाम कांक्षा या वांछा है यह भोगविलाष मिथ्यात्वकर्मके उदय मे होता है, इसके चिन्ह ये हैं—पहिले भोगे हुए भोगोंकी वांछा उन भोगोंकी मुख्य क्रियाकी वांछा, कर्म और कर्मके फलकी वांछा, मिथ्यादृष्टियोंको भोगोंकी प्राप्ति देखकर उनको अपने मनमें भले जानना अथवा इन्द्रियोंकी रुचिके विरुद्ध भोगों में उद्वेगरूप होना ये सब सांसारिक वांछनाएँ हैं। जिस पुरुष के ये न हों सो निकांक्षित अङ्ग युक्त है। सम्यग्दृष्टि यद्यपि कर्म के उदयकी जबर्दस्तीसे इन्द्रियोंको वश करनेमें असमर्थ है इसलिए पंचइन्द्रियोंके विषय सेवन करता है तो भी उसको उन से रुचि नहीं है। ज्ञानी पुरुष व्रतादि शुभाचरण करता हुआ भी उनके उदयजनित शुभ फलोंकी वांछा नहीं करता, यहाँ तक कि व्रतादि शुभाचरणोंको आत्मस्वरूपके साधक जान आच-रण करते हुए भी हेय जानता है।

(३) **निर्विचिकित्सा अङ्ग**—अपनेको उत्तम गुणयुक्त समझकर अपने ताईं श्रेष्ठ माननेसे दूसरेके प्रति जो तिरस्कार करनेकी बुद्धि उत्पन्न होती है उसे विचिकित्सा या ग्लानि

कहते हैं। यह दोष मिथ्यात्वके उदयसे होता है। इसके बाह्य चिन्ह ये हैं-जो कोई पुरुष पापके उदयसे दुखी हो वा असाता के उदयसे ग्लान--शरीरयुक्त हो, उसमें ऐसी ग्लानिरूप बुद्धि करना कि "मैं सुन्दर रूपवान्, संपत्तिवान्, बुद्धिमान् हूं, यह रंक--दीन, कुरूप मेरी बराबरीका नहीं"। सम्यग्दृष्टिके ऐसे भाव कदापि नहीं होते, वह विचार करता है कि जीवोंकी शुभाशुभ कर्मोंके उदयसे अनेक प्रकार विचित्र दशा होती हैं। कदाचित् मेरा भी अशुभ उदय आजाय तो मेरी भी ऐसी दुर्दशा होना कोई असंभव नहीं है। इसलिये वह दूसरोंको हीन बुद्धि से या ग्लान-दृष्टि से नहीं देखता॥

४ अमूढदृष्टिअंग—अतत्त्वमें तत्त्वके श्रद्धान करनेकी बुद्धिको मूढदृष्टि कहते हैं। यह मिथ्यात्वके उदयसे होती है। जिनके यह मूढदृष्टि नहीं; वे अमूढदृष्टि अंग युक्त सम्यग्दृष्टि हैं। इसके बाह्य चिन्ह ये हैं:-मिथ्यादृष्टियोंने पूर्वापर विवेक बिना, गुण दोषके विचार रहित अनेक पदार्थोंको धर्मरूप वर्णन किये हैं और उनके पूजनेसे लौकिक और पारमार्थिक कार्योंकी सिद्धि बताई है। अमूढदृष्टिका धारक इन सबको असत्य जानता और उनमें धर्मरूप बुद्धि नहीं करता तथा अनेक प्रकारकी लौकिक मूढताओंको निस्सार तथा खोटे फलोंकी उत्पादक जानकर व्यर्थ समझता है, कुदेव या अदेवमें देव बुद्धि, कुगुरु या अगुरु में गुरुबुद्धि, तथा इनके निमित्त हिंसा करनेमें धर्म मानना आदि मूढदृष्टिपनेको मिथ्यात्व समझ दूर ही से तजता है, यही सम्यक्त्वी का अमूढदृष्टिपना है।

यहां प्रसंग पाकर देव, गुरु, शास्त्र व पंचपरमेष्ठीका संक्षिप्त स्वरूप वर्णन किया जाता है—

देव, गुरु, शास्त्र तथा पंचपरमेष्ठो का वर्णन।

देव—जिस किसी भी आत्मासे रागादि दोष और ज्ञानावरणादि आवरण सर्वथा नष्ट हो जाते हैं वह देव कहलाता है। यहां देव शब्दसे देवगति सम्बन्धी चार प्रकारके देव नहीं, किन्तु परमात्मा समझना चाहिये। देव सामान्य अपेक्षा से तो एक ही प्रकार है; परन्तु विशेष अपेक्षा अर्हंत, सिद्ध दो प्रकार हैं तथा गुणोंकी मुख्यता, गौणताकी अपेक्षा तथा नामादि भेद से अनेक प्रकार हैं तो भी अर्हंत, सिद्ध ये प्रसिद्ध हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है—'अर्हत् या' अर्हंत—जिस आत्माने गृहस्थावस्थाको छोड़कर मुनिपद धारणकर लिया हो-और शुक्ल ध्यानके बलसे चार घातियाकर्मोंका नाश करके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य (अनंत-चतुष्टय) की प्राप्ति कर ली हो और जो परम औदारिक शरीर में रहकर भव्य-जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देता हो, उसे अर्हंत कहते हैं। अर्हंतमें आत्मिक अनंतचतुष्टय गुणके सिवाय बाह्य ३४ अतिशय, अष्टप्रातिहार्य और भी होते हैं इस तरह बाह्य-अभ्यंतर सब मिलकर ४६ गुण होते हैं। (२) सिद्ध—जो पौद्गलिक देहरहित परमात्मा लोकके शिखर (अन्त) में स्थित हैं, अष्ट कर्मके अभावसे आत्मिक सम्यक्त्वादि अष्टगुणमंडित हैं, जन्म, जरा, मरणसे रहित हैं, और अनंत, अविनाशी आत्मिक सुखमें मग्न हैं वे सिद्ध कहलाते हैं। इन ही अर्हंत सिद्ध-परमात्माके गुणोंकी अपेक्षा अनेक नाम हैं यथा—अर्हंत, जिन, सिद्ध, परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, हरि, बुद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग, शंकर, त्रिलोकज्ञ आदि ॥

गुरु—जो सांसारिक विषय-कषायोंसे विरक्त हो कर आरंभ परिग्रहको त्याग मोक्षसाधनेमें तत्पर हों और स्वपर-

कल्याण में कटिबद्ध हों, वे गुरु कहलाते हैं। वास्तव में ऐसे परम गुरु तो अर्हंत देव ही हैं; क्योंकि उक्त सब गुण इन ही में पूर्णताको प्राप्त हुये हैं। इनके अतिरिक्त इनकी परिपाटीमें चलने वाले, छद्मस्थ, क्षायोपशमिक ज्ञानके धारक, निर्ग्रंथ दिगम्बर मुद्राधारी भी गुरु हैं। क्योंकि इनके भी एकदेश रागादि दोषोंकी हीनता और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्रकी शुद्धता पाई जाती है। यही शुद्धता, संवर-निर्जरा-मोक्षका कारण है। ये ही गुरु मोक्षमार्गके उपदेशक हैं। इस प्रकार सामान्यरीतिसे गुरु एक प्रकार हैं और विशेषरीतिसे पदस्थके अनुसार आचार्य, उपाध्याय, साधु तीन भेद रूप हैं। इन तीनोंमें मुनि-पनेकी क्रिया, बाह्य निर्ग्रंथ लिङ्ग, पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्तिका साधन, शक्ति अनुसार तप, साम्यभाव, मूलगुण-उत्तरगुण धारण, परीषह उपसर्ग सहन, आहार-विहार निहारकी विधि, चर्या-आसन-शयनकी रीति, मोक्षमार्गके मुख्य साधक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्रकी प्रवृत्ति, ध्यान—ध्याता—ध्येयपना. ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेयपना, चरित्र—आराधना का आराधन, क्रोधादि कषायोंका जीतना आदि सामान्य मुनियोंके आचरणकी समानता है। विशेषता यह है—(आचार्य) जो अवपीड़क, अपरिश्रावी आदि अष्टगुणयुक्त हों, स्वयं पंचाचार पालें और अपने संघके मुनि-समूह को पंचाचार (ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार, वीर्याचार) अंगीकार करावें। लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित दें और धर्मोपदेश—शिक्षा—दीक्षा दें। इस प्रकार साधुके २८ मूलगुणोंके सिवाय उत्तम क्षमादि दश धर्म, अनशनादि बारह तप दर्शनाचारादि पंचाचार, समता, वंदनादि षट् आवश्यक कर्म तथा त्रिगुप्तिसहित ३६ गुण और भी आचार्योंमें होते हैं। (उपाध्याय) जो (वादित्व) (वादमें जीतनेकी शक्ति)

(वाग्मित्व) (उपदेश देनेमें कुशलता) (कवित्व) (कविता करनेकी शक्ति) (गमकत्व) (टोका करनेकी शक्ति) इन चार गुणोंमें प्रवीण हों और द्वादशांकके पाठी हों। इनमें शास्त्राभ्यास करना, कराना, पढ़ना, पढ़ाना मुख्य है। इसलिये साधुओंके २८ मूलगुणोंके सिवा ११ अंग १४ पूर्वका पाठीपना इस प्रकार २५ गुण और भी उपाध्यायमें होते हैं। (साधु—रत्न) त्रयात्मक आत्मस्वरूप साधनेमें सदा तत्पर रहते और बाह्यमें शास्त्रोक्त दिगम्बर वेषधारी २८ मूलगुणोंके धारक होते हैं। ये तीनों प्रकारके साधु दयाके उपकरण पीछी, शौच के उपकरण कमंडल और ज्ञानके उपकरण शास्त्रयुक्त होते हैं, और आगमोक्त ४६ दोष ३२ अन्तराय १४ मलदोष बचाकर शुद्ध आहार लेते हैं। ये ही मोक्षमार्ग के साधक सच्चे साधु हैं और ये ही गुरु कहलातेहैं॥

शास्त्र—जो सर्वज्ञ, वीतराग और हितापदेशी आप्त (अर्हत) द्वारा कहे गये हों अर्थात् अर्हत देवकी दिव्यध्वनि से उत्पन्न हुए हों, जिनका वादी प्रतिवादियोंके द्वारा खंडन न हो सके, जो प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंसे विरोध रहित हों, तत्वोपदेशके करने वाले, सर्वके हितैषी और मिथ्या अंधकार के दूर करने वाले हों, वे ही सच्चे शास्त्र (आगम) हैं। ऐसा नहीं, कि यह प्राकृतभाषामय हैं या संस्कृतमय हैं अथवा बड़े आचार्योंके नामसे वेष्टित हैं इसलिये ये हमारे मान्य हैं, हम इन्हींके वाक्योंको मानेंगे; किन्तु वस्तु स्वरूपके निर्णय करने में अनेक आगमोंका अवलोकन, युक्ति का अवलम्बन परंपरा या उपदेशक गुरु और स्वानुभव इन चारका भी आश्रय लेना चाहिये। इस प्रकार निर्णय करनेसे जो वस्तु स्वरूप निश्चित हो वही श्रद्धान करने योग्य है। क्योंकि इस घोर पंचमकालमें

कषायभावसे कई पाखंडियोंने शास्त्रोंमें महान २ आचार्यों सरीखे नामोंको रचयिताके स्थान पर लिखकर अन्यथा, धर्म-विरुद्ध, विषय कषायपोषक रचना भी कर डाली है। इस प्रकार देव, गुरु, शास्त्रके वर्णनके भीतर पंचपरमेष्ठीका संक्षिप्त स्वरूप कहा गया।

(५) उपगूहन अंग—इसको उपबृंहण भी कहते हैं। पवित्र जिनधर्ममें अज्ञानता अथवा अशक्तासे उत्पन्न हुई निन्दाको योग्य रीतिसे दूर करना तथा अपने गुणोंको वा दूसरोंके दोषोंको ढांकना सो उपगूहन है। पुनः अपनी तथा अन्य जीवोंकी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-शक्तिका बढ़ाना, सो उपबृंहण है ॥

[६] स्थितिकरण अंग—आप स्वयं या अन्य पुरुष कर्मके उदयवश ज्ञान, श्रद्धान, चारित्रसे डिगते या छूटते हों, तो अपने को व उन्हें दृढ़ तथा स्थिर करना सो स्थितिकरण अंग है।

[७] वात्सल्य अंग— अर्हत, सिद्ध, सिद्धांत, उनके बिम्ब, चैत्यालय, चतुर्विध संघ तथा शास्त्रोंमें अन्तःकरणसे अनुराग करना, भक्ति-सेवा करना सो वात्सल्य है। यह वात्सल्य वैसा ही होना चाहिये, जैसे स्वामीमें सेवककी अनुराग पूर्वक भक्ति होती है या गायका बछड़ेमें उत्कट अनुराग होता है। यदि इन पर किसी प्रकारके उपसर्ग या संकट आदि आवें, तो अपनी शक्ति भर मैटनेका यत्न करना चाहिए, शक्ति नहीं छिपाना चाहिये ॥

[८] प्रभावना अंग—जिस तरह से बनसके, उस तरह से अज्ञान अंधकारको दूर करके जिन शासनके माहात्म्यको

प्रगट करना प्रभावना है अथवा अपने आत्म-गुणोंको उद्योत रूप करना अर्थात् रत्नत्रयके तेजसे अपनी आत्माका प्रभाव बढ़ाना और पवित्र मोक्ष दायक जिनधर्म को दान-तप विद्या आदिका अतिशय प्रगट करके तन, मन, धन, द्वारा (जैसी अपनी योग्यता हो सर्व लोकमें प्रकाशित करना सो प्रभावना है इस प्रकार ऊपर कहे हुए आठ अंग जिस पुरुष के २५ मल दोष रहित प्रगट हों वह सम्यग्दृष्टि है॥

२५ मल दोषों का वर्णन।

अष्ट दोष—उपर्युक्त अष्ट अंगोंसे उल्टे (विरुद्ध) शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनूपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना ये अष्ट दोष मिथ्यात्वके उदयसे होते हैं। इसलिये सम्यक्त्वके अष्ट अंगोंका जो स्वरूप ऊपर कहा गया है उससे उल्टा दोषोंका स्वरूप जानना चाहिये। इन दोषोंको मन-वचन-कायसे त्यागनेसे सम्यक्त्व शुद्ध होता है। यद्यपि जहां तहां इनको अतीचार रूप कहा है तथापि ये त्यागने ही योग्य हैं; क्योंकि जैसे अक्षर न्यून मंत्र विषकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार अंग रहित सम्यक्त्व संसार भ्रमणको नहीं मिटा सकता। पुनः इनके होनेसे तीन मूढता, षट् अनायतन, अष्ट मद ये दोष उत्पन्न होते हैं, और सम्यक्त्व को दूषित करके नष्ट कर देते हैं, अतएव ये अष्ट दोष त्यागने योग्य हैं॥

तीन मूढ़ता (१) देव मूढ़ता—किसी प्रकारके वर (सांसारिक भोगों या पदार्थोंकी इच्छाकी पूर्ति) की वांछा करके रागी-द्वेषी देवोंकी उपासना करना, उन्हें पाषाणादिमें स्थापन करना, पूजना आदि देव मूढ़ता है। (२) (गुरु मूढ़ता) परि-

ग्रह, आरम्भ और हिंसादि दोषयुक्त पाखंडी-भेषियोंका आदर सत्कार-पुरस्कार करना गुरुमूढ़ता है॥ (३) (लोक मूढ़ता) जिस क्रियामें धर्म नहीं, उसमें अन्यमतियोंके उपदेशसे तथा स्वयमेव बिना विचारे देखादेखी प्रवृत्ति करके धर्म मानना सो लोकमूढ़ता है। यथा सूर्यको अर्घ देना, गंगास्नान करना, देहली पूजना, सती (मृतक पतिके साथ चिता पर जलजाना) होना आदि ॥

षट् अनायतन—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म (कुशास्त्र) तथा इनके सेवकोंको धर्मके स्थान समझकर उनकी स्तुति-प्रशंसा करना सो षट् अनायतन है। क्योंकि ये छहों सर्वथा धर्मके ठिकाने नहीं हैं ॥

अष्टमद— पूजा (बड़प्पन), कुल (पितापक्ष), जाति (मातापक्ष), बल, ऋद्धि (धन-सम्पत्ति) तप तथा अपने शरीर की सुन्दरताका मद करना और इनके अभिमान वश धर्म-अधर्मका, हित-अहितका, कुछ भी विचार न करना, आत्म-धर्म तथा आत्महितको भूल जाना। जिस तरह मद्य पीनेवाला मद्य पीकर बेसुध हो जाता है, उसी तरह धर्मकी ओरसे बेसुध हो जाना।

इस प्रकार सम्यक्त्वकी निर्मलताके लिये उपर्युक्त २५ मल दोषोंको सर्वथा त्यागना योग्य है ॥

पंचलब्धिका वर्णन

सम्यक्त्व प्राप्तिके लिए नीचे लिखी हुई पांच बातोंकी प्राप्ति (लब्धि) होना आवश्यक है:—

(१) जीव के इस संसारमें भ्रमण करते हुए जब कभी पापकर्मका मन्द उदय तथा पुण्य प्रकृतियोंका तीव्र उदय

होता है तब वह पंचेन्द्रियपना, मनुष्यपर्याय, उत्तम कुल, शारीरिक नीरोगता, दीर्घायु, इन्द्रियोंकी पूर्णता, कुटुम्बकी अनुकूलता, आजीविका की योग्यता आदि सामग्री पाकर कुछ सुखी और धर्मके सन्मुख होने योग्य हो सकता है। इस प्रकारकी सामग्रीके प्राप्त होनेको 'क्षयोपशम' लब्धि कहते हैं।

(२) क्षयोपशम लब्धि द्वारा साता प्राप्त होने पर जब कुछ मोह तथा कषाय मन्द होती है, तब वह जीव न्याय मार्ग तथा शुभकर्मोंमें रुचि करता हुआ धर्मको हितकारी जान उसकी खोज करता है, 'सो विशुद्धिलब्धि' है ॥

(३) तत्वोंकी खोजमें प्रयत्नशील होने पर पूर्ण भाग्योदय वश वीतरागी-विज्ञानी-हितोपदेशी देव, निर्ग्रन्थ गुरुका तथा उनके द्वारा कथित शास्त्रोंका वा उनके मार्गके श्रद्धानी सदाचरणी विद्वानोंका समागम मिलना, पुनः उनके द्वारा धर्म का स्वरूप और सांसारिक दशाका सत्य स्वरूप प्रकट होना तथा उनके द्वारा प्राप्त हुए उपदेशके धारण करनेकी शक्ति का होना सो देशना लब्धि कहलाती है ॥ इतना होनेपर वह जीव मनमें विचारने लगता है कि यथार्थमें ये ही देव, धर्म, गुरु इनके मार्गमें प्रवर्तनेवाले अन्य सत्पुरुष हमको सुमार्ग बतलाने वाले हमारे हितैषी हैं ये स्वयं संसार सागरसे पार होते हुए दूसरोंको भी पार करने वाले हैं और जो रागी द्वेषी देव, गुरु, धर्म हैं वे पत्थरकी नावके समान स्वयं संसारमें डूबनेवाले और अपने आश्रित-जनोंको डुबाने वाले हैं, वह इसका प्रत्यक्ष भी अनुभव करता है, कि हर एक मतमें जब नाममात्रके तत्वज्ञानी तथा संसारसे विरक्त पुरुष पूज्य माने जाते हैं तो जो पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) और संसारसे अत्यंत विरक्त (वीतरागी) देव, गुरु, धर्म हैं, वे सर्वोपरि आत्मकल्याणकारी और पूज्य क्यों न हों ? तथा उनके कहे हुए तत्व हितकारी क्यों न हों ?

अवश्य ही हों। क्योंकि जिस तत्वोपदेशदातामें सर्वज्ञता-वीत-रागता अर्थात् रागद्वेष रहितपना (क्रोध-मान-माया-लोभादि कपाय तथा इन्द्रियोंकी विषय वासनासे रहितता) होगा, वही उपदेष्टा सच्चा आप्त हो सकता है। उसीके वचन हितकारी तथा मानने योग्य हैं। क्योंकि जो स्वतः जिस मार्ग पर चलकर परम उत्कृष्ट स्थान (परमेष्ठीपने) को प्राप्त हुआ है, वही संसारी जीवोंको उस पवित्र मार्गका उपदेश देकर मुक्तिके सन्मुख कर सकता है। जिसमें उपर्युक्त गुण नहीं, किन्तु राग-द्वेष और अल्पज्ञता है उसके वचन कदापि हितकारी और आद-रणीय नहीं हो सकते। सो यथार्थमें देखा जाय तो उपर्युक्त पूर्ण गुण भगवान अर्हंत ही में पाये जाते हैं, या एकदेश उनके अनुयायी दिगम्बर आचार्यादिकोंमें होते हैं ॥ जब जीवको ऐसा दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब वह विचारने लगता है कि मैं कौन हूं ? पद्गल शरीरादिसे मेरा क्या सम्बन्ध है ? संसार (जन्ममरण) का कारण क्या है ? कर्मबंधन क्या है इसके छूटनेका क्या उपाय है ? कर्मबन्धनसे छूटने पर आत्मा किस हालतको प्राप्त होता है ? और इसके लिए मुझे क्या कर्तव्य करना चाहिये ? ॥

(४) जब इस प्रकार आत्महित का विचार और ऊहापोह किया जाता है और काललब्धिकी निकटता होती है तब पूर्वमें बंध किये हुए सत्ता-स्थित कर्मोंकी स्थिति घटकर अंतः-कोटा कोटी सागर* की रह जाती है और नवीन बंधने वाले कर्म भी ऐसी ही मध्यम स्थितिको लेकर बंधते हैं। ऐसी दशामें

---

* कोट (करोड़) सागर से ऊपर कोटा कोटी (करोड़ × करोड़) सागरसे नीचे अर्थात् इन दोनोंके मध्यवर्ती कालको अंतः कोटा कोटी सागर कहते हैं ॥

शुभ (पुण्य) प्रकृतियोंका रस (अनुभाग) बढ़ने लगता है और पाप प्रकृतियोंका रस घटने लगता है। इस प्रकारकी योग्यताकी प्राप्ति 'प्रायोग्य लब्धि' कहलाती है ॥

(५) इन उपर्युक्त चार लब्धियोंके प्राप्त होने पर जब जीव तत्वविचारमें संलग्न होता है और उसके परिणामोंमें अंतर्मुहूर्तके अनंतगुणी विशुद्धता होती है। तब इस विशुद्धता रूप करणलब्धिके बलसे सम्यक्त्वकी घातक मिथ्यात्व प्रकृति अनंतानुबंधी चौकड़ी इन पांचों प्रकृतियोंका (अनादि मिथ्यादृष्टिके पांच और सादिमिथ्यादृष्टिके सात) अंतर्मुहूर्तके लिये अंतरकरण पूर्वक उपशम (उदय न होना, सत्तामें स्थित रहना) हो जानेसे उपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। इस उपशम सम्यक्त्वके कालमें परिणामोंकी निर्मलताके कारण मिथ्यात्व प्रकृतिके द्रव्यका अनुभाग क्षीण होकर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, तथा सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व इन तीन रूप परिणम जाता है। सम्यक्त्व होनेके पूर्व जो मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषाय अपनी तीव्र दशामें इस जीव को आत्महित करनेवाले तत्वोंके विचारोंके निकटवर्ती नहीं होने देते तथा मोक्षमार्गसे विमुख विचारोंमें उद्यम करते थे, उन्हीं के उदयके अभाव होनेसे जीवका "सम्यग्दर्शन" गुण प्रकट हो जाता है, जिससे सच्चे देव, धर्म, गुरु पर, सात तत्वों पर पर तथा आत्मतत्व पर पुरुषार्थी मुमुक्षुओंकी अटूट भक्ति तथा दृढ़ श्रद्धा हो जाती है। प्रगट रहे कि जीवको प्रथम उपशम सम्यक्त्व ही होता है। पश्चात् उपशम सम्यक्त्वका काल (अंतर्मुहूर्त) पूर्ण होने पर सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वके उदय होनेसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हो जाता है। पुनः जो जीव क्षयोपशम सम्यक्त्वकी दशामें ४ अनंतानुबंधी तथा तीन मिथ्यात्व इन सातोंका क्षय कर देता है उसके क्षायिक सम्य-

क्त्व हो जाता है, इनका विशेष वर्णन श्रीगोमट्टसारजीसे जानना ॥

किसी जीवके तो पूर्व जन्मके तत्वविचारकी वासनासे वर्तमानमें परोपदेशके बिना निसर्गज सम्यक्त्व (स्वतः) ही उत्पन्न होता है तथा किसीके वर्तमान पर्यायमें उपदेश पाकर तत्वबिचार करनेसे अधिगमज सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। पहिले कह ही चुके हैं कि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिको बाह्यकारण देव, गुरु, शास्त्रका समागम, उपदेशकी प्राप्ति, विभवका देखना, वेदना (तकलीफका अनुभव आदि है। तहां नरक में यद्यपि देव, गुरु, शास्त्रका समागम नहीं है, तो भी तीसरे नरक तक तो स्वर्गवासी देव जाकर, उपदेश देकर सम्यक्त्व ग्रहण करा सकते हैं, तथा नीचेके नरकोंमें वेदनाजनित दुःखों के अनुभवसे सम्यक्त्व हो सकता है। देवोंमें देवदर्शन, गुरु उपदेशादि बन ही रहा है। मनुष्यों, तिर्यचों में देव, गुरु, शास्त्र का समागम तथा पूर्वस्मरण भी सम्यक्त्वको कारण होता है ॥ इससे स्पष्ट होता है कि चारों गतिके सैनी पर्याप्त भव्यजीवोंको जागृत अवस्थामें सम्यक्त्व हो सकता है। तिस पर भी मुख्य-तया मनुष्य पर्यायमें जितनी अधिक योग्यता सम्यक्त्व तथा चारित्र प्राप्तिकी है—उतनी और पर्यायोंमें नहीं। मनुष्य पर्याय ही एक ऐसी अमूल्य नौका है जिसपर चढ़कर जीव संसार सागरसे पार हो मुक्तिपुरीमें पहुँच सकता है। फिर भी अन्य पर्यायोंमें जो थोड़ा सा कारण पाकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है सो भी पूर्वकालमें मनुष्य-पर्यायमें तत्वोंकी भलीभांति ऊहापोह (छान बीन) करनेका फल है। इस प्रकार दृढ़ विश्वास (सम्यक्त्व) के प्राप्त होने पर ही चारित्रका धारण करना कार्यकारी हो सकता है। अन्यथा बिना उद्देश्योंके समझे-बूझे व्रतादि धारण करना अंधेकी दौड़के समान व्यर्थ अथवा

अल्प (निरतिशय) पुण्यबंधका कारण होता है। देखो सम्यक्त्वकी महिमा, जिसके प्रभावसे सम्यग्दृष्टि गृहस्थको द्रव्यलिंगी मुनिसे भी दुष्ट कहा है, क्योंकि यद्यपि द्रव्यलिंगी मुनि चारित्र पालन करता है तो भी सम्यक्त्व रहित होनेसे मोक्षमार्गी नहीं है और गृहस्थ चारित्र रहित है तो भी सम्यक्त्व सहित होनेसे मोक्षमार्गी है। सम्यक्त्व होने पर देवायुके सिवाय नरक, तिर्यंच, मनुष्य आयुका बंध नहीं होता, यदि सम्यक्त्व होनेके पूर्व नरकायुका बंध हो गया हो, तो सम्यक्त्व सहित प्रथम नरक तक अथवा सम्यक्त्व छूट कर तीसरे नरक तक जाता है, नीचे नहीं जाता। यदि, तिर्यंच या मनुष्यायुका बंध हो गया हो तो सम्यक्त्व होने पर भोग-भूमिका मनुष्य या तिर्यंच होता है। सम्यक्त्वी जीव भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषीदेव, स्त्रीपर्याय, स्थावर, विकलत्रय तथा पशूपर्यायमें नहीं जाता; किन्तु सम्यक्त्वके प्रभावसे जब तक निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति न हो, तबतक इन्द्र, चक्रवर्ती, मंडलीक राजा, तीर्थंकर आदि महान् अभ्युदययुक्त पद पाता हुआ अल्पकाल ही में मोक्ष जाता है॥

उपसंहार—इस क्षेत्रमें इस घोर पंचमकालमें साक्षात् पंच परमेष्ठीका समागम मिलना दुर्लभ है। इससे उनके रचित जैनागम तथा उस पवित्र मार्गके अनुसार प्रवर्तनेवाले सम्यक्त्वी वा एकदेशचारित्रके धारक विद्वानोंके समागम द्वारा तत्वार्थ श्रद्धानपूर्वक आत्मश्रद्धा न करना तथा इससे शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा—स्तुति इन पंच अतीचारोंको त्याग सम्यक्त्वको निर्दोष करना चाहिये; क्योंकि सम्यक्त्व रूपी दृढ नींवके बिना चारित्ररूपी महल नहीं बन सकता, इसी कारण आचार्योंने कहा है कि "सम्मं धम्मो

मूलो" सम्यक्त्व धर्मको जड़ है। इसके प्राप्त होते ही कुज्ञान, सुज्ञान और कुचारित्र हो जाता है॥ 'भावार्थ' सम्यक्त्व होने से ही कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान होकर आत्महितके मार्गमें यथार्थ प्रवृत्ति होती है। सम्यत्व होने पर ही चारित्रमोहके अभावके लिये संयम धारण करनेस आत्मस्वभाव (धर्म) की उत्पत्ति अर्थात् कषायादि विभाव भावोंका अभाव होकर शुद्ध चैतन्य भाव प्रगट होता है।

सम्यग्ज्ञान प्रकरण।

दोहा॥ निश्चय आतमज्ञान पुनि, साधन आगम बोध॥
सम्यग्दर्शन पूर्व जिहि, सम्यग्ज्ञान विशोध॥१॥

आत्मामें अनंत स्वभाव तथा शक्तियां हैं। पर सबमें मुख्य ज्ञान है; क्योंकि इसी प्रसिद्ध लक्षण द्वारा आत्मा का बोध होता है तथा आत्मा इसीके द्वारा प्रवृत्ति करता है। यद्यपि संसारी अशुद्ध आत्माका ज्ञान अनादिकाल से ज्ञानावरण कर्मसे आवृत्त (ढँका) हो रहा है तो भी सर्वथा ढँका नहीं गया, थोड़ा बहुत सदा खुला ही रहता है; क्योंकि गुणका सर्वथा अभाव कभी होता नहीं। जैसा २ ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम घटता बढ़ता, वैसा २ ही ज्ञान घटता बढ़ता रहता। जबतक दर्शन मोहनीय कर्मका उदय रहता है, तबतक ज्ञान कुज्ञानरूप परिणमता है। जब आत्मा तथा पुद्गलकर्म का भेदविज्ञान हो जाता और मोहके उदयका अभाव होने या मंद पड़नेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, तब वही ज्ञान सुज्ञान हो जाता है। प्रगट रहे कि यद्यपि आत्मा का यह ज्ञान गुण अखंडित चैतन्यरूप एक ही प्रकार है, तथापि अनादिकालसे ज्ञानावरण कर्मकी मतिज्ञानावरणी, श्रुत-

ज्ञानावरणी, अवधिज्ञानावरणी, मनः पर्ययज्ञावरणी, केवल-ज्ञानावरणी इन पंच प्रकार कर्म प्रकृतियोंसे आवृत होनेके कारण यह ज्ञान खंड २ रूप हो रहा है इसी कारण ज्ञानके सामान्यतः ५ भेद हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें केवलज्ञान सिवाय शेष ४ ज्ञान तो अपने २ आवरणके हीनाधिक क्षयो-पशमके अनुसार कम बढ़ होते हैं। सिर्फ केवलज्ञान के केवल-ज्ञानोंवरणीके सर्वथा क्षय होने पर ही उत्पन्न होता है। इन पांचो ज्ञानोंमें से मति-श्रुति-अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यारूप रहते हैं और मिथ्याज्ञान कहलाते हैं, सम्यकत्व होने पर सम्यकरूप सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं। विशेष यह भी है कि परमावधि और सर्वावधि ज्ञान सम्यक् ही होते हैं मिथ्या नहीं होते, इसी प्रकार मनःपर्यय तथा केवलज्ञान भी सम्यक ही होते हैं; क्योंकि इनकी उत्पत्ति सम्यग्दृष्टिके ही होती है। इन पांचों ज्ञानोंमें यद्यपि मति-श्रुत दोनों ज्ञान परोक्ष हैं तथापि इन्द्रिय प्रत्यक्ष होनेसे मतिज्ञान सांवयवहारिक—प्रत्यक्ष कहलाता है। अवधि, मनःपर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष और केवल-ज्ञानसकल प्रत्यक्ष होता है। प्रत्येक जीवके कमसे कम मति-श्रुत ये दो ज्ञान प्रत्येक दशामें अवश्य ही रहते हैं।

अब इन पांचों ज्ञानोंका स्वरूप कहते हैं 'मतिज्ञान' मति-ज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके 'अनुसार इन्द्रियों और मनके द्वारा जो ज्ञान होता है वह 'मतिज्ञान' कहता है जैसे—स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्शका जानना, रसना इन्द्रियसे रसका जानना, नासिका इन्द्रियसे गंधका बोध होना, चक्षुसे रूप का देखना, कानसे शब्दका सुनना तथा मनकी सहायतासे किसी विषय का स्मरण करना, ये सब मति ज्ञान है। प्रत्यभिज्ञान, तर्क तथा अनुमान ये भी मतिज्ञान हो है। इस मतिज्ञानके

पांचों इन्द्रियों, छठे मनके द्वारा बहु बहु-विधि आदि ज्ञेय पदार्थों के अर्थावग्रह, व्यंजनावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा होनेसे ३३६ भेद होते हैं ॥

श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके अनुसार मतिज्ञान द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थोंके अवलम्बन-से पदार्थोंसे पदार्थान्तरका जानना सो 'श्रुतज्ञान है। यह अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक दो प्रकारका होता है। जैसे स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ठण्डा ज्ञान होने पर "ये मुझे अहितकारी हैं" ऐसा अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान होता है, इसकी प्रवृत्ति सैनी पंचेन्द्रियके मनकी सहायतासे स्पष्ट और एकेन्द्रियसे असैनी पंचेन्द्रिय तक मनके बिना आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाओं तथा मतिज्ञानकी सहायतापूर्वक यत्किंचित् सामान्य आभास-मात्र होती है। पुनः "घोड़ा" ये दो अक्षर पढ़कर या सुनकर घोड़ा पदार्थका जानना ऐसा अक्षरात्मक श्रुतज्ञान केवल सैनी पंचेन्द्रियोंके ही होता है। इसी कारण "श्रुतमनिन्द्रियस्य" ऐसा तत्वार्थशास्त्रमें कहा हुआ है। दोनों ज्ञानोंमें अक्षरात्मक श्रुत-ज्ञान ही मुख्य है; क्योंकि सांसारिक लैन-दैन तथा पारमार्थिक मोक्षमार्ग सम्बन्धी संपूर्ण व्यवहार इसीके द्वारा होता है। यह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान, जघन्य एक अक्षरसे लेकर उत्कृष्ट अंग-पूर्व-प्रकीर्णकरूप जितना केवलज्ञानीकी दिव्यध्वनिके अनुसार श्रीगणधरदेवने निरूपण किया है उतना है॥ इस श्रुतज्ञानका विषय केवल ज्ञानकी नांई अमर्यादारूप है, अवधि-मनःपर्यय ज्ञानकी नांई मर्यादरूप नहीं है। रूपी-अरूपी सभी पदार्थ इसके विषय हैं। अन्तर यह है कि केवलज्ञान विषद प्रत्यक्ष और श्रुतज्ञान अविशद-परोक्ष हैं ॥

अवधिज्ञान—अवधि ज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोप-

शम होते हैं, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी मर्यादाको लिये हुये रूपी पदार्थों को (इन्द्रिय-मनकी सहायता बिना ही) आत्मा जिस ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष जाने, वह अवधिज्ञान कहलाता है। यह दो प्रकारका होता है॥ (१) 'भवप्रत्यय' जो देव, नारकी, छद्मस्थ-तीर्थंकरके सर्व आत्मप्रदेशोंमें अवधिज्ञानावरण, वीर्यान्तराय-के क्षयोपशमसे होता है, इन जीवोंके अवधिज्ञानका मुख्य कारण भव ही है और यह देशावधिरूप ही होता है। (२) **गुणप्रत्यय**—पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पंचेन्द्री पर्याप्त तिर्यंच के सम्यग्दर्शन तथा तप गुणसे नाभिसे ऊपर किसी अंगमें शंख-चक्र-कमल-वज्र-सांथिया-मत्स्य (माछली) कलश आदि चिन्हयुक्त आत्मप्रदेशोंमें अवधिज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होता है। यह देशावधि, परमावधि, सर्वावधि तीनों रूप होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान अनुगामी-अननु-गामी, अवस्थित अनवस्थित, वर्धमान-हीयमानके भेदसे ६ प्रकारका होता है॥ जो अवधिज्ञान जीवके एक भवसे दूसरे भवमें साथ चला जाय सो भवानुगामी, जो भवान्तरमें साथ न चला जाय सो भवाननुगामी है। जो अवधिज्ञान क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें जीवके साथ चला जाय सो क्षेत्रानुगामी है। और जो क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें जीवके साथ न जाय सो क्षेत्राननुगामी है। जो अवधिज्ञान भव तथा क्षेत्रसे भवान्तर तथा क्षेत्रान्तरमें साथ जाय सो उभयानुगामी, जो भवान्तर तथा क्षेत्रान्तरमें साथ न जाय सो उभयनानुगामी है। जो अवधिज्ञान जैसा उपजै तैसा ही बना रहे सो अवस्थित। जो घटै बढ़ै सो अनवस्थित है। जो उत्पन्न होने पर क्रमशः बढ़ता हुआ उत्कृष्ट हद तक चला जाय सो वर्धमान और जो क्रमशः घट कर नष्ट हो जाय सो हीयमान है॥

अवधिज्ञानके सामान्यसे तीन भेद हैं। देशावधि, परमा-

वधि, सर्वावधि ॥ (१) देशावधि—इसका विषय तीनोंमें थोड़ा है, यह भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनों रूप होता है तथा संयमी-असंयमी दोनोंके होता है। इसका उत्कृष्ट भेद मनुष्य-महाव्रती ही के होता है। यह प्रतिपाती छूट जाने वाला) अप्रतिपाती (न छूटने वाला) दोनों प्रकारका होता है ॥ परमावधि —मध्यम भेदरूप और सर्वावधि—एक उत्कृष्ट भेदरूप ही होता है। ये दोनों चरम शरीरी तद्भवमोक्षगामीके ही होते हैं ॥ देशावधि-परमावधि दोनोंके विषयभूत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके भेदोंकी अपेक्षा असंख्यात भेदरूप होते हैं और सर्वावधि केवल एक भेदरूप ही होता है ॥

मनःपर्ययज्ञान—मनःपर्यय ज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशम होते, आंगोपाङ्ग नाम कर्मके अवलम्बनसे परके मनके संबन्धसे, अवधिज्ञान द्वारा जानने योग्य द्रव्यके अनंतवें भाग सूक्ष्म, रूपी पदार्थको जिस ज्ञानके द्वारा आत्मा स्वतः प्रत्यक्ष जाने, सो मनःपर्यज्ञान कहाता है। इसका क्षयोपशम संयमी मुनियोंके ही मनके आत्म-प्रदेशोंमें (जहाँ मति-ज्ञानावरणका क्षयोपशम है) होता है ॥ इसके दो भेद हैं ॥

(१) **ऋजुमति**—जो पर के मन में तिष्ठते, सरल मन-द्वारा चिन्तवन किये हुये, सरल वचन द्वारा कहे हुये, सरल काय द्वारा किये हुये पदार्थ को किसी के पूछे या बिना पूछे ही जाने, जो इस पुरुष ने ऐसा चिंतवन किया, ऐसा कहा, ऐसा काय द्वारा किया, इस प्रकार आपके—परके जीवित-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जान सकता है ॥

(२) **विपुलमति**—जो सरल वा वक्र मन, वचन, काय

द्वारा चिन्तित अर्ध चिन्तित-अचिंतित ऐसे ही कहे हुये—किये हुये पुनः कालान्तरमें विस्मरण हुए मनमें मौजूद पदार्थको पूछे या बिना पूछे ही जाने। इस प्रकार आपके वा परके जीवित-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ को विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानी जान सकता है॥

केवलज्ञान – ज्ञानावरण, अंतराय कर्मके सर्वथा क्षय होने से जो आत्माका स्वच्छ-स्वाभाविक ज्ञान प्रगट होता है सो केवलज्ञान है। यह आत्माके सर्व प्रदेशोंमें होता, इसकी स्वच्छतामें लोकालोकके सम्पूर्णरूपी-अरूपी पदार्थ अपनी भूत-भवष्यित्-वर्तमान कालिक अनंत पर्यायों सहित युगपत् झलकते हैं। यह ज्ञान परमात्म अवस्थामें होता है॥

इन ज्ञानोंके विशेष भेद वा स्वरूपका वर्णन श्रीगोमट्ट-सारजीके ज्ञान–मार्गणाधिकारसे जानना, यहाँ प्रसङ्गवश दिग्दर्शन मात्र लिखा है॥

सम्यग्दर्शनके विषयमें जितना कुछ कहा गया है वह ज्ञान का ही विषय है। यह सम्यग्दर्शन, जीव-अजीवादि तत्त्वार्थमें उन्मुखी बुद्धि (श्रद्धा) उनमें प्रीति (रुचि) और दृढ़ विश्वास (प्रतीति) होनेसे होता है। इस प्रकार निश्चय तत्त्वार्थ श्रद्धान के साथ ही शुद्धानुभूति होती है। सम्यग्ज्ञानमें संशय-विपर्यय अनध्यवसाय नहीं रहते, सो ही शास्त्रोंमें स्पष्ट कहा है कि "जीवादि मोक्षमार्गके उपयोगी पदार्थोंको न्यूनता—अधिकता-विपरीतता तथा सन्देह रहित जैसाका तैसा जानने वाला सम्यग्ज्ञान है।"

इस सम्यग्ज्ञानका मुख्य कारण श्रुतज्ञान है। विषयभेद से इसके चार विभाग हैं, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इनमें आत्मज्ञानकी उत्पत्तिका कारण-

पना होनेसे इन्हें वेद भी कहते हैं ॥ इन चारोंका स्वरूप इस प्रकार है ॥

(१) **प्रथमानुयोग**—इसमें मुख्यतया ६३ शालाकापुरुषों का अर्थात् २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायणका तथा इनके अंतर्गत और भी अनेक प्रधान पुरुषोंका चरित्र वर्णन है। तहाँ चरित्रके आश्रय पुण्य-पापरूप कार्य तथा उनके फलका वर्णन है। इसके अध्ययन करनेसे जीव पापोंसे हट कर पुण्यकी ओर झुकता और धर्मके सामान्य स्वरूपको जानकर विशेष जाननेका अभिलाषी होकर दूसरे २ अनुयोगोंका अभ्यास करता है। आरंभमें धर्मके सन्मुख करनेको उपयोगी होनेसे प्रथमानुयोग इसका सार्थक नाम है ॥

(२) **करणानुयोग**—इसमें तीन लोकका अर्थात् ऊर्ध्व-लोक (स्वर्गों) का, मध्यलोक (इस मनुष्यलोक) का, अधो-लोक नरकों) का विस्तारपूर्वक वर्णन है। तथा आत्मामें कर्म के मिश्रितपनेसे गति, लेश्या, कषाय, इन्द्रियां, योग, वेदादि रूप कैसी २ विभाव अवस्थाएं होती और कर्मोंकी हीनाधिकतासे उनमें किस २ प्रकार अदल-बदल अथवा हानि—वृद्धि होती है अथवा किस क्रमसे इनका अभाव हो कर आत्मा निष्कर्म अवस्थाको प्राप्त होता है, कर्मोंके भेद, बंध, उदय, सत्ता आदि का विस्तृत वर्णन है। इसका हर एक विषय गणितसे सम्बन्ध रखता है, इसलिये इसे करणानुयोग कहते हैं ॥

(३) **चरणानुयोग**—इसमें श्रावक (गृहस्थ) तथा मुनि (साधु) धर्मका वर्णन है। इसमें बताया गया है कि किस २ प्रकार पापोंके त्यागनेसे आत्म-परिणाम उज्ज्वल होकर कर्म-

बंधका अभाव होता है और आत्मा शुद्ध अवस्थाको प्राप्त हो सकता है। आत्मामें कर्मोंके बंध होनेका कारण आत्माके मलिन भाव अर्थात् राग-द्वेष हैं और आत्माके कर्मबंध से छूटने (मुक्त होने) का कारण निर्मल भाव हैं, इसलिये इस अनुयोगमें क्रमशः उज्ज्वल भाव होनेके लिये आचरण-विधि बताई गई है इसलिए इसे चरणानुयोग कहते हैं॥

(३) द्रव्यानुयोग—इसमें जीवादि षट् द्रव्यों, सप्त तत्वों नव पदार्थों और जीवके स्वभावों विभावोंका वर्णन है, जिस से जीवको वैभाविक-भावोंके त्यागने और स्वाभाविक भावोंके प्राप्त करनेकी रुचि उत्पन्न हो। इसमें द्रव्योंका वर्णन विशेष रूपसे होनेके कारण यह द्रव्यानुयोग कहलाता है॥

सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके आठ अङ्ग हैं। [१] शब्दाचार-व्याकरणके अनुसार अक्षर-पद-वाक्योंका शुद्ध उच्चारण करना। [२] अर्थाचार—शब्द और यथार्थ अर्थको अवधारण करना॥ [३] उभयाचार—शब्द और अर्थ दोनोंकी शुद्धता करना॥ [४] कालाचार—योग्य कालमें श्रुत अध्ययन करना। गोसर्ग काल (दोपहरके दो घडी पहिले और प्रातःकालके २ घडी पीछे) प्रदोषकाल (दोपहरके दो घड़ी पीछे तथा संध्याके २ घडी पहिले अथवा संध्याके २ घड़ी पीछे और अर्धरात्रिके २ घड़ी पहिले) विरात्रि काल—(अर्ध रात्रिके २ घड़ी पीछे और प्रातःकालके २ घड़ी पहिले) इन कालोंके सिवाय दिग्दाह, उल्कापात, इन्द्रधनुष सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, तूफान. भूकम्पादि, उत्पातोंके समय सिद्धान्तग्रन्थों (अङ्गपूर्वों) का पठन-पाठन वर्जित है। स्तोत्र आराधना धर्म कथादि ग्रन्थोंका पठन-पाठन वर्जित नहीं है। (५) विनयाचार—शुद्ध जलसे हस्त-पादादि प्रक्षालन कर शुद्ध स्थानमें पर्यंकासन बैठकर पूज्यबुद्धिपूर्वक

नमस्कारयुक्त शास्त्र पठन पाठन करना अथवा आप शास्त्रमर्मी होकर भी नम्ररूप रहना, उद्धतरूप न होना ॥ (६) उपधानाचार—स्मरणसहित स्वाध्याय करना (७) बहुमानाचार—ज्ञान, पुस्तक, शिक्षक, विशेषज्ञानी इनका यथायोग्य आदर-करना ग्रन्थको लाते-लेजाते उठ खड़ा होना, पीठ नहीं देना, ग्रन्थको उच्चासन पर विराजमान करना, अध्ययन करते समय अन्य वार्तालाप न करना, अशुचि अंग-अशुचि वस्त्रादिका स्पर्श न करना (८) अनिन्हवाचार—जिस शास्त्र, जिस गुरु से शास्त्र ज्ञान हुआ हो, उसका नाम न छिपाना, छोटे शास्त्र या अल्पज्ञानी शिक्षकका नाम लेनेसे मेरा महत्व घटजायगा, इस भयसे बड़े ग्रन्थ या बहुज्ञानी शिक्षकका नाम अपने नामथे असत्य ही न लेना; क्योंकि ऐसा करनेमें मायाचारका अति दोष होता है।

इसप्रकार भलीभांति रक्षापूर्वक सम्यग्ज्ञानके अङ्गोंके पालन करनेसे ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम विशेष होकर ज्ञान बढता है। इसमें एक विशेषता यह भी है कि जितने अंशोंमें संसारकी आसक्ति घटती और चित्त स्थिर होता है, उतना ही अधिक और शीघ्र ज्ञान बढता है, अतएव सम्यग्ज्ञान की वृद्धि के लिए सांसारिक स्थूल २ आकुलताओंका घटाना भी जरूरी है॥

जब कि ज्ञान के बिना सांसारिक तथा पारमार्थिक कोई भी कार्य नहीं सधते, तो हरएक मनुष्यका कर्तव्य है कि सांसारिक प्रयोजनीय विद्याके साथ साथ धर्मस्वरूप जाननेके लिये अपनी स्थितिके अनुसार धर्मशास्त्रोंका बोध होनेके योग्य संस्कृत प्राकृत तथा हिन्दी भाषा स्वयं पढे, अपने स्त्री, पुत्र, पुत्री आदि को पढावे, धर्मशास्त्रोंके मर्म जाननेका प्रयत्न करे। अपनेसे विशेष विद्वानों द्वारा धार्मिक तत्त्वों (गूढ विषयों) के स्वरूपको

स्पष्ट करे; क्योंकि धर्मज्ञानके बिना आजीविका तथा कुटुम्बादि सम्बन्धी सर्व सांसारिक सुख व्यर्थ हैं; आत्महित धर्मज्ञानसे ही होता है, अतएव हरएक स्त्री-पुरुष, पुत्र-पुत्रीको उचित है कि जिसप्रकार आजीविकाके निमित्त विद्याध्ययनमें परिश्रम करते हैं उसी प्रकार आत्मकल्याणके लिए उपर्युक्त सम्यग्ज्ञानके अष्ट अङ्गोंकी रक्षा करते हुए धार्मिक विद्या सीखें, क्योंकि नीति का वाक्य है कि:——

दोहा—कला बहत्तर पुरुषकी, तामें दो सरदार।
एक जीव आजीविका, एक जीव उद्धार ॥ १ ॥

उचित है कि इसप्रकार सामान्य तत्वज्ञानपूर्वक श्रद्धान होने पर ज्ञानकी वृद्धि और परिणामोंकी निर्मलताके लिये सदा शास्त्राभ्यास करता रहे, जिससे पुण्यबन्ध होनेके साथ दिन २ पदार्थोंका विशेष बोध होता जाय।

सम्यक् चारित्र

दोहा—निज स्वरूपमें रमणता, सम्यक्चारित पर्म।
व्यवहारै द्वै विधि कह्यो, श्रावक अरु मुनिधर्म ॥१॥

इस प्रकार ऊपर वर्णन किये हुए अनुसार मिथ्यात्वके अभाव होनेसे भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। साथ २ अनन्तानुबन्धी कषायके अभावसे स्वरूपाचरण चारित्रकी प्राप्ति होती अर्थात् शुद्धात्मजनित निराकुल सच्चे सुखका अनुभव होने लगता है; परन्तु तो भी चारित्रमोह की अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियोंके उदयसे आत्मस्वरूपमें अमलता, अचलता नहीं होती। अतएव इसी

दोषको दूर करनेके लिए उन्हें अणुव्रतादिरूप संयम धारण करनेकी उत्कट इच्छा होती है। अविरत सम्यग्दृष्टी जीव यद्यपि चारित्र मोहकी तीव्रता वश, अनिवार्य बाह्य कारणोंसे पराधीन हुए चारित्र धारण नहीं कर सके, तथापि अन्तरंगमें संसारसे विरक्त और मोक्षसे अनुरक्त रहते हैं। धर्म-मर्मी हो जानेसे उन्हें पवित्र जैन धर्मकी तीव्र पक्ष हो जाता है। नियमपूर्वक एवं क्रमसे व्रत न होने के कारण यद्यपि वे अव्रती हैं तथापि उनके अनन्तानुबन्धीके साथ अप्रत्याख्यानावरणका जैसा तीव्र उदय मिथ्यात्व अवस्थामें था, वैसा तीव्र उदय अनन्तानुबन्धी के अभाव होने पर नहीं रहता, किन्तु मध्यम रूपसे रहता है जिससे अन्याय अभक्ष्यसेवनमें उनकी रुचि नहीं रहती और न वे निरर्गलपने हिंसामें प्रवर्तते हैं। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा उत्पन्न हो जानेसे सप्तव्यसन सेवनकी बात तो दूर ही रहे, इन्द्रियविषयजनित सुख उन्हें दुःखरूप भासने लगते हैं।

भावार्थ—अंतरंगमें उन्हें आत्मसुख झलकने लगता और विषयसुखों से घृणा हो जाती है॥

सम्यग्दृष्टि जीवको दृढ श्रद्धान हो जाता है कि मैं आत्मा शुद्ध चैतन्य शक्ति युक्त होता हुआ कर्मावरणके कारण क्षायोपशामिक ज्ञान-दर्शनरूप अनेकाकार हो रहा हूं, रागद्वेषसे मलि हो निजात्मस्वरूपको छोड़ अन्य पर-पदार्थोंमें रत होरहा हूं, इसलिये कब चारित्र धारण कर रागद्वेषका निर्मूल नाश करूं और निष्कर्म होकर निजस्वरूपमें लीन हो शांत दशा प्राप्त करूं। इस प्रकार स्वरूपाचरण चारित्रका अंश उत्पन्न होना ही सम्यग्दृष्टि-मोक्षमार्गीका असाधारण चिन्ह है। सो ही शास्त्रों में स्पष्ट कहा है कि 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" अर्थात् रत्नत्रयकी एकता ही मोक्षमार्ग है। यदि सम्यग्दृष्टिके

ये स्वरूपाचरण चारित्रका अंश उत्पन्न न हो तो वह मोक्षमार्गी नहीं ठहर सकता।

इस प्रकार संसारसे उदासीनता और आत्महितकी इच्छा उत्पन्न होते ही कोई विरल उत्तम जीव, जिनके चरित्र मोह-का मंद उदय हो, अप्रत्याख्यानावरण–प्रत्याख्यानावरण कषाय की चौकड़ीका उपशम हो गया हो, भव्यता निकट आगई हो, दृढ संहननके धारक हों, वे एकाएक निर्ग्रंथ (मुनि) धर्म धारण कर आत्मस्वरूपको साधन करते है। जिनके चारित्र मोह-की अल्प मंदता हुई हो, अप्रत्याख्यानावरणकी चौकड़ी का उपशम हुआ हो, जो हीन शक्तिके धारक हों, वे श्रावक व्रतों का अभ्यास करते हुए क्रमशः विषय-कषायोंको घटा कर पीछे मुनिव्रत धारण करते और मोक्षके पात्र बनते हैं, यही राजमार्ग है; क्योंकि विषय-कषाय घटाये बिना मुनिव्रत धार लेना अकार्यकारी स्वांगमात्र है। अतएव सम्यक्त्व होने पर राग-द्वेष दूर करनेके लिये अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अनुकूलतानुसार चरित्र धारण करना चाहिये, और यह बात स्मरण रखना चाहिये कि आचार्योंने जहां तहां चारित्र धारण का मूल-उद्देश्य विषय-कषायोंका घटाना बताया है अर्थात् जहां जिस प्रकारका कषायके उत्पादक बाह्य हिंसादिपापोंका त्याग बताया है वहीं उसीके साथ २ उसी प्रकारकी कषायके उत्पादक और २ कारणोंका भी त्याग कराया है। अतएव प्रत्येक जिज्ञासु पुरुषको बहिरङ्ग कारणों और अन्तरङ्ग कारणों की ओर पूरी २ दृष्टि देकर चारित्र धारण करना चाहिये, तभी इष्ट प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है। अन्यथा केवलमात्र कुछ बाह्य कारणोंके छोड़ने और उसी प्रकारके अन्य बहुतसे कारणोंके न छोड़नेसे इष्ट साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती॥

प्रगट रहे कि चारित्र सकल अर्थात् महाव्रतरूप-साधुधर्म और विकल अर्थात् अणुव्रतरूप-गृहस्थधर्म दो प्रकारका होता है ॥ यहां प्रथम ही गृहस्थधर्म का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन किया जाता है; क्योंकि अल्पशक्तिके धारक पुरुषोंको गृहस्थाश्रममें रहकर श्रावक व्रतोंके यथाक्रम ठीक २ रीतिसे अभ्यास करनेसे मुनिव्रत धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है ॥

यद्यपि प्रथमानुयोगके ग्रन्थोंमें सामान्य रीतिसे छोटी मोटी प्रतिज्ञा लेनेवाले जैनी-गृहस्थको भी कई जगह श्रावक कहा है तथापि चरणानुयोगकी पद्धतिसे यथार्थमें पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक तीनोंको ही श्रावक संज्ञा है क्योंकि श्रावक के अष्ट मूलगुण धारण और सप्त व्यसनोंका त्याग ही नाधिक रूपसे इन तीनोंमें पाया जाता है। सो ही सागारधर्मामृतादि ग्रन्थोंमें स्पष्ट कहा है कि पंच उदुम्बरादि त्यागका पंचाणुव्रत धारण और ३ मकारका त्याग श्रावकके अष्ट मूलगुण तथा अहिंसादि १२ अणुव्रत उत्तरगुण हैं। इन्हीं १२ व्रतोंका विशेष श्रावककी ५३ क्रियायें हैं, इन क्रियाओंको धारण एवं पालन करनेके कारण ही श्रावकोंको "५३ क्रिया प्रति-पालक" विशेषण दिया जाता है। इन क्रियाओंकी शोधना क्रमशः प्रथमादि प्रतिमाओंमें होती हुई पूर्णता ग्यारहवीं प्रतिमामें होती है ॥

श्रावक की ५३ क्रियाएँ ।

गाथा ।

गुण-वय-तव-सम-पडिमा, दाणं-जलगालणं च-अणत्थमियं ॥
दंसण-णाण-चरित्तं, किरिया तेवरण सावया भणिया ॥ १ ॥

अर्थ—८मूलगुण, १२ व्रत, १२ तप, १ समता (कषायों की मन्दता) ११ प्रतिमा, ४ दान, १ जलगालण, १ रात्रिभोजन त्याग १ दर्शन, १ ज्ञान, १ चारित्र, ॥ ५३ ॥

अब पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक इन तीन प्रकारके श्रावकों का प्रथक् २ वर्णन किया जाता है ॥

पाक्षिक श्रावक वर्णन ।

जिनको जैनधर्मके देव, गुरु, शास्त्रों द्वारा आत्म-कल्याण का स्वरूप वा मार्ग भली भांति ज्ञात तथा निश्चित हो जानेसे पवित्र जिनधर्मकी तथा श्रावकधर्म (अहिंसादि) की पक्ष हो जाती, जिनके मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भावनायें दिन २ वृद्धिरूप होती जाती जो स्थूल त्रसहिंसाके त्यागी हैं ऐसे चतुर्थ गुणास्थानी सम्यग्दृष्टि, पाक्षिकश्रावक कहलाते हैं। इन्हें व्रतादि प्रतिमाओंके धारण करनेके अभिलाषी होनेसे प्रारब्ध संज्ञा भी है। इनके सप्त व्यसनोंका त्याग तथा अष्ट मूलगुण धारण, सातीचार होता है, ये जान बूझकर अतीचार नहीं लगाते; किन्तु बचाने का प्रयत्न करते हैं, तो भी अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे विवश अतीचार लगते हैं।

पाक्षिक श्रावक आपत्ति आने पर भी पंच परमेष्ठीके सिवाय चक्रेश्वरी, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि किसी देवी-देवताकी पूजा वंदना नहीं करता। रत्नकरंड श्रावकाचारमें श्रीसमंत-भद्रस्वामी

ने भी सम्यग्दृष्टिको इनकी पूजन-वंदनका स्पष्टरूपसे निषेध किया है।

(नोट) जिन धर्मके भक्त देवोंको साधारण रीति पर साधर्मी जान यथोचित आदर सत्कार पूर्वक यज्ञ (प्रतिष्ठा) आदि कार्योंमें उनके योग्य कार्य संपादन करनेके लिए सौंपने से सम्यक्त्वमें कोई हानि-बाधा नहीं आ सकती ॥

अब यहाँ अष्ट मूलगुण और सप्त व्यसन का स्पष्ट वर्णन किया जाता है ॥

अष्ट मूलगुण

कई ग्रन्थोंमें वड़, पीपल, गूलर (ऊमर), कठूमर, पाकर इन पंच उदुम्बर फलोंके (जिनमें प्रत्यक्ष त्रस जीव दिखाई देते हैं) तथा मद्य, मांस, मधु तीन मकारोंके (जो त्रस जीवोंके कलेवर के पिंड हैं) त्याग करने को अष्ट मूलगुण कहा है। रत्नकरंड श्रावकाचारादि कई ग्रन्थों में पंचाणुव्रत धारण तथा तीन मकार के त्याग को अष्ट मूलगुण कहा है। महापुराणमें मधुकी जगह सप्तव्यसनके मूल जूआ खेलनेकी गणनाकी है। सागारधर्मामृतादि कई ग्रन्थोंमें मद्य (शराव) मांस, मधु (शहद) इन तीन मकारके त्यागके ३, उपर्युक्त पंच उदुम्बर फलोंके त्याग का १, रात्रि भोजनके त्यागका १, नित्य देववंदना करनेका १, जीवदया पालनेका १, जल छानकर पीनेका १, इस प्रकार अष्ट मूलगुण कहे हैं। इन सब ऊपर कहे हुए अष्ट मूलगुणों पर जब सामान्यरूपसे विचार किया जाता है तो सभीका मत अभक्ष्य, अन्याय और निर्दयताके त्याग कराने और धर्ममें लगानेका एकसरीखा ज्ञात होता है। अतएव सबसे पीछे कहे हुए त्रिकाल वंदना, जीवदया पालनादि अष्ट मूलगुणोंमें इन

अभिप्रायोंकी भली भांति सिद्धि होनेके कारण यहाँ उन्हींके अनुसार वर्णन किया जाता है ॥

(१) मद्यदोष—मद्य बनानेके लिए, दाख, छुहारे आदि पदार्थ कई दिनों तक सड़ाये जाते हैं, पीछे यन्त्र द्वारा उनसे शराब उतारी जाती है, यह महादुर्गंधित होती, इसके बननेमें असंख्याते-अनन्ते, त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है। यह मद्य मनको मोहित करती, जिससे धर्म-कर्मकी सुध-बुध नहीं रहती तथा पंच पापोंमें निश्शंक प्रवृत्ति होती है, इसी-कारण मद्यको पंच पापकी जननी (माता) कहते हैं। मद्य पीने से मूर्छा कम्पन, परिश्रम, पसीना, विपरीतपना, नेत्रोंके लाल होजाने आदि दोषोंके सिवाय मानसिक एवं शारीरिक शक्ति नष्ट होजाती है। शराबी धनहीन और अविश्वासका पात्र हो जाता, शराबीका शरीर प्रतिदिन अशक्त होता जाता, अनेक रोग आघेरते, आयु क्षीण होकर नाना प्रकारके कष्ट भोगता हुआ मरता है। प्रत्यक्षही देखो! मद्य पी उन्मत्त होकर माता पुत्री, बहिन आदिका सुध भूलकर निर्लज्ज हुआ जदवा-तदवा बर्ताव करता है॥ इस प्रकार मद्यपी स्व-परको दुखदाई होता हुआ, जितने कुछ संसारमें दुष्कर्म करता है, उससे कोई भी व्यसन बच नहीं रहता। ऐसी दशामें धर्मकी शुद्धि तथा उसका सेवन होना सर्वथा असम्भव है। पीनेवाला इस लोक में निंद्य तथा दुखी रहता और मरने पर नरकको प्राप्त होकर अति तीव्र कष्ट भोगता है। वहां उसे संडासियोंसे मुंह फाड २ कर तांबा-सीसा पिलाया जाता है॥ इस प्रकार मद्य-पानको लोक-पर-लोकबिगाडनेवाला जान दूरसे ही तजना योग्य है॥ प्रगट रहे कि चरस, चंडू, अफीम, गांजा, तमाखू, कोकेन आदि नशीली चीजें खाना-पीना भी मदिरापानके समान धर्म-कर्म नष्ट करने वाली हैं, अतएव मद्यत्यागीको इनका त्यागना भी योग्य है॥

२ मांस दोष—मांस यह त्रसजीवोंके वधसे उत्पन्न होता है। इसके स्पर्श, आकृति, नाम और दुर्गंधि ही से चित्त में महाग्लानि उत्पन्न होती है। यह जीवोंके मूत्र, विष्टा एवं सप्त धातु-उपधातुरूप महा अपवित्र पदार्थोंका समूह है। मांस का पिंड चाहे सूखा हुआ हो, चाहे पका हुआ हो, उसमें हर हालतमें त्रसजीवोंकी उत्पत्ति होती ही रहती है। मांस-भक्षणके लालुपी विचार, निरपराध दीन-मूक पशुओंका वध करते हैं। मांस भक्षियोंका स्वभाव निर्दय, कठोर सर्वथा धर्म धारणके योग्य नहीं रहता है। मांस भक्षणके साथ साथ मदिरापानादि व्यसन भी लगते हैं। मांसभक्षी इस लोकमें सामाजिक एवं धर्मपद्धतिमें निंद्य गिना जाता है, मरनेपर नरक-के महान दुस्सह दुःख भोगता है। वहां लोहेके गर्म गोले, संडासियोंसे मुंह फाड २ कर खिलाये जाते तथा दूसरे दूसरे नारकी गृद्धादि मांसभक्षी पशु पक्षियोंका रूप धारण कर इसके शरीरको चांटते और नाना प्रकारके दुःख देते हैं। अतएव मांसभक्षणको अतिनिंद्य, दुर्गति एवं दुःखोंका दाता जान सर्वथा त्यागना योग्य है।

३ मधु दोष—मधु अर्थात् शहदकी मक्खियां फूलोंका रस चूस २ कर लातीं, उसे उगलकर अपने छत्तेमें एकत्र करती और वहीं रहती हैं, उसीमें सन्मूर्छन अंडे उत्पन्न होते हैं। भील गौंड आदि निर्दयी नीच जातिके मनुष्य उन छत्तों को तोड़, मधु मक्खियोंको नष्ट कर उन अण्डों-बच्चोंको बची खुची मक्खियों समेत निचोड़ इस मधुको तैयार करते हैं। यथार्थ में यह त्रसजीवोंके कलेवर (मांस) का पुंज अथवा सत् है। इसमें समय २ असंख्याते त्रसजीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है। अन्यमतोंमें भी इसके भक्षण करनेका निषेध किया गया

है। मधुभक्षणके पापसे नीचगतिका गमन और नाना प्रकार के दुःखोंकी प्राप्ति होती है अतएव इसे सर्वथा त्यागना योग्य है॥

जिस प्रकार ये तीन मकार अभक्ष्य एवं हिंसामय होनेसे त्यागने योग्य हैं उसी प्रकार मक्खन भी है। यह महाविकृत, मदका उत्पन्न करने वाला और घृणारूप है। तैयार होने पर यद्यपि इसमें अंतर्मुहूतके पीछे त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होना शास्त्रोंमें कहा है, तथापि विकृत होने के कारण आचार्यों ने तीन मकारके समान इसे भी अभक्ष्य और सर्वथा त्यागने योग्य कहा है॥

(४) **पँच उदुम्बरफल दोष**—जो वृक्षके काठको फोड़कर फलें, वे उदुम्बर फल कहलाते हैं। यथा:—(१) गूलर या ऊमर, (२) वट या बड़, (३) लक्ष या पाकर, (४) कठूमर या अंजीर, (५) पिप्पल या पीपल॥ इन फलोंमें हिलते, चलते उड़ते सैंकड़ों जीव आंखोंसे दिखाई देते हैं। इनका भक्षण निषिद्ध, हिंसा का कारण और आत्मपरिणामको मलिन करने वाला है। जिस प्रकार मांसभक्षीके दया नहीं, मदिरापायीके पवित्रता नहीं, उसी प्रकार पंच उदुम्बर फलके खाने वालेके अहिंसाधर्म नहीं होता, अतएव इनका भक्षण तजना योग्य है॥ इनके सिवाय जिन वृक्षों में दूध निकलता हो' ऐसे क्षीरवृक्षोंके फलोंका अथवा जिनमें त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होती हो, ऐसे सभी फलों का सूखी, गीली आदि सभी दशाओंमें भक्षण सर्वथा तजना योग्य है। इसी प्रकार सड़ा-घुना अनाज भी अभक्ष्य हैं, क्योंकि इसमें भी त्रसजीव होनेसे मांस भक्षणका दोष आता है॥

(५) रात्रिभोजन दोष—दिनको भोजन करनेकी अपेक्षा रात्रिको भोजन करनेमें राग-भावकी उत्कटता, हिंसा और निर्दयता विशेष होती है। जिस प्रकार रात्रिको भोजन बनाने में असंख्याते जीवोंकी हिंसा होती, उसी प्रकार रात्रिको भक्षण करनेमें भी असंख्याते जीवोंकी हिंसा होती है, इसी कारण शास्त्रोंमें रात्रि भोजियोंको निशाचरकी उपमा दी गई है। यहाँ कोई शङ्का करे, कि रात्रिको दीपकके प्रकाशमें भोजन किया जाय तो क्या दोष है ? उसका समाधान—दीपकके प्रकाशके कारण बहुतसे पतङ्गादि सूक्ष्म तथा बड़े २ कीड़े उड़कर आते और भोजनमें गिरते हैं। रात्रि भोजनमें अरोक (अनिवारित) महान् हिंसा होती है। रात्रिमें अच्छी तरह न दिखनेसे हिंसा (पाप) के सिवाय शारीरिक नीरोगतामें भी बहुत हानि होती है। मक्खी खा जानेसे वमन हो जाता, कीड़ी खा जानेसे पेशाबमें जलन होती, केश भक्षणसे स्वरका नाश होता, जूआं खा जानेसे जलोदर रोग होना, मकड़ी भक्षणसे कोढ़ हो जाता यहाँ तक कि विषमराके भक्षणसे आदमी मर तक जाता है॥

धर्मसंग्रह श्रावकाचारमें रात्रि भोजन प्रकरणमें स्पष्ट कहा है कि रात्रिमें जब देवकर्म, स्नान दान, होमकर्म नहीं किये जाते (वर्जित हैं) तो फिर भोजन करना कैसे संभव हो सकता है ? कदापि नहीं। वसुनन्दिश्रावकाचारमें कहा है कि रात्रि-भोजी किसी भी प्रतिमाका धारक नहीं हो सकता। इसी कारण यह रात्रि भोजन उत्तम जाति, उत्तम धर्म, उत्तम कर्मको दूषित करने वाला, नीचगतिको ले जाने वाला जान सर्वथा त्यागने योग्य है।

(६) देववंदना—वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी श्री अर्हंत-देव के साक्षात् वा प्रतिबिम्ब रूपमें, सच्चे चित्तसे अपना

पूर्ण पुण्योदय समझ पुलकित–आनंदित होते हुए दर्शन करने गुणोंके चिंतवन करने तथा उनको आदर्श मान अपने स्वभाव, विभावोंका चिंतवन करनेसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति हो सकती है। नित्य पूजन, दर्शन करनेसे सम्यक्त्वकी निर्मलता, धर्म की श्रद्धा चित्तकी शुद्धता, धर्ममें प्रीति बढ़ती है। इस देव-वंदना का अन्तिम फल मोक्ष है, अतएव मोक्ष रूपी महानिधि-को प्राप्त करने वाली यह "देववन्दना" अर्थात् जिनदर्शन-पूजनादि प्रत्येक धर्मेच्छु पुरुषको अपने कल्याणके निमित्त योग्यतानुसार नित्य करना चाहिये। तथा शक्ति एवं योग्यता-के अनुसार पूजनकी सामग्री, एक द्रव्य अथवा अष्ट द्रव्य नित्य अपने घर से लेजाना चाहिये॥

किसी २ ग्रन्थमें प्रातः, मध्यान्ह और संध्या तीनों काल देववन्दना कही है सो सन्ध्यावन्दनसे कोई रात्रिपूजन न समझ लें, क्योंकि रात्रिपूजनका निषेध धर्मसंग्रहश्रावका-चार-वसुनन्दिश्रावकाचारादि ग्रन्थोंमें स्पष्ट रूपसे किया है तथा प्रत्यक्ष हिंसाका कारण भी है इसलिये सन्ध्याके पूर्वकालमें यथाशक्य पूजन करना ही "सन्ध्यावन्दन" है। रात्रिको पूजनका आरम्भ करना अयोग्य और अहिंसामयी जिनधर्मके सर्वथा विरुद्ध है अतएव रात्रिको केवल दर्शन करना ही योग्य है।

नोट—यह बात भी विशेष ध्यानमें रखने योग्य है कि मन्दिरमें विनय पूर्वक रहे, जबवा-तबवा उठना, बैठना, बोलना-चालना आदि कार्य न करें, क्योंकि शास्त्रोंका वाक्य है कि—

श्लोक—अन्यस्थाने कृतं पापं, धर्मस्थाने विमुच्यते॥
धर्मस्थाने कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति॥१॥

७ जीवदया—सदा सब प्राणी अपने अपने प्राणोंकी रक्षा चाहते हैं। जिस प्रकार अपना प्राण अपनेको प्रिय है उसी प्रकार एकेन्द्रीसे लेकर पंचेन्द्रीपर्यन्त सभी प्राणियोंको अपने २ प्राण प्रिय हैं। जिस प्रकार अपना जरासा भी कष्ट नहीं सह सकते, उसी प्रकार वृक्ष, लट, कीड़ी, मकोड़ी मक्खी, पशु, पक्षी मनुष्यादि कोई भी प्राणी दुःख भोगनेकी इच्छा नहीं करते और न सह सकते हैं। अतएव सब जीवोंको अपने समान जान कर उनको जराभी दुःख कभी मत दो, कष्ट मत पहुँचाओ, सदा उन पर दया करो। जो पुरुष दयावान् हैं, उनके पवित्र हृदयमें धर्मकी उत्पत्ति, स्थिति कदापि नहीं हो सकती। ऐसा जान ही पवित्र धर्म ठहर सकता है, निर्दयी पुरुष धर्म के पास नहीं, उनके हृदयमें धर्म सदा सर्व जीवों पर दया करना योग्य है। दयापालकके झूठ—चोरी, कुशीलादि पंच पापों का त्याग सहज ही हो जाता है।

८ जलगालन—प्रगट रहे कि अनछने जलकी ५० बूंदमें असंख्यात छोटे २ त्रस जीव होते हैं। अतएव जीवदयाके पालन तथा अपनी शारीरिक आरोग्यताके निमित्त जलको दोहरे छन्नेसे छानकर पीना योग्य है। छन्नेका कपड़ा स्वच्छ सफेद, साफ और गाढा हो। खुरदरा, छेददार, पतला, पुराना, मैला-फटा तथा ओढा-पहिना हुआ कपड़ा छन्नेके योग्य नहीं। पानी छानते समय छन्नेमें गुड़ी न रहे। छन्नेका प्रमाण सामान्य रीति से शास्त्रों में ३६ अंगुल लम्बा और २४ अंगुल चौड़ा* कहा है, जो दुहरा करनेसे २४ अंगुल लम्बा १८ अंगुल

---

* षट्त्रिंशदंगुलं वस्त्रं, चतुर्विंशति विस्तृतं ॥ तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य, तोयं तेन तु गालयेत् ॥१॥ (पीयूषवर्षश्रावकाचार)

चौड़ा होता है। यदि बर्तनका मुंह अधिक चौड़ा हो, तो बर्तन के मुंहसे तिगुना दुहरा छन्ना होना चाहिये। छन्नेमें रहे हुए जीव अर्थात् जीवाणी (बिलछानी) रक्षापूर्वक उसी जलस्थान में क्षेपे, जिसका पानी भरा हो। तालाब, बावणी, नदी आदि जिसमें पानी भरनेवाला जल तक पहुँच सकता है, जीवाणी डालना सहल है। कुएंमें जीवाणी बहुधा ऊपरसे डाल दी जाती है सो या तो वह कुएंमें दीवालों पर गिर जाती है अथवा कदाचित् पानी तक भी पहुँच जाय, तो उसमेंके जीव इतने ऊपरसे गिरनेके कारण मर जाते हैं, जिससे जीवाणी डालनेका अभिप्राय "अहिंसाधर्म" नहीं पलता। अतएव भँवरकड़ीदार लोटे × से कुएंके जलमें जीवाणी पहुँचाना योग्य है॥

पानी छानकर पीनेसे जीवदया पलनेके सिवाय शरीर भी नीरोगी रहता है। वैद्य तथा डाक्टरोंका भी यही मत है॥ अनछना पानी पीनेसे बहुधा मलेरिया ज्वर, नहरूआ आदि दुष्ट रोगोंकी उत्पत्ति होती है॥ इन उपर्युक्त हानि-लाभों को विचार कर हरएक बुद्धिमान पुरुषका कर्त्तव्य है कि शास्त्रोक्त रीतिसे जल छानकर पीवे। छाननेके पीछे उसकी मर्यादा दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट तक होती है। इसके बाद त्रस जीव उत्पन्न हो जानेसे वह जल फिर अनछनेके समान हो जाता है।

इन अष्ट मूलगुणोंमें देवदर्शन, जलछानन और रात्रि-भोजनत्याग ये ३ गुण तो ऐसे हैं जिनसे हरएक सज्जन पुरुष

× लोटेके पैंदे में एक आंकड़ा लगवावे, आंकड़े में रस्सी फँसाकर जीवाणी समेत सीधा लोटा कुएमें डालने और पानीकी सतह पर पहुंचते ही हिलानेसे लोटा औंधा हो जाता और जीवाणी पानीमें गिर जाती है। जीवाणी गिर चुकने पर लोटा ऊपर खींच लेवे॥

जैनियोंके दयाधर्मकी तथा धर्मात्मापनेकी पहिचान कर सकता है। अतएव आत्महितेच्छु-धर्मात्माओंको चाहिये कि जीवमात्र पर दया करते हुए प्रामाणिकता पूर्वक बर्ताव करके पवित्र धर्मकी सर्व जीवों में प्रवृत्ति करें॥

सप्तव्यसन दोष वर्णन।

जहां अन्याय रूप कार्यको बार २ सेवन किये बिना चैन नहीं पड़े, ऐसा शौक पड़जाना व्यसन कहलाता है अथवा व्यसन नाम आपत्ति (बड़े कष्ट) का है इसलिये जो महान् दुःखको उत्पन्न करे, अति विकलता उपजावे सो व्यसन है (मूलाचार) पुनः जिसके होने पर उचित अनुचितके विचारसे रहित प्रवृत्ति हो (स्याद्वादमंजरी) वह व्यसन कहाता है॥

प्रगट रहे कि जूआ खेलना, मांसभक्षण करना, मद्यपान करना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्री सेवना, ये सात ऐसे अति अन्याय रूप और लुभावने कार्य हैं कि एकबार सेवन करनेसे इनमें अति आसक्तता हो जाती है जिससे इनके सेवन किये बिना चैन (जक) नहीं पड़ती, रात-दिन इन्हींमें चित्त रहता है। इनमें उलझना तो सहज पर सुलझना महा कठिन है, इसी कारण इनकी शास्त्रों में व्यसन संज्ञा है। यद्यपि चोरी, परस्त्रीको पंच पापोंमें भी कहा है, तथापि जहां इन पापोंके करनेकी ऐसी टेव पड़ जाय कि राजदण्ड, जाति-दण्ड, लोकनिन्दा होने पर भी न छोड़े जावें सो व्यसन हैं और जहां कोई कारण विशेषसे किंचित् लोकनिंद्य वा गृहस्थ-धर्म विरुद्ध ये कार्य बन जायं सो पाप हैं॥

यद्यपि इन व्यसनोंका नियमपूर्वक त्याग सम्यक्त्व होने पर पाक्षिक अवस्थामें होता है, तथापि ये इतने हानिकारक,

ग्लानि रूप और दुखदाई हैं कि इन्हें उच्चजातीय सामान्य गृहस्थ भी कभी सेवन नहीं करते, इनमें लवलीन (आसक्त) पुरुषोंको सम्यक्त्व होना तो दूर रहें, किन्तु धर्मरुचि, धर्मकी निकटता भी होना दुस्साध्य है। ये सप्त व्यसन वर्तमानमें नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले और अन्तमें सप्त नरकों में लेजानेवाले दूत हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है ॥

१–जुआ खेलना—जिसमें हार जीत हो, ऐसे चौपड़, गंजफा, मूठ, नक्की आदि खेलना सो जुआ है। यह जुआ सप्त व्यसनोंका मूल और सर्व पापोंका स्थान है। जिनके धनकी अधिक तृष्णा है, वे जुआ खेलते हैं। जुआरी, नीचजातिके लोगोंके साथ भी राज्यके भयसे छिपकर मलिन और शून्य स्थानोंमें जुआ खेलते हैं, अपने विश्वासपात्र मित्र-भाई आदि से भी कपट करते हैं। हार-जीत दोनों दशाओंमें (चाहे धन संबंधी हो, चाहे विना धन सम्बन्धी) अति व्याकुल परिणाम रहते हैं। रातदिन इसी की मूर्छा रहती है। ऐसे लोगों से न्याय-पूर्वक अन्य कोई रोजगार धंधा हो नहीं सकता। जीतने पर मद्यपान, मांसभक्षण, वेश्यासेवनादि निंद्यकर्म करते और हारने पर चोरी छल, झूठ आदिका प्रयोग करते हैं। जुआ खेलने-वालोंसे कोई दुष्कर्म बचा नहीं रहता। इसी कारण जुएको सप्त व्यसन का राजा कहा है ॥ सट्टे (फाटके) का धंधा, होड़ लगाकर चौपड़, शतरंज आदि खेलना यह सब जुआ ही का परिवार है। जुआरी पुत्र-पुत्री, स्त्री, हाट, महल, दुकान आदि पदार्थोंको जुए पर लगाकर घड़ी भरमें दरिद्री, नष्ट भ्रष्ट बन बैठते हैं। इसके खेलमात्र से पांडवों ने जो दुःख उठाया सो जगत प्रसिद्ध है ॥

२–मांस–३–मद्य–इनका वर्णन ३ मकार में हो चुका है। मांस भक्षण से बकराजा और मादक जलमात्र पीनेसे यादव अति दुखी और नष्टभ्रष्ट हुए॥

४–वेश्यासेवन—जिस अविवेकिनीने पैसेके अति लालच से वेश्यावृत्ति अंगीकार कर अपने शरीरको, अपनी इज्जत-आबरूको, अपने पतिव्रत धर्मको नीच लोगोंके हाथ बेच दिया, ऐसी वेश्याका सेवन महानिंद्य है। यह पैसेकी स्त्री, इसके पतियोंकी गिनती नहीं, रोगी घर, सब दुर्गुणोंकी गुरानी है। मांस-मदिरा-जुआ आदि सब प्रकारके दुर्व्यसनोंमें फंसाकर अपने भक्तोंको कष्ट-आपदा रोगोंका घर बनाकर अन्तमें निर्धन-दरिद्री अवस्थामें मरणप्राय करके छोड़ती है। इसके सेवन करनेवाले महानीच, घिनावने स्पर्श करने योग्य नहीं। जिनको वेश्यासेवनकी ऐसी लत पड़ जाती है कि वे जाति, पांति धर्मकर्म की बात तो दूर ही रहे किन्तु मरण भी स्वीकार कर लेते, परन्तु इस व्यसन को छोड़ना स्वीकार नहीं कर सकते। जो लोग अज्ञानतावश वेश्याव्यसन में फंस जाते हैं; उनकी गृहस्थी-धन-इज्जत, आबरू, धर्म, कर्म सब नष्ट हो जाते और वे परलोकमें कुगति का प्राप्त होते हैं। इस व्यसन से चारुदत्त सेठ अति विपत्तिग्रस्त हुए थे, यह कथा पुराण प्रसिद्ध है॥

५–शिकार—बेचारे निरपराधी, भयभीत, जंगलवासी पशु, पक्षियोंको अपना शौक पूरा करनेके लिए या कौतुक निमित्त मारना महा अन्याय और निर्दयता है। गरीब, दीन, अनाथक रक्षा करना बलवानोंका कर्त्तव्य है। जो प्रजाकी, नरसहाय जीवोंकी घातसे-कष्टसे रक्षा करे, सोही सच्चा राजा तथा क्षत्रिय है। यदि रक्षक ही भक्षक हो जाय, तो दीन

अनाथ जीव किससे फर्याद करें। ऐसा जानकर बलवानोंको अपने बलका प्रयोग ऐसे निंद्य, निर्दय और दुष्ट कार्यों में करना सर्वथा अनुचित है। इस शिकार दुर्व्यसन की ऐसी खोटी लत है कि एकबार इसका चसका पड़ जानेसे फिर वही २ दिखाई देता है। हर समय इस व्यसनमें प्राण जानेका संकट उपस्थित रहता है। जो लोग इस व्यसनको सेवन कर वीर बनना चाहते हैं वे वीर नहीं, किन्तु धर्महीन अविवेकी हैं। वे इस लोकमें निंद्य गिने जाते और परलोकमें कुगति को प्राप्त होते हैं। शिकार व्यसनके कारण ब्रह्मदत्त राजा राज्यभ्रष्ट होकर नरक गया ॥

६ चोरी - पराई वस्तु भूली-बिसरी-रक्खी हुई उसकी आज्ञा बिना ले लेना, सो चोरी है। चोरी करनेमें आसक्त हो जाना सो चोरी व्यसन कहलाता है। जिनको चोरीका व्यसन पड़ जाता है, वे धन पास होते हुए, महाकष्ट आपदा आते हुए भी चोरी करते हैं। ऐसे पुरुष राजदण्डका दुःख भोग निन्दा एवं कुगतिके पात्र बनते हैं। चोरी करनेसे शिवभूति पुरोहित कष्ट-आपदा भोग कुगतिको प्राप्त हुआ ॥

७ परस्त्री—देव, गुरु, धर्म और पंचोंकी साक्षीपूर्वक पाणिग्रहणकी हुई स्वस्त्रीके सिवाय अन्य स्त्रीसे संयोग (संभोग) करनेमें आसक्त हो जाना सो पर स्त्री सेवन व्यसन है ॥ परस्त्रीसेवी धर्म-धन-यौवनादि उत्तम पदार्थोंको गमाते हैं, राजदण्ड, जातिदण्ड, लोकनिन्दाको प्राप्त हो, नरकमें जाकर लोहेकी तप्त पुतलियोंसे भिटाये जाते हैं। जैसे जूंठन खाकर कूकर-काग प्रसन्न होते, तैसे ही पर स्त्री लंपटीकी दशा जानो। इस व्यसनकी इच्छा तथा उपाय करने मात्रसे

रावण नरक गया और लोकमें अबतक उसका अपयश चला जाता है।

ये सप्त व्यसन संसार परिभ्रमणके कारण रोग-क्लेश, वध- बंधनादिके करानेवाले, पापके बीज, मोक्षमार्गमें विघ्न करने वाले हैं। सर्व औगणोंके मूल, अन्यायकी मूर्ति तथा लोक-परलोक बिगाड़नेवाले हैं। जो सप्त व्यसनोंमें रत होता है उसके विशुद्ध लब्धि अर्थात् सम्यक्त्व धारण होने योग्य पवित्र परिमाणोंका होना भी सम्भव नहीं; क्योंकि उसके परिमाणोंमें अन्यायसे अरुचि नहीं होती। ऐसी दशामें शुभ कार्योंसे तथा धर्मसे रुचि कैसे हो सकती है? इसलिये प्रत्येक स्त्री-पुरुषको इन सप्त व्यसनोंको सर्वथा तजकर शुभ कार्योंमें रुचि करते हुए नियमपूर्वक सम्यकश्रद्धानी बनाना चाहिये और गृहस्थधर्मके उपर्युक्त अष्ट मूलगुण धारण करना चाहिये ॥

पाक्षिकश्रावकके विशेष कर्त्तव्य।

(१) कुलानुसार आचार अर्थात् अपने उच्चकुल-उच्च-धर्म की पद्धतिके अनुसार रहन-सहन-पहिनाव-उढ़ाव आदि करना और खान-पान शुद्ध रखना॥ (२) पंचाणुव्रत पालनका अभ्यास करना❀ ॥ (३) शास्त्राभ्यास करना॥ (४) गृहस्थों-के करने योग्य गृहस्थी सम्बन्धी पट्कर्म अर्थात् चक्की, ऊखली, चूल, बुहारी, जल तथा आजीविकाके कार्योंमें यत्नचार तथा न्यायपूर्वक प्रवर्तें और नित्यप्रति धर्म सम्बन्धी षट्कर्म

❀इसमें कई बातें व्रती श्रावक सरीखी मालूम होती हैं, उन्हें यहां अभ्यास रूप समझना चाहिये ॥

जिनपूजा, गुरुउपासना, स्वध्याय, संयम, दान, तपमें शुभ परिणामोंकी प्राप्ति निमित्त प्रवत (५) जिस ग्राममें जिन-मन्दिर न हो वहां न रहे (सागारधर्मा० अध्याय २ श्लोक ५ "प्रतिष्ठा यात्रादि") (६) जिनधर्मियों का उपकार करे, जिनधर्म की उन्नतिके निमित्त उत्कृष्ट श्रावक तथा मुनि उत्पन्न हों, इसलिये हर प्रकारसे साधर्मियोंको सहायता करनेका प्रयत्न करे ॥ (७) चार प्रकार दान दे (८) भोगोपभोगका यथाशक्ति नियम करे (९) यथाशक्ति तप करे (१०) संकल्पी हिंसा न करे अर्थात् सिंह, सर्प, बिच्छू आदि किसी भी प्राणीको संकल्प करके न मारे (११) सम्यकत्वकी शुद्धताके लिये तीर्थ यात्रा करे, मन्दिर बनवावे, जैनपाठशाला स्थापित करे ॥

जैनगृहस्थ की नित्य चर्या।

जैनी-गृहस्थ सामान्य रीतिसे पाक्षिक वृतके धारक होते हैं, अतएव जैनगृहस्थकी नित्यचर्या इस प्रकार होना चाहिये ॥

एक घंटे रात्रि रहे उठकर पवित्र हो आत्मचिंतवन (सामायिक करे) ॥ (२) सबेरे शौच-स्नानादिसे निपट कर अपनी योग्यतानुसार शुद्ध-पवित्र द्रव्य लेकर जिनमन्दिर जाय, दर्शन-पूजनादि धार्मिक षट्कर्मोंमें यथायोग्य प्रवर्ते ॥ (३) धर्म-कर्मसे निपटे पीछे शुद्ध भोजन करे ॥ (४) भोजनकी पवित्रता-शूद्रको छोड़ शेष ३ वर्णों के (मद्य-मांसभक्षीको छोड़) हाथका भरा अच्छी तरह दुहरे छन्नेसे छना हुआ पानी, मर्यादित आटा, चर्मस्पर्शरहित घी, ताजा छना और प्राशुक किया हुआ ताजा मसाला, रसोईमें चंदोवा, अवींधा दाल-

चावलादि अन्न ग्रहण करे, कन्द-मूलादि अभक्ष्य पदार्थ सर्वथा तजे। (५) चार बजे तक आजीविका सम्बन्धी कार्य योग्यतानुसार करे, पश्चात् दुबारा भोजन करना हो तो करे। (६) पांच बजे जलपानादिसे निपट आधे घंटे जीवजंतुकी रक्षापूर्वक टहले। (७) संध्या समय पुनः आत्मचिंतन (सामायक) करे, शास्त्रसभामें जाकर शास्त्र पढ़े या सुने। (८) समय बचे तो उपयोगी पुस्तकें, समाचार पत्र आदि पढ़े वा वार्तालाप करे और दस बजे रातको सोजावे, इस प्रकार आहार-विहार, शयनादि तथा धर्मकार्य नियमपूर्वक करे।

गृहस्थ के १७ यम हैं।

कुगुरु,[१] कुदेव,[२] कुवृष,[३] कीसेवाऽनर्थदंड,[४] अघमय[५] व्यापार। द्यूत,[६] मांस,[७] मधु[८] वेश्या,[९] चोरी[१०], परतिय[११], हिंसादान[१२], शिकार॥ त्रसकी[१४], हिंसा, थूल असत्यरु[१५] बिनछान्यो जल[१६] निशिआहार[१७]। ये सत्रह अनर्थ जगमाहीं, यावज्जीव करो परिहार॥१॥

नैष्ठिक श्रावकवर्णन।

जो धर्मात्मा पाक्षिक श्रावककी क्रियाओं का साधन करके शास्त्रोंके अध्ययनद्वारा, तत्त्वोंका विशेष विवेचन करता हुआ पंचाणुव्रतों का आरम्भ कर, अभ्यास बढ़ाने अर्थात् देशचारित्र धारण करनेमें तत्पर हो, वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। अथवा जो सम्यक् दर्शन ज्ञान-चारित्र और उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म पालन करनेकी निष्ठा (श्रद्धा युक्त पंचमगुणस्थानवर्ती हो सो नैष्ठिक श्रावक कहलाता है॥

नैष्ठिक श्रावकके अप्रत्याख्यानावरण कषायके उपशम होनेसे और प्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशम (मंद उदय) के क्रमशः बढनेसे ग्यारहवीं प्रतिमा तक बारह व्रत पूर्णताको प्राप्त हो जाते हैं, इसी कारण श्रावकको सागार (अणुव्रती) कहा है। ये श्रावककी ११ प्रतिमाएँ (पापत्यागकी प्रतिज्ञाएं) ही अणुव्रतोंको महाव्रतोंकी अवस्थातक पहुंचानेवाली निसैनीकी पंक्तियोंके समान हैं जो अणुव्रतसे महाव्रतरूप महलपर ले जाती हैं। इनको धारण करनेका पात्र यथार्थमें वही पुरुष है जो मुनिव्रत (महाव्रत) धारनेका अभिलाषी हो।

यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि जितने त्याग (व्रत) के योग्य अपने शरीरकी शक्ति, वासस्थान या भ्रमणक्षेत्र, कालकी योग्यता, परिणामोंका उत्साह हो और जिससे धर्म ध्यानमें उत्साह व वृद्धि होती रहे, उतनी ही प्रतिज्ञा धारण करना चाहिये। पुनः हरएक प्रतिज्ञा विवेकपूर्वक इस रीतिसे लेना चाहिये कि जिससे कोई प्रतिज्ञा क्रमविरुद्ध न होने पावे। प्रगट रहे कि कोई प्रतिज्ञा ऊँची प्रतिमाकी और कोई नीची प्रतिमाकी लेना क्रमविरुद्ध कहलाता है, जैसे ब्रह्मचर्य या आरंभत्याग प्रतिमाके नियम पालते हुए पीछी-कमंडल धारण कर ऊपरसे क्षुल्लक-ऐलक सरीखा भेष बना लेना या व्रत, सामायिक प्रतिमा अच्छी तरह पालन न करते हुए रसोई बनाने या रोजगार-धंधे करनेका त्याग कर बैठना। ऐसी अनमेल प्रतिज्ञाएँ बहुधा अज्ञानपूर्वक क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायोंके वश होती हैं। जिसका फल यही होता है कि लाभके बदले उलटी हानि होती है अर्थात् कषाय मंद होनेके बदले तीव्र होकर लौकिक हानि होनेके साथ साथ मोक्षमार्गसे दूरवर्तीपना अथवा प्रतिकूलता हो जाती है। अतएव इन प्रतिज्ञाओंके स्वरूप तथा इनके द्वारा होनेवाले लौकिक-पार-लौकिक लाभोंको भली भांति जानकर पीछे जितना सधता दिखे

और विषयकषाय मन्द होते दिखें, उतना व्रत-नियम धारण करना कल्याणकारी हैं, क्योंकि प्रतिमाका स्वरूप आचार्योंने इस प्रकार कहा है:—

प्रतिमालक्षण ।

दोहा—संयम अंश जगौ जहां, भोग अरुचि परिणाम ।
उदय प्रतिज्ञा को भया, पड़िमा ताका नाम ॥१॥

जब संयम धारण करनेका भाव उत्पन्न हो, विषय-भोगोंसे अंतरंगमें उदासीनता उत्पन्न हो, तब जो त्यागकी प्रतिज्ञाकी जाय सो 'प्रतिमा' कहलाती है। वे प्रतिमायें ११ हैं। यथा:— १ दर्शनप्रतिमा २ व्रतप्रतिमा ३ सामायिकप्रतिमा ४ प्रोषधप्रतिमा ५ सचित्तत्यागप्रतिमा ६ रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा ७ ब्रह्मचर्य-प्रतिमा ८ आरंभत्यागप्रतिमा ६ परिग्रहत्यागप्रतिमा १० अनुमति-त्यागप्रतिमा ११ उद्दिष्टत्यागप्रतिमा ॥

प्रगट रहे कि जिस प्रतिमामें जिस व्रतके पालन या पाप-त्यागकी प्रतिज्ञा की जाती है, वह यथावत् पालने तथा अतीचार न लगानेसे ही प्रतिमा कहला सकती है। जो किसी प्रतिमामें अतीचार लगता हो तो नीचेकी प्रतिमा जानना चाहिये जो निरतिचार पलती हो। यदि नीचेकी प्रतिमाओंका चारित्र बिल-कुल पालन न कर या अधूराही रखकर ऊपरकी प्रतिमाका चारित्र धारण कर लिया जाय, तो वह जिनमतसे बाह्य, कौतुक मात्र है, उससे कुछ भी फल नहीं होता ; क्योंकि नीचेसे क्रम-पूर्वक यथावत् साधन करते हुए ऊपरको चढ़ते जानेसे ही अर्थात् क्रमपूर्वक चारित्र बढ़ानेसे ही विषय-कषाय मन्द होकर आत्मीक सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है, जो कि प्रतिज्ञाओं के धारण करनेका मुख्य उद्देश्य है ॥

इन ग्यारह प्रतिमाओंमें छठीतक जघन्य श्रावक (गृहस्थ) नववीं तक मध्यम श्रावक (ब्रह्मचारी) और दशवीं, ग्यारवींवाले उत्कृष्ट श्रावक (भिक्षुक) कहलाते हैं।

प्रथम दर्शनप्रतिमा।

अब इन प्रतिमाओंका स्पष्ट, विस्तृत वर्णन किया जाता है—

यह दर्शन प्रतिमा देशव्रत [श्रावकधर्म] का मूल है। त्रस-जीवोंके घातद्वारा निष्पन्न हुए अथवा त्रसजीवोंसे युक्त पदार्थों को जो भक्षण करनेका अतीचार सहित त्याग करे सो दार्शनिक श्रावक है अथवा दर्शन कहिये धर्म या सम्यक्त्व तथा प्रतिमा कहिये मूर्ति, अर्थात् जो धर्म या सम्यक्त्वकी मूर्ति हो, जिसके बाह्य आचरणोंसे ही ज्ञात हो कि यह पवित्र जिनधर्मका श्रद्धानी है सो दार्शनिक है। यह नियमपूर्वक अन्याय-अभक्ष्यका अती-चारसहित त्यागी होता है। सो भी इनको शास्त्रोंमें त्यागने योग्य कहा है, ऐसा जानकर नहीं त्यागता, किन्तु तीव्र कषाय-महापापके कारण एवं अत्यन्त अनर्थरूप जान हर्षपूर्वक त्यागता है। इस भांतिसे त्याग करनेवालाही व्रतादि प्रतिमा धारण करनेका पात्र या अधिकारी होता है। अथवा जिसने पाक्षिक श्रावकसम्बन्धी आचारादिकोंसे सम्यग्दर्शनको शुद्ध कर लिया है, जो संसार शरीर भोगोंसे चित्तमें विरक्त है, नित्य अर्हंत भगवानकी पूजादि षट्कर्म यथाशक्य करनेवाला है, मूलगुणोंके अतीचार दोषोंका सर्वथा अभाव करके आगेकी प्रतिमाओंके धारण करनेका इच्छुक, न्यायपूर्वक आजीविकाका करने वाला है सो दार्शनिक श्रावक कहलाता है॥

यहां कोई प्रश्न करे कि जब ११ प्रतिमाएँ देशव्रतके भेद हैं तो प्रथम भेदका नाम प्रदर्शनप्रतिमा (जिसमें निरतिचार केवल सम्यग्दर्शनही होता है) होते हुए देशव्रतमें इसे क्यों कहा?

इसका समाधान—इस प्रथम प्रतिमामें सप्त व्यसनके त्याग और अष्ट मूलगुणके धारणसे स्थूलपने *पंचाणुव्रत होते हैं, इसीलिये इसे देशव्रतमें कहना योग्य ही है। व्रत सातिचार होनेसे व्रत प्रतिमा नाम हो नहीं सकता, यहां तो केवल श्रद्धान निरतिचार होता है। इसी कारण इसका नाम दर्शनप्रतिमा कहा है, क्योंकि प्रतिमा यथावत् होने को कहते हैं।

भावार्थ—पाक्षिक अवस्था में ८ मूलगुण धारण और सप्त-व्यसन त्यागमें जो अतीचार लगते थे, सो यहां उन अतीचारोंके दूर होनेसे मूलगुण अशुद्ध हो जाते हैं [अब यहां इनके अतीचार ×कहे जाते हैं

---

*अष्ट मूलगुणके धारण और सप्त व्यसनके निरतिचार पालनेसे दार्शनिक श्रावकके सातिचार पंचाणुव्रतोंका पालन होता है अर्थात् ५ उदम्बर ३ मकार और मद्य, मांस, शिकारके त्यागसे अहिंसाणुव्रत। जुएके त्यागसे सत्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणव्रत (अति तृष्णाका त्याग)। चोरीके त्यागसे अचौर्यअणुव्रत। वेश्या और परस्त्रीके त्याग-से ब्रह्मचर्य अणुव्रत होता है॥

× व्रतोंके आचरणमें शिथिलता होना अतीचार है॥ यथा—

श्लोक—अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिः व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः
तथातिचारं करणालसत्वं भंगो ह्यनाचारमिह व्रतानि ॥१॥

अर्थ—मनकी शुद्धितामें हानि होना सो अतिक्रम। विषयोंकी अभि-लाषा सो व्यतिक्रम। व्रतके आचरणमें शिथिलता सो अतीचार। सर्वथा व्रतका भंग होना सो अनाचार है॥

सागारधर्मामृत में—व्रतके एक देश अर्थात् अंतरंग या बाह्य किसी एक प्रकारके अभाव होनेको अतीचार कहा है।

श्रीमूलाचारजीकी टीकामें—विषयाभिलाषा अतिक्रम। विषयोप-करणका उपार्जन करना व्यतिक्रम। व्रतमें शिथिलता, किंचित् असंयम

नोट—अतीचारोंके बतानेका अभिप्राय यह है कि ये अमुक २ काम भी ऐसे हैं जिसके प्रमाद तथा अज्ञानतापूर्वक करनेसे यद्यपि विवक्षित व्रत सर्वथा भंग नहीं होता, तथापि उसमें दूषण लगता है, इसलिये इन दोष उत्पन्न करनेवाले कार्योंको भी तजनेका प्रयत्न करो, जिससे निर्दोष व्रत पले। कोई कोई लोग अतीचारोंका अभिप्रय ऐसा समझ लेते हैं कि मानों इनके करनेकी आचार्यों ने छुट्टी दी है क्योंकि इनसे व्रततो भंग होताही नहीं, उनकी ऐसी समझ ठीक नहीं ॥

अष्ट मूलगुणोंके अतीचार × ॥

मद्यत्यागके अतीचार—मदिरापानका त्यागी मन, वचन, कायसे सर्व प्रकारकी मादकवस्तु गांजा, अफीम, तमाखू आदि खाना-पीना तजे, सम्पूर्ण संधानक आचार-मुरब्बा आदि वा जिन पदार्थोंमें फूलन आगई हो तथा जो शास्त्रोक्त मर्यादा उपरान्तकी हो गई हो, ऐसी कोई भी वस्तु भक्षण न करे, रसचलित वस्तु को भक्षण न करे, मदिरा पीनेवालेके हाथका भोजन न करे और न उसके वर्तन काम में लावे ॥

मांसत्यागके अतीचार—मांसत्यागी चमड़ेके भोजनादिमें रक्खे हुए तेल, जल, घी, हींग, काढा, आटा आदिको भक्षण न करे, चमड़ेकी चालनी, सूपड़े से स्पर्शा आटा भक्षण न करे ॥

सेवन अतीचार। व्रतका भंग करके स्वेच्छा प्रवृत्ति करना अनाचार है।

उदाहरण—खेतके बाहिर एक बैल बैठा था उसने विचारा, निकटवर्ती खेतको चरना सो अतिक्रम, खड़ा होकर चलना सो व्यतिक्रम। बारी तोड़ना सो अतीचार और खेत चरना सो अनाचार है।

×ये अतीचार धर्मसंग्रहश्रावकाचार, सागारधर्मामृत तथा ज्ञानानन्द-श्रावकाचारादि ग्रन्थों के आधार से लिखेगये हैं ॥

मधुत्यागके अतीचार—मधुका त्यागी पुष्प भक्षण न करे, अंजन तकके लिये भी मधुका स्पर्श न करे। (सा० ध०)

पंच उदम्बरफलके अतीचार—पंच उदम्बरफलका त्यागी अजानफल तथा काचरी, बोर, सुपारी, खारक, नारियल आदि को बिना फोड़े, बिना देखे न खावे ॥

रात्रि भोजनत्यागके अतीचार—जो रात्रिभोजनके त्यागी हैं, उन्हें एक मुहूर्त*दिन रहेसे एक मुहूर्त दिन चढ़े तक आम-घी आदि फल वा रस भी नहीं खाना-पीना चाहिये, फिर और और भोज्यपदार्थोंकी तो बात ही क्या है? रात्रिका पिसा हुआ आटा या बना हुआ भोजन खाना, दिनको अन्धेरेमें खाना, ये सब रात्रि भोजनवत् हिंसाकारक हैं ॥

जलगालनके अतिचार—छने हुए जलकी दो घड़ीकी मर्यादा है। मर्यादासे अधिक कालका या कुवस्त्र (छन्ने सिवाय अन्य वस्त्रसे अथवा मैले, कुचैले, फटे, छोटे या सड़े छन्ने) से छनाहुआ या जिस छनेहुये जलकी जीवाणी जलस्थानमें बराबर न पहुंचाई गई हो या अन्य जलस्थान में पहुँचाई गई हो, ऐसा जल पीना योग्य नहीं ॥

जूआ त्यागके अतीचार—जूआ खेलनेका त्यागी गंजफा, चौपड़, शतरंज, दौड़ आदिका खेल बिना शर्त लगाये भी न खेले

वेश्यात्यागके अतीचार—वेश्यासेवनके त्यागीको वेश्याओं का गाना सुनना, नाच देखना, उसके स्थानोंमें घूमना योग्य नहीं, वेश्यासक्तोंकी सोहवत-संगति करना नहीं ॥

---

*सागारधर्मामृतमें १ मुहूर्त अर्थात् २ घड़ी और ज्ञानानन्द श्रावकाचार तथा क्रियाकोषमें दो मुहूर्त अर्थात् ४ घड़ी कहा है। घड़ीका प्रमाण २४मिनिटका है ॥

शिकारत्यागके अतीचार— शिकारके त्यागीको काष्ठ, पाषाण, चित्रामादिकी मूर्त्ति वा चित्र आदिको संकल्प पूर्वक तोड़ना, फोड़ना, फाड़ना नहीं चाहिये। दूसरोंकी आजीविका विगाड़ देने, धन लुटा देनेसे भी शिकार त्यागमें अतीचार लगता है।

चोरीत्यागके अतीचार—चोरीके त्यागीको राज्यके भय द्वारा अपने भाई बन्धुओंका धन नहीं छीनना चाहिये, न हिस्सा बांटमें धन छिपाना चाहिये, जो कुछ उनका वाजिब हिस्सा हो, देना चाहिये।

परस्त्रीत्यागके अतीचार—परस्त्री त्यागी गान्धर्वविवाह न करे, बालिका (अविवाहिता) के साथ विषयसेवन न करे*।

सप्तव्यसनके त्यागी को मद्य-मांसादि वेचने वाले तथा इन

---

*परस्त्री त्यागके अतीचारोंमें तत्वार्थसूत्रमें परिगृहीता, अपरिगृहीता गमन कहा है उसका प्रयोजन यही है कि परायेकी विवाही या अनव्याही स्त्रीके साथ एकान्तमें उठना-बैठना आदि व्यवहार न करे. क्योंकि ऐसा करनेसे ससर्गजनित दोष उत्पन्न होना सम्भव है ॥ सागारधर्मामृत तथा धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें बालिकासेवन अतीचर कहा है सो इसका अभिप्राय ऐसा जान पड़ता है कि जिसके साथ सगाई हो गई हो या होना हो, ऐसी नियोगिनीके साथ विवाहके पहिले संभोग करनेमें अतीचार है। अन्य बालिकाके सेवनमें तो अतीचर ही नहीं, किन्तु महा अनाचार है, यही कारण है कि परस्त्री सेवीकी अपेक्षा बालिका सेवन करने वालोंको राज्य की ओरसे भी तीव्र दण्ड दिया जाता है लोकनिंदा और जातीयदण्ड भी अधिक होता है ॥ (परस्त्रीत्यागी सगाई वाली या अन्य बालिकाको परस्त्री न होनेका खयालकर लेता है और व्रत भंग नहीं मानता इससे अतीचार कहा होगा, पर है यह अनाचार—सं०)

व्यसनोंके सेवन करने वाले, स्त्री-पुरुषोंके साथ उठना-बैठना, खान-पान आदि व्यवहार भी न रखना चाहिये, नहीं तो परिणाम ढीले होकर पहिले तो अतीचार लगते, पीछे वे ही अनाचार रूप होकर, पूरा व्यसनी बना, धर्म से वञ्चित कर देते हैं।

आजकल समुद्रयात्रा जो जहाजों द्वारा की जाती है, उसमें जहाजोंका प्रबन्ध तथा रहन-सहन, कामकाज बहुधा विदेशी विधर्मी और मद्य-मांसादि सेवन करने वालोंके आधीन रहता है तथा जिस स्थानको जाते हैं, वहां पर भी ऐसे ही लोगोंके हाथ का भोजन, उन्हींके साथ खान-पान, उन्हींमें रातदिन रहन-सहन होता है, ऐसी दशामें व्रती श्रावकोंकी बात तो दूर ही रहे, किन्तु सप्तव्यसनके त्यागी सामान्य जैनीका श्रद्धान और चरित्र भ्रष्ट होना सम्भव है। पूर्वकालमें जो समुद्रयात्रा होती थी, सो जहाजोंमें तथा विदेशोंमें सर्व प्रकार श्रद्धान-चारित्रकी साधक सामग्रीका समागम था, श्रद्धान-चरित्रकी नाशक सामग्री नाममात्रको भी न थी। इस अभिप्रायको न समझकर आजकलके सुधारक कहे जानेवाले धर्म-मर्म जाने बिना शास्त्रकी दुहाई देते हैं कि शास्त्रोंमें समुद्रयात्राका विधान है, वर्जन नहीं। सो यथार्थ में प्रथमानुयोग शास्त्रोंमें कई जगह समुद्रयात्राका प्रकरण आया है परन्तु पूर्वकालमें क्यों समुद्रयात्राकी विधि थी और अब क्यों वर्जनकी जाती है? यह बात बुद्धिमानोंको भली भांति विचार लेना चाहिये। इस समय जहाजों द्वारा विदेश यात्रा करनेसे धर्म-कर्म स्थिर रहना असम्भवसा हो गया है और शास्त्रोंकी स्पष्ट आज्ञा है कि जिस क्षेत्रमें श्रद्धान-चारित्र भ्रष्ट होना सम्भव हो, वहां गृहस्थश्रावकको न जाना चाहिये॥ (हां आचार-विचार निभा सकने और व्रत भङ्ग न हो सकनेकी स्थितिमें विदेश गमन करनेमें कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। अब तो वायुयानके भी साधन हो गये हैं।—सं.)

इसी प्रकार पञ्च उदम्बर, तीन मकारके त्यागके अतीचार भी धर्मेच्छु पुरुषोंको तजना योग्य है। क्योंकि बड़, पीपल, मद्य, मांसादि तो धर्मविहीन अस्पर्श शूद्रादिक भी नहीं खाते, तो भी जैनियोंको इनके त्यागकी आवश्यकता इसलिये बताई गई है, कि जिससे दार्शनिक जैनी याने जैनधर्मका श्रद्धानी पुरुष इनके विशेषरूप बाईस अभक्ष्यको तजे, और अन्न, जल, दूध, घृतादि शास्त्रोक्त मर्यादाके अनुसार भक्षण करे, क्योंकि मर्यादाके पश्चात् इन पदार्थोंमें भी त्रसराशिकी उत्पत्ति हो जाती है। पुनः ऐसे बीज फलादिक भी भक्षण न करे, जिनमें त्रसजीव उत्पन्न हो गये हों या जिनमें शङ्का हो, क्योंकि ऐसे भोजन से धर्महानिके सिवाय नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते तथा बुद्धि धर्म ग्रहण करने योग्य नहीं रहती।

अब यहाँ सामान्य रीतिसे २२ अभक्ष्य तथा खान-पानके द्रव्योंकी शास्त्रोक्त मर्यादा लिखी जाती है॥

२२ अभक्ष्य

कवित्त (३१ मात्रा)

ओला, घोरबड़ा, निशिभोजन, बहुबीजा, बैंगन, संधान।
बड़, पीपर, ऊमर, कठ-ऊमर, पाकर, फल जो होय अजान॥
कन्दमूल, माटी, विष, आमिष, मधु, माखन अरु मदिरापान।
फल अति तुच्छ तुषार, चलित रस, ये जिनमत बाईस अखान॥१॥

इनका अभिप्राय--(१) ओले-अनछने पानीके जमानेसे होते हैं, जो असंख्य त्रसजीवोंके घर हैं। (२) घोरबड़ा - अर्थात् दहीबड़े-उड़द या मूंगकी दालको फुलाकर पीसनेके पश्चात् घृतमें तलकर बड़े बनाये जाते हैं इनको दही या छांछमें डालकर खानेसे इनमें द्विदल दोषसे असंख्य त्रसजीवोंकी उत्पत्ति

होती हैं इसलिए द्विदल॥ दोषयुक्त घारबड़े खाना योग्य नहीं। (३) रात्रिभोजनका दोष कह ही चुके हैं। रात्रिभोजनका त्यागी रात्रिका बना हुआ, बिना शोधा देखा तथा अन्धेरेमें भोजन न करे॥ (४) बहुबीजा—जिस फलमें बीजोंके अलग २ घर न हों, जैसे अफोमका डोंडा (तिजारा) तथा अरण्डकी काकड़ी। (५) बैंगन-उन्मादका उत्पादक तथा विकृत (देखनेमें घिनावना) होता है। (६) सन्धाना (अथाना)—आम नीबू आदिको राई नमक, मिर्चादि मसालेके साथ तेलमें या बिना तेलके कितने ही दिनों तक रखनेसे इसमें त्रसजीवोंकी राशि उत्पन्न होती है और खानेसे हिंसा होती है। (७) बड़ (८) पीपल (९) ऊमर (१०) कठूमर (११) पाकर—इनके दोष पंच उदुम्बरमें कह ही चुके हैं। (१२) अज्ञान फल-हिंसा तथा रोगके कारण और कभी २ प्राणोंके घातक भी होते हैं। (१३) कन्दमूल—अनन्त जीवोंकी राशि हैं। (१४) खानिकी, खेत की मट्टी=असंख्य त्रसजीवोंकी राशि है। (१५) विष—प्राणघातक है। (१६) आमिष (मांस), (१७) मधु (१८) मक्खन (१९) मदिरापान इनके दोष तीन मकारमें कह ही चुके हैं। (२०) अतितुच्छ फल—सप्रतिष्ठित वनस्पति, अनन्त जीवोंकी राशि होते हैं। (२१) तुषार (बर्फ)—असंख्य

॥जिसके दो फाड़ (दाल) होते हैं, ऐसे अन्नादिक पदार्थ कच्चा गोरस (दूध-दही-छांछ) और लार मिलकर असंख्य त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होती और खानेसे हिंसा होती है (कि. कि. को)॥ द्विदल शब्दका अभिप्राय पं. आशाधरजी ने चना-मूंगादि द्विदल अन्नमात्र लिया है और पं. किशनसिंहजीने चारौली, बादामादि काष्ठ द्विदल तथा तरोई, भिंडी आदि हरी-द्विदल भी लिया है। अतएव हमारे लिये दोनो प्रमाण हैं। जिससे जितना सधे, उतना साधे परन्तु श्रद्धान ठीक रक्खे॥

त्रसजीवोंकी राशि होते हैं। (२२) चलितरस—जिन वस्तुओं का स्वाद बिगड़ गया हो या जो शास्त्रोक्त मर्यादासे अधिक काल की हो गई हों, उनमें त्रसजीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है इससे उनके खानेमें विशेष हिंसा तथा अष्टमूलगुणोंमें दोष आता है, सिवाय इससे अनेक रोग भी उत्पन्न होते हैं जिससे धर्मसाधनमें बाधा आती है।

कोई कोई लोग कहते हैं कि २२ अभक्ष्योंका वर्णन किसी संस्कृतग्रन्थमें नहीं देखा जाता, उनको चाहिये कि वे सागार-धर्मामृतमें देखें, यद्यपि इसमें २२ अभक्ष्योंकी गणना नहीं की गई तोभी पर्यान्तरसे बहुधा इन सभीके भक्षणका निषेध किया है॥

खान-पान के पदार्थोंकी मर्यादा

आटा, बेसन आदि चूनकी मर्यादा बरसातमें ३ दिनकी, गर्मीमें ५ दिनकी और शीतऋतुमें ७ दिनकी होती है। हरएक ऋतु सामान्यतः अठाईसे बदला मानी जाती है। छने हुए पानीकी मर्यादा १ मुहूर्त अर्थात् २ घड़ीकी। लवंगादि तिक्त द्रव्यों द्वारा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण बदले हुए जलकी मर्यादा दो प्रहरकी। अधन सरीखा उष्णजल न होकर साधारण गर्मजलकी मर्याद ८ प्रहरकी॥ दूध दुहकर, छानकर दो घड़ीके पहिले २ गर्म कर लेनेसे उसकी मर्याद ८ प्रहरकी कोई २ कहते हैं कि दूध ४ प्रहरमें ही बिगड़ जाता है अतएव बिगड़ जाय तो मर्यादके पहिले ही नहीं खाय) यदि दूध गर्म नहीं करे, तो दो घड़ीके पीछे उसमें, जिस पशुका वह दूध हो, उसी जातिके सन्मूर्छन असंख्य जीव उत्पन्न हो जाते हैं॥ गर्म दूधमें जामन देने पर दहीकी मर्याद ८ प्रहर तक॥ बिलोते समय यदि छांछमें पानी

डाला जाय तो उसकी मर्याद उसी दिन भरकी है, यदि बिलोये पीछे मिलाया जाय तो उस छाछकी मर्याद केवल १ मुहूर्तकी है (क्रि. को.) ॥ बूरेकी मर्याद शीतमें १ माह, गर्मीमें १५ दिन और बरसातमें ७ दिनकी ॥ घी, गुड़, तेल आदिकी मर्याद स्वाद न बिगड़ने तक ॥ खिचड़ी, कढ़ी, तरकारीकी मर्याद दो प्रहर-की ॥ पूआ, शीरा, रोटी आदि जिनमें पानीका अधिक अंश रहता है उनकी मर्याद ४ प्रहरकी ॥ पुड़ी, पपड़िया, खाजा, लड्डू घेवर आदि जिनमें पानीका किंचित अंश रहता है उनकी मर्याद ८ प्रहर की ॥ जिस भोजनमें पानी न पड़ा हो, जैसे मगद, इसकी मर्याद आटेके बराबर ॥ दिसेहुए मसाले हल्दी, धनिये आदिकी मर्याद आटेके बराबर ॥ बूरा, मिश्री, खारक, दाख आदि मिष्ट-द्रव्यसे मिले हुए दहीकी मर्याद दो घड़ीकी ॥ गुड़के साथ दही या छाछ मिलाकर खाना अभक्ष्य है ॥ और पदार्थोंकी मर्याद क्रियाकोषादि ग्रंथोंसे जानना ॥

दार्शनिकश्रावक-संबंधी विशेष बातें

(१) सम्यक्त्वको २५ दोष तथा पंच अतीचार टाल निर्मल करे* (२) पंच परमेष्ठीको टाल जिनमतके शासनदेव तथा

---

* यहा कोई संदेह करे कि क्षयोपशमसम्यक्त्वी दार्शनिकके सम्यक्त्व-प्रकृति मोहनीयके उदयसे चल-मल-अगाढरूप दोष लगते हैं, फिर यहां सर्वथा अतीचारोका टलना कैसे संभव है ? उसका समाधान-क्षयो-पशम सम्यक्त्वीके जो चल-मल अगाढ़रूप दोष उत्पन्न होते हैं वे सुगुरु-सुदेव-सुधर्मके विषयमें ही विकल्परूप होते हैं, जैसे, शांतिनाथ स्वामी शांतिके कर्ता हैं, ऐसे विकल्प सम्यक्त्वमें दोष उत्पन्न करनेवाले अतीचा-ररूप नहीं हैं. ८ शंकादि दोष, ४ मद, ६ अनायतन, ३ मूढ़ता ये २५ दोष सम्यक्त्वके घातक एवं दूषित करनेवाले हैं, सो ये दोष दर्शनप्रतिमा वालेको नहीं लगते ॥

अन्य मिथ्यादृष्टि देवोंको मनमें भी न लावे (३) शुद्ध व्यवहारका धारी हो (४) जिस रीतिसे धर्म-कर्ममें हानि आती हो, उस तरहसे धनसंग्रह न करे (५) मद्य, मांस मधुके वा और भी अनेक प्रकार अधिक हिंसा वा तृष्णा के आरंभ वा व्यापार न करे (६) प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य गुणयुक्त होकर मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भावना सदा भावे अर्थात् वैराग्यभाव युक्त हो और तदनुसार ही आचरण करे (७) कुटुम्बी, स्त्री-पुत्रादिको धर्ममें लगावे ॥

दर्शनप्रतिमा धारणसे लाभ।

दर्शन प्रतिमाके पालन करनेसे मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यका सर्वथा अभाव होकर धर्मकी निकटता अर्थात् व्रत धारण करनेकी शक्ति तथा पात्रता होती है। दार्शनिक श्रावक ही यथार्थमें यज्ञोपवीत धारण करनेका अधिकारी है। यज्ञोपवीत द्विजवर्गका द्योतक है॥ लोकमें उत्तम व्यवहारपना प्रगट होनेसे धन-यशादिकी प्राप्ति होती है। धर्मकी ऐसी नींव जम जाती है कि जिससे सांसारिक उच्च पदवियां पाते हुए अन्तमें मोक्षपदकी प्राप्ति होती है। जैसे शरीरमें शिर, महल में नींव मुख्य है, उसी प्रकार चारित्रका मूल दर्शन-प्रतिमा है॥

द्वितीय व्रत-प्रतिमा।

दर्शनप्रतिमामें अन्याय, अभक्ष्य-जनित स्थूल-हिंसाके कारणोंको सर्वथा त्याग कर, आरम्भ सम्बन्धी मोटे २ हिंसादि पापोंके त्यागका क्रमरहित अभ्यास करता हुआ दार्शनिक श्रावक, व्रत धारण करनेकी इच्छा करता है॥

जो अखण्ड सम्यग्दर्शन और अष्ट मूलगुणोंका धारक, माया-मिथ्या-निदान शल्यत्रयरहित, रागद्वेषके अभाव और

साम्यभावकी प्राप्तिके लिये अतीचाररहित उत्तरगुणोंको* धारण करे, सो व्रती श्रावक है ॥

यह बात जगत्प्रसिद्ध है और धर्मशास्त्र भी ऐसा ही कहते हैं कि हिंसा समान पाप और अहिंसा समान पुण्य नहीं है। यद्यपि भेद-विवक्षासे अनेक प्रकारके पाप कहे जाते हैं, तो भी यथार्थमें सब पापोंका मूल एक हिंसा ही है, इसीके विशेष भेद झूठ, चोरी, व्यभिचार और अतितृष्णा हैं, इसी कारण आचार्यों ने शास्त्रोंमें जहां तहां इन पांचों पापोंके निवारणका उपदेश किया है। श्रीउमास्वामीजीने तत्वार्थसूत्रमें इन पापोंके त्यागरूप पांचही व्रत कहकर उनके अणुव्रत, महाव्रत दो भेद किये हैं। यथा— 'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं' 'देशसर्वतोऽणुमहती' अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग, सो व्रत हैं, ये अणुव्रत, महाव्रत दो भेदरूप हैं ॥ एकदेश पंच-पापों का त्याग अणुव्रत और सर्वदेश पंच-पापोंका त्याग महाव्रत कहलाता है ॥

पंच पापोंका त्याग जब बुद्धिपूर्वक अर्थात् भेदज्ञान (सम्यक्त्व) पूर्वक होता है तभी उसे व्रत संज्ञा होती है। इन व्रतों को अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि अंतरंग वा बाह्य सामग्री की योग्यता देख धारण करके भले प्रकार निर्दोष पालना चाहिये कदाचित् किसी प्रबल कारणवश व्रत भंग हो जाय तो प्रायश्चित्त लेकर शीघ्र ही पुनः स्थापन करना उचित है ॥

गृहस्थ श्रावक प्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशमके अनुसार अणुव्रत धारणकर सकता है। इसके महाव्रत धारण करने-

---

*दर्शन प्र० में कहे हुए त्यागी श्रावकके मूलगुण हैं और व्रत-प्रतिमा में कहे हुए उत्तरगुण हैं ॥

के योग्य कषाय नहीं घटी, इससे सर्वथा आरम्भ, विषय-कषाय त्यागनेको असमर्थ है ॥

व्रतप्रतिमामें पंचाणुव्रत तो निरतिचार पलते हैं (रत्न-करंडश्रावकाचार और सुभाषितरत्नसंदोहका श्रावक धर्म)। शेष तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत (ये सप्तशील) बाढ़की नांई व्रतरूप क्षेत्रकी रक्षा करते हैं। इनमें तीन गुणव्रत तो उपर्युक्त पंच अणुव्रतोंमें गुणकी वृद्धि करते और चार शिक्षाव्रत इन्हें महाव्रतोंकी हद तक पहुंचाते हैं। भावार्थ—यद्यपि व्रती जहांतक संभव हो इनको भी दोषों से बचाता है। तथापि ये सप्तशील व्रतप्रतिमामें निरतिचार*नहीं होते। ये पंचाणुव्रत, ३ गुणव्रत ४ शिक्षाव्रत मिलकर१२ व्रत कहलाते हैं। उनके नाम तत्वार्थसूत्रानुसार—पंच

---

* यहां कोई शंका कि व्रतप्रतिमामें ही ये १२ व्रत एक साथ निरविचार होने चाहिये, क्योंकि १२ व्रतोंके अतीचारोंका वर्णन तत्वार्थसूत्र में एक ही जगह व्रतोंके प्रकरण में किया है। उसका समाधान—एक ही स्थान पर वर्णन करना तो प्रकरणके वश होता है वहां केवल वस्तुस्वरूप बताना था, प्रतिमाओंका वर्णन नहीं करना था, इसलिए जहां प्रकरण आया सबका एक साथ वर्णन कर दिया। दूसरे यदि बारहो व्रत दूसरी प्रतिमामे ही निरतिचार हो जावें, तो आगेकी सामायिकादि प्रतिमा व्यर्थ ठहरें, क्योंकि तीसरीसे ग्यारहवीं प्रतिमातक इन सप्तशीलों के निरतिचार पालनेका ही उपदेश है यही बात सर्वार्थसिद्धि तथा स्वामिकार्तिकेयानु० मे भाषा टीकाकार पं० जयचन्द जीने कही है। यथा—व्रतप्रतिमा मे पचाणुव्रत निरतिचार होते। तीसरीमे सामायिक और चौथीसे प्रोषधोपवास निरतिचार होते। पांचवींमें भोगोपभोगके अतीचार दूर होते और ग्यारहवीं तक क्रमशः भोगोपभोग घटाकर त्यागकर दिए जाते हैं। अष्टमी में आरम्भका सर्वथा त्याग होनेसे पंचाणुव्रतको पूरी २ दृढ़ता पहुंचती तथा दिग्विरति, देशविरति निरतिचार पलता है।

अणुव्रत —हिंसा, झूठ, चोरी का एकदेशत्याग, परस्त्री का त्याग और परिग्रहप्रमाण। तीन गुणव्रत—दिग्विरति, देशविरति अनर्थदंडविरति। चार शिक्षाव्रत—सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण अतिथिसंविभाग॥

तीन शल्योंका वर्णन।

प्रगट रहे कि व्रतोंको धारण करने वाला पुरुष मिथ्या, माया, निदान इन तीनों शल्यरहित होना चाहिये, जैसा कहा है "निःशल्यो व्रती"॥

(१) मिथ्याशल्य—जो धर्मस्वरूपका ज्ञाता नहीं, अर्थात् संसार और संसारके कारणों तथा मोक्ष और मोक्षके कारणों को नहीं जानता अथवा विपरीत जानता या सन्देहयुक्त जानता है, इन पर जिसका दृढ़ विश्वास नहीं है और न व्रत धारण करने का अभिप्राय समझता है, ऐसा मिथ्यात्वी पुरुष दूसरोंकी देखा देखी और या किसी अभिप्रायके वश व्रतोंका पालन करने वाला अव्रती ही है। जो पुरुष तत्त्वश्रद्धानी होकर आत्मकल्याण के अभिप्रायसे व्रत धारण करता है वही मोक्षमार्गी, पापोंका त्यागी सच्चा व्रती कहलाता है॥

(२) मायाशल्य—जिसके मनके विचार और, वचन

नवमीमें परिग्रहत्याग होनेसे अतिथिसंविभाग निरतिचार पलता है। दशवींमे अनुमतित्यागसे अनर्थदंडव्रत निरतिचार हो जाता है। इस तरह सातो शील निरतिचार होने से अणुव्रत महाव्रत की परिणति को पहुँच जाते हैं। सिवाय इसके वसुनन्दिश्रावकाचार में भोगप्रमाण, उपभोगप्रमाण, अतिथिसंविभाग, सल्लेखना ऐसे चार शिक्षाव्रत कहे हैं, सामायिक, प्रोषधोपवासको व्रतोंमें न कहकर प्रतिमा ही कहा है, ऐसी दशा में १२ व्रतों का निरतिचार पलना कैसे सम्भव हो सकता है?॥

की प्रवृत्ति और, तथा कायकी चेष्टा और हो, ऐसे पापोंको गुप्त रखनेवाले, मायाचारी पुरुषका दूसरोंके दिखानेके लिए अथवा मान-बड़ाई, लोभादिके अभिप्रायसे व्रत धारण करना निष्फल है। वह ऊपरसे (दिखाऊ) व्रती है परन्तु अंतरंगमें उसे पापसे घृणा नहीं, इस कारण ठगवृत्ति होनेसे उसे उलटा पापका बंध होता है तथा तिर्यंचादि-नीचगतिकी प्राप्ति होती है।

(३) निदानशल्य—जो पुरुष आगामी सांसारिक विषय भोगोंकी वांछाके अभिप्रायसे व्रत धारण करता है, सो यथार्थमें व्रती नहीं है। क्योंकि व्रत धारण करनेका प्रयोजन तो सांसारिक विषय-भोगों अथवा आरंभ-परिग्रहोंसे विरक्त होकर आत्मस्वरूपमें उपयोग स्थिर करनेका है, परन्तु निदानबंध करनेवाला उल्टा पापोंके मूल विषय-भोगोंकी तीव्र इच्छा करके उनकी पूर्ति के लिए ही व्रत धारण करता है। अतएव ऐसे पुरुषके बाह्यव्रत होते हुए भी अंतरंग तीव्र लोभकषाय होनेके कारण पाप हीका बंध होता है। भावार्थ—यथार्थमें उपर्युक्त तीन शल्योंके त्याग होने पर ही व्रत धारण होसकते हैं, अन्यथा नहीं॥

बारहव्रतों का वर्णन

अब यहां पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका विशेष वर्णन किया जाता है तथा हरएक व्रतके पांच २ अतीचार वा पांच २ भावनायें कही जाती है। ये भावनायें (जिनके चिंतवनसे व्रत दृढ़ होते और निर्दोष पलते हैं) सर्वदेश महाव्रतोंको और एकदेश अणुव्रतोंको लाभ पहुंचाती है। सूत्रकारोंने भी जहां व्रतोंके महाव्रत, अणुव्रत दो भेद बताये हैं, इसलिये इन भावनाओंका देशव्रत, महाव्रत दोनोंसे यथासंभव सम्बन्ध जानना चाहिये॥

अहिंसाणुव्रत

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" प्रमत्तयोग अर्थात् कषायोंके वश होकर प्राणोंका नाश करना सो हिंसा है। वहां मिथ्यात्व, असंयम, कषायरूप परिणाम होना सो भावहिंसा और इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास, आयु प्राणोंका विध्वंस करना सो द्रव्यहिंसा है। जिस प्रकार जीवको स्वयं अपनी भाव-हिंसाके फलसे चतुर्गतिमें भ्रमण करते हुए नाना प्रकार दुःख भोगने पड़ते हैं और द्रव्यहिंसा (शरीरसे आत्माका बलात् वियोग अर्थात् मरण) होनेसे अतिकष्ट सहन करना पड़ता है, उसीप्रकार दूसरोंके द्रव्य और भाव प्राणोंकी हिंसा करनेसे भी तीव्र कषाय और तीव्र वैर उत्पन्न होता है जिससे इसे जन्म-जन्मांतरोंमें महान् दुःखकी प्राप्ति होती है ॥

जो जीव संसार-परिभ्रमणसे अपनी रक्षा करना चाहते हैं उन्हें सदा स्व-पर दयापर दृष्टि रखना चाहिये। जो स्वदया पालन करते हैं उन्हींसे बहुधा नियमपूर्वक परदया पालन हो सकती है। अतएव स्वदयानिमित्त विषय-कषाय घटाना योग्य है और परदयानिमित्त किसी भी जीवको कषाय उत्पन्न करना या शारीरिक कष्ट देना कदाचित् योग्य नहीं ॥

जिस प्रकार झूठ, चोरी आदि सब पापोंमें हिंसापाप शिर-मौर और सबका मूल है उसी प्रकार सत्य, अचौर्यादि धर्मोंमें अहिंसा धर्म शिरमौर है। भावार्थ—पापोंका सब परिवार हिंसाकी पर्याएँ और पुण्यका सब परिवार अहिंसाकी पर्याएँ हैं।

इस विषयमें जब आत्माकी चैतन्यशक्तिकी अपेक्षा देखा जाता है तो एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत वनस्पति, कीड़े मकोडे, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदि सभी जीव चैतन्यशक्ति-युक्त हैं, इस नातेसे छोटे-बड़े सब जीव आपसमें भाई २

हैं, ऐसी दशामें किसी भी जीवको वध करना भ्रातृवधके समान महा पापबंधका कारण है ॥ दूसरे अनादिकाल संसारमें से भ्रमते हुए जीवोंके अनेकबार आपसमें पिता, माता, भ्राता, पुत्र, स्त्री, बहिन, बेटी आदिके अनेक नाते हुए, इसलिये उनको कष्ट देना. उनका वध करना, धर्मपद्धति एवं लोकपद्धतिसे सर्वथा विरुद्ध है । तीसरे, जब कोई अपना छोटासा भी शत्रु (जिसका अपनने कभी थोड़ासा बुरा किया हो) होता है तो मनमें सदा उसकी तरफ की चिंता लगी रहती है । भला फिर जब सहस्रों जीवोंका नित्यप्रति चलते, उठते बैठते विध्वंस किया जाय बाधा पहुँचाई जाय तो उनसे शत्रुता उत्पन्न करके निश्चिन्ततापूर्वक धर्मसाधन करना कैसे संभव होसकता है ? कदापि नहीं । चौथे जिस जीवको दुख दिया जाता वा मारा जाता है वह नियम करके बदला लेने को तत्पर होता है, चाहे, उसमें बदला लेनेकी शक्ति हो वा न हो, इसलिये जिन जीवोंको तुच्छ व निर्बल समझकर हिंसाकी जाती है, वे जीव इस पर्यायमें व अन्य पर्यायमें अवश्य दुःख देंगे अथवा दूसरेजीवोंके वध करनेके लिये जो कषायरूप परिणाम होता है उससे जो पापकर्मका बंध होता है उसकी उदय अवस्थामें अवश्यमेव दुःखके कारण उत्पन्न होंगे । इसप्रकार हिंसाको महापाप तथा जीवका परम दुःखदाई बैरी जान त्यागनेका दृढ़ संकल्प करना सो "अहिंसाव्रत" हैं ।

बुद्धिमानोंको हिंस्य-हिंसक-हिंसा-हिंसाफलके स्वरूपको भली भांति जानकर विचारपूर्वक प्रवर्तना योग्य है क्योंकि अन्तरंग-कषाय-भावों और बाह्य प्राणवधके भेदसे हिंसाके अनेक भेद होते हैं । यहांपर कुछ भेद लिखे जाते हैं, सभोमें बहुधा प्रमत्तयोगकी मुख्यता रहती है, इसलिये प्रमत्तयोग होनेके निमित्त कारणोंको दूर करनेमें प्रयत्नशील होना धर्मप्रेमियोंका कर्तव्य है ॥

(१) सावधानीपूर्वक गमनादि क्रिया करते हुए कर्मयोग

से यदि कोई जीव पांवतले आकर पीड़ित भी हो जाय, तो उस दशामें प्रमत्तयोगके अभावसे हिंसाका दोष नहीं लगता। यदि असावधानी रहे और कोई जीव न मरे, तोभी प्रमत्तयोग होनेके कारण हिंसाकृत पाप लगता है।

(२) जिनके हिंसा-त्यागका नियम नहीं हैं उनके हिंसा न करते हुए भी तत्सम्बन्धी पापका आस्रव होता रहता है। नियम होने पर फिर तत्सम्बन्धी आस्रव नहीं होता ॥

(३) कषायभावोंकी तीव्रता, मन्दता एवं वासनाके अनुसार किसीको तीव्र, किसीको मन्द, किसीको हिंसा करनेके पहिले किसीको करते समय और किसीको हिंसा कर चुकनेपर हिंसाका फल प्राप्त होता है ॥

(४) कभी ऐसा होता है कि एक पुरुष तो हिंसा करता फल अनेक पुरुष भोगते हैं। जैसे, किसीको फांसी लगते देख बहुत लोग कारित-अनुमोदनके दोषसे हिंसाके फलके भागी होते हैं ॥

(५) कभी २ ऐसा होता है कि हिंसा तो बहुत लोग करते हैं परन्तु फलका भोक्ता एक ही होता है। जैसे, सेनाके लड़ते हुए संग्राम सम्बन्धी पापका भागी राजा होता है ॥

(६) यदि कोई पुरुष ऐसा कहे कि मेरे अन्तरंग परिणाम शुद्ध है, इसलिए बाह्य आरम्भ-हिंसा करते हुए, तथा परिग्रह रखते हुए भी मुझे कोई पाप नहीं लगता, सो ऐसा कहना ठीक नहीं। उसके परिणाम कदापि शुद्ध नहीं रह सकते; क्योंकि उसके ये सब कार्य बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करनेसे ही हो रहे हैं ॥

(७) यदि कोई जीव किसीका भलाकर रहा हो और कर्मयोगसे बुरा होजाय, तो उसे पुण्यका ही फल होगा। इसी प्रकार यदि कोई जीव किसीकी बुराईका प्रयत्नकर रहा हो और कर्मयोगसे भला हो जाय, तो उसे पाप ही का फल लगेगा ॥

(८) कोई कोई कहते हैं कि साग तथा अन्नके अनेक दानों को भक्षण करनेकी अपेक्षा एक जीवका मांस भक्षण करनेमें अल्प पाप है; क्योंकि जीव जीव तो समान हैं, सो ये समझ ठीक नहीं। अन्तरंग ज्ञान-प्राण और बाह्य शारीरिक प्राणोंके घातकी अपेक्षा एकेन्द्रीकी हिंसासे बेइन्द्रीकी हिंसामें असंख्यात गुणा पाप वा निर्दयता होती है इसी प्रकार क्रमसे तेइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्रीकी हिंसामें पाप वा निर्दयताकी अधिकता जानो, अतएव अन्न-साग भक्षणकी अपेक्षा मांसभक्षणमें अनंतगुणा पाप व निर्दयपना विशेष है।

(९) असह्य दुःखसे पीड़ित जीवको देख शीघ्रही दुःखसे छूटजानेका बहाना करके गोली, तलवार आदिसे उसे मारडालना अज्ञानता है; क्योंकि उस जीवके मारडालनेपर भी जिस पापके फलसे उसे तीव्र दुःख उत्पन्न हुआ है उस पापके फलसे उसे छुड़ाना किसीके आधीन नहीं है। वे दुःख, उस जीवको इस पर्यायमें नहीं, तो अगली पर्यायमें भोगने ही पड़ेंगे। मारनेवाला अपनी अज्ञानता वश व्यर्थ हो हिंसाफलका भागी होता है, क्योंकि अति दुःखी होते हुए भी कोई जीव मरना नहीं चाहता, ऐसी हालतमें उसे मारडालना, प्राणघात करना है।

(१०) कई लोग ऐसी शंका करते हैं कि जैनधर्ममें भी तो मन्दिर बनवाना, प्रतिष्ठा करना आदि आरम्भ करनेका उपदेश है और इन कामोंमें हिंसाकृत पाप होता ही है फिर जैनी लोगों का अहिंसा धर्म कैसा? उसका समाधान-जैनी गृहस्थ लोग धर्मसाधनके अभिप्रायसे अर्थात् जहां १०-२० गृहस्थ-जैनियोंके घर हों और उनके धर्मसाधनके लिये धर्मसाधनके योग्य स्थान न हो, ऐसी जगह आवश्यकता जान धर्मबुद्धिसहित, ख्याति, लाभ, पूजाकी इच्छारहित, न्यायपूर्वक कमाये हुए द्रव्यसे ममत्व

घटाकर यत्नाचारपूर्वक* मन्दिर बनवाते हैं। इसलिये शुभ परिणामोंके कारण उनमें महानपुण्यका बन्ध होता है, सावधानी रखते हुए भी किंचित् आरम्भिकहिंसा जनित अल्पपाप उस महान् पुण्यके सामने समुद्रमें विषकी कणिकाके समान कुछ भी बिगाड़ करनेको समर्थ नहीं होसकता; क्योंकि जिन मन्दिर बनानेमें सांसारिक विषयकषाय दूर करने तथा मोक्ष-प्राप्तिके कारण वीतरागता-विज्ञानताकी सामग्री मिलाई जानेसे पुण्य बहुत और यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तनमें आरम्भिकहिंसा अल्प होती है। सिवाय इसके ऐसे महान् पुण्यके कार्यमें द्रव्य-व्यय करनेसे लोभ कषायरूप अन्तरंग हिंसाका त्याग होता है; क्योंकि वह द्रव्य विषय-कषायके कामोंमें न लगकर पापोंकी निवृत्ति और महान् सुकृतकी उत्पत्तिमें लगता है। इसी कारण शास्त्रोंमें पुण्यबन्धकी करनेवाली पूजा-प्रतिष्ठादि आरम्भ-जनित शुभ क्रियाएँ गृहस्थके लिये करनेका उपदेश है। हां! जहां आवश्यकता न हो और केवल अपने नाम या मान-बड़ाई आदिके अभिप्रायसे यत्नाचाररहित होकर मन्दिर बनाया जाय और उसमें धर्मसाधन न किया जाय, तो केवल पाप बंधनका कारण हो सकता है॥

(११) कोई कोई लोग ऐसा कहते हैं कि धर्मके निमित्त की हुई हिंसा, पापका कारण नहीं; किन्तु पुण्यका कारण है सो उनका ऐसा कहना मिथ्या है। हिंसा तो त्रिलोक त्रिकालमें पुण्य-

*पानी छानकर लगाना, गीला चूना-मिट्टी आदि बहुत दिनोंतक नहीं पड़ा रहने देना, रात्रिके अन्धेरेमें काम नहीं चलाना, जीव-जन्तु बचाकर काम चलाना, सदा जीव-रक्षाके परिणाम रखना, मजदूरोंकी मजदूरी बराबर देना आदि सब काम विवेकपूर्वक करना यत्नाचार कहलाता है। इसी तरह पूजा प्रतिष्ठादि सब कामोंमें यत्नाचार रखना चाहिये॥

रूप हो ही नहीं सकती, पापरूप ही है। यदि हिंसा ही पुण्यका कारण हो तो अहिंसा धर्म व्यर्थ ही ठहरे, और देवी-देवताओं-के निमित्त वध करने वाले ही पुण्यवान् ठहरें, सो जहां जीवोंको निर्दयतापूर्वक दुःख दिया जाता है वहां पुण्य होना कदापि सम्भव नहीं होता। हां! पुण्यके कार्योंमें यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तते हुए भी जो अबुद्धिपूर्वक अल्पहिंसा हो जाती है वह पुण्य की अधिकताके कारण कुछ शुमार नहीं की जाती, तो भी बुरी है। हरएक कार्य में कषायकी हीनता-अधिकता, परोपकार-पर-पीड़ा तथा दया-निर्दयताके अनुसार पुण्य--पापका बंध होता है

इस प्रकार अनेक नयोंसे हिंसाकृत पापोंके भेदोंको समझ त्याग करना सच्चा "अहिंसाव्रत कहलाता है॥

यद्यपि हिंसा सर्वथा त्यागने योग्य है, तथापि गृहस्थाश्रममें रहकर गृहसम्बन्धी षट्कर्मोंके किये बिना चल नहीं सकता। गृहस्थोंको चक्कीसे पीसना, उखलीमें कूटना, चूल्हा जलाना, बुहारना, पानी भरना तथा द्रव्योपर्जनके लिये धंधा करना ही पड़ता है, ऐसी दशामें स्थावरहिंसा तथा आरम्भसम्बन्धी त्रसहिंसाका त्याग उनके लिये अशक्यानुष्ठान है, वे इसके त्यागनेको असमर्थ हैं, तो भी त्रसहिंसाकी बात तो दूर ही रहे, वे व्यर्थ स्थावरकायकी भी हिंसा नहीं करते। इसी कारण शास्त्रोंमें जहां तहां गृहस्थको स्थूलहिंसा अर्थात् संकल्पी-त्रसहिंसाका त्यागी अणुव्रती कहा है॥

प्रगट रहे कि हिंसा*संकल्पी-आरम्भीके भेदोंसे दो प्रकार

---

*श्री सारचतुर्विंशतिका (मूल) में हिंसाके संकल्पी और आरम्भी के सिवाय उद्यमी और विरोधी ये दो भेद और भी कहे हैं॥ (१) उद्यमी—आजीविका के धन्धोंमें यत्नाचार पूर्वक प्रवर्तते हुए अनिच्छा पूर्वक जो हिंसा होती है॥ (२) विरोधी—राज्य-कार्यादिमें जो हिंसा होती है॥

की है जिसका स्वरूप नीचे कहा जाता है ॥

(१) संकल्पीहिंसा—किसी त्रसजीवको आप संकल्प करके मारना अर्थात् शरीराश्रित प्राणोंका घात करना, दूसरोंसे मरवाना अथवा जान बूझकर मारनेका विचार करना, सो संकल्पीहिंसा कहलाती है ॥

(२) आरम्भीहिंसा—गृहसम्बन्धी पंचसून—चक्की-उखली आदि की क्रियाओं–अथवा आजीविकाके धंधोंमें हिंसासे भयभीत होते हुए तथा सावधानी रखते हुए भी जो हिंसा होजाय सो आरम्भीहिंसा कहलाती है ॥

प्रगट रहे कि व्रती श्रावक संकल्पीहिंसा कदाचित् भी नहीं करता, यहांतक कि संकल्प करके हिंसा, सर्पादि हिंसक-जीवोंको भी नहीं मारता, ऐसा सागारधर्मामृतमें स्पष्ट कहा है। यद्यपि संकल्पीहिंसा दार्शनिकश्रावक भी नहीं करता तो भी अतीचार दोष लगानेके कारण उसे व्रत संज्ञा नहीं हो सकती, यहां अतीचारोंका भी नियमपूर्वक त्याग होजाता है। प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें भी कहा है "व्रत प्रतिमाधारी श्रावक, शत्रु आदिको मूकी-लाठी आदिसे भी नहीं मारता है तो सिंह, शत्रु आदिको प्राणरहित कैसे करेगा ?" पुनः शास्त्रोंमें यह भी कहा है कि यदि कोई आरम्भमें यत्नाचारपूर्वक न प्रवर्ते, तो उसकी आरंभीहिंसा, संकल्पीके भावको प्राप्त होती है, अतएव गृहस्थको "त्रसहिंसाको त्याग वृथा थावर न सँघारे" इस वाक्यके अनुसार चलना चाहिये अर्थात् संकल्पी त्रसहिंसाके त्यागके साथ साथ व्यर्थ स्थावरहिंसा भी न करना चाहिये ॥

नोट—ये दोनों भेद सामान्य रूपसे आरम्भी हिंसामें गर्भित हो सकते हैं ॥

अहिंसाणुव्रत के पंचातीचार।

(१) वध—किसीको लाठी, मूका, कोड़ा, चाबुकसे मारना। यहां शिक्षासे बालक तथा अपराधी पुरुष आदिको दंड देना गिन्तीमें नहीं है॥

(२) बंध—इच्छित स्थानको जाते हुए किसीको छेड़ना, रोकना या रोककर बांधना, कैद करना। यहां पालतू गाय, भैंसादिको घरमें बांधना गिन्तीमें नहीं है परन्तु इतना अवश्य है कि वे इस तरह न बांधे जावें, जिससे उन्हें किसी प्रकारकी पीड़ा हो॥

(३) छेद—नाक फोड़ना, पांव तोड़ना, अंगभंग करना, बैल बधिया करना। यहां बालकोंका कर्ण छेदन न लेना॥

(४) अतिभारारोपण—गाड़ी, घोड़ा, बैल आदि पर प्रमाणसे अधिक बोझा लादना॥

(५) अन्नपान विरोध—खाने-पीनेको समयानुसार न देना, भूखों-प्यासों मारना॥

इन पंच अतीचारोंके तजने से अणुव्रत निर्दोष पलता है, यदि अतीचार लगें तो व्रत सदोष होजाता है, अतएव अतीचार दोष न लगने देना चाहिये॥

अहिंसाणुव्रतको पंच भावना ×।

(१) मनोगुप्ति—मनमें अन्यायपूर्वक विषय भोगनेकी

× बार बार किसी बातके स्मरण करनेको, पुनरावृत्ति करनेको भावना कहते हैं। भावनाओंके बार बार चिन्तवन करनेसे परिणामोंमें

वांछा, दूसरोंका इष्टवियोग, हानि, तिरस्कार चिंतवन आदि दुष्ट संकल्प-विकल्प न करना ॥

(२) वचनगुप्ति—हास्य, कलह, विवाद, अपवाद, अभिमान तथा हिंसाके उत्पन्न करनेवाले वचन न बोलना ॥

(३) ईर्यासमिति—त्रसजीवोंकी विराधना रहित, हरित त्रण, कर्दमादिको छोड़ देख-शोध, धीरतासे यत्नाचारपूर्वक गमन करना, चढ़ना, उतारना, उल्लंघन करना, जिससे आपको वा दूसरे जीवोंको बाधा तथा हानि न हो ॥

(४) अदान-निक्षेपण समिति—हरएक वस्तु-पात्र आदि यत्नसे उठाना, धरना, जिससे अपना वा पर की हानि न हो, आपको वा परको संक्लेश वा शारीरिक पीडा न हो ॥

(५) आलोकित पान-भोजन—अंतरंगमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी योग्यता-अयोग्यता देखकर और बाह्यमें दिवसमें, उद्योतमें, नेत्रोंसे भलीभांति देख-शोध आहार करना, जल पीना ॥

इन पंच भावनाओंका सदा ध्यान रखनेसे व्रतोंमें अधिकाधिक गुणोंकी प्राप्ति होती है। जैसे औषधिमें सोंठ या पानके रसकी भावना देनेसे तेजी बढती है, वैसेही भावनाओंके चिन्तवन करनेसे व्रत निर्मल होता है और दोष नहीं लगने पाते ॥

निर्मलता, व्रतोंमें दृढ़ता होती है। अशुभध्यान का अभाव और शुभ भावोंकी वृद्धि होती है। श्रीतत्वार्थसूत्रजीमें पांचों व्रतोंकी पांच २ भावना सामान्यरूपसे कही गई हैं, उनको अणुव्रतों में एक उपदेश और महाव्रतोंमें सर्वदेश समझना चाहिये। यहां पर रत्नकरंडश्रावकाचारके भाषाटीकाकार पं० सदासुखजीके कथनानुसार पंचाणुव्रतोंकी भावना कही गई हैं ॥

जो लोग इस प्रकार भलीभांति अहिंसाऽणुव्रतके स्वरूपको जान अंतरंग कषायभाव व बाह्य आरंभी-त्रसहिंसा नहीं करते, वे ही सच्चे अहिंसाऽणुव्रतके पालक एवं स्थूल-हिंसाके त्यागी हैं ॥

२ सत्याणुव्रत ।

"प्रमत्तयोगादसदभिधानमनृतत्" अर्थात् कषायभाव पूर्वक अयथार्थ भाषण करना असत्य कहलाता है। जैसे-होतेको अन-होता या भलेको बुरा कहना अथवा अनहोतेको होता या बुरेको भला कहना, ये सब असत्य हैं। पुनः ऐसे सत्यवचनको भी असत्य जानना, जिसके बोलनेसे दूसरोंका अपवाद, विगाड या घात हो जाय, अथवा पंच पापमें प्रवृत्ति हो जाय, क्योंकि ऐसे भाषण करनेवालेके वचन सत्य होते हुए भी चितवृत्ति पापरूप ही रहती है। इसी प्रकार जिस वचनसे भलाई उत्पन्न हो, पापसे बचाव हो, वह वचन असत्य होते हुए भी बोलने वालेके शुभ विचारोंका द्योतक है इसलिय सत्य है। इस प्रकार सत्य-असत्यका स्वरूप भलाभांति जान उपर्युक्त प्रकार स्थूल असत्यका त्याग करना सो सत्याणुव्रत कहलाता है ॥

हिंसाके समान असत्य भी बड़ा भारी पाप है, एक झूठके बोलने पर उसकी पुष्टताके लिये सैकड़ों झूठे प्रमाण ढूंढने पडते हैं, जिससे आकुलता-व्याकुलता बढकर स्वात्महिंसाके साथ साथ-कभी-कभी स्वशरीर घात करनेका कारण भी उपस्थित हो जाता है। असत्यवादी दूसरोंको मानसिक एवं शारीरिक कष्ट तथा हानि पहुंचाकर परद्रव्य-भाव--हिंसाका भी भागी होता है। जिस प्रकार अपनेसे कोई झूठ बोले, धोखा दे तो अपने हृदयमें अति दुःख होता है, उसी प्रकार किसीसे आप झूठ बोलें या धोखा दें, तो उसको भी दुःख होना संभव है।

अतएव असत्य भाषणमें हिंसाकृत दोष निश्चय करके इसे सर्वथा तजना योग्य है। असत्यभाषणसे लोकमें निन्दा होना, राज्यसे दंड मिलना आदि अनेक दोष उत्पन्न होते और परलोकमें कुगति होती है। इसके विरुद्ध सत्यभाषणसे लोकमें प्रामाणिकता, यश, बड़प्पन तथा लाभ होता और परलोकमें स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति होती है॥ असत्यके विशेष भेद यद्यपि अनेक हैं तथापि सामान्यत: ४ भेद हैं॥

(१) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे होती (छती) वस्तुको अनहोती कहना (२) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अनहोती वस्तुको होती कहना (३) कुछका कुछ कह देना (४) गर्हितवचन अर्थात् दुष्टताके वचन, चुगलीरूप वचन, हास्यरूप वचन, मिथ्या—श्रद्धानके वचन, कठोरवचन, शास्त्रविरुद्ध वचन, व्यर्थ बकवाद, विरोध बढ़ानेवाले वचन, पापरूप वचन, अप्रिय वचन कहना॥

यद्यपि गृहस्थाश्रमी पुरुष भोगोपभोगके साधनमात्र सावद्यवचनके त्यागनेको असमर्थ है, तो भी यथासम्भव इसमें भी असत्य भाषणका प्रयोग नहीं करता, शेष सर्व प्रकारके असत्यका त्यागी होनेसे सत्याणुव्रती हो सकता है। हरएक मनुष्यको चाहिये, कि जिससे परजीवका घात हो, ऐसे हिंसक वचन न कहे, जो दूसरोंको कड़वे लगें अथवा क्रोध उपजावें, ऐसे कर्कश वचन न बोले, दूसरोंको उद्वेग, भय, शोक, कलह उत्पन्न करने वाले निष्ठुर वचन न बोले, दूसरोंके गुप्त भेद प्रगट करने वाले अथवा जिससे किसीको हानि पहुंचनेकी सम्भावना हो, ऐसे वचन न बोले, सदा दूसरों हितकारी, प्रमाणरूप, सन्तोष उपजाने वाले, धर्म को प्रकाशित करने वाले वचन कहे।

प्रगट रहे कि अनृतवचनके सर्वथा त्यागी महामुनी तथा एक देशत्यागी श्रावक, अन्य श्रोतागणोंके प्रति बारम्बार हेयो-

थादेयका उपदेश करते हैं, इस लिये उनके पाप निषेधक वचन, पापी पुरुषोंको निष्ठुर और कटुक लगते हैं। तो भी प्रमत्तयोग-के अभावसे उन वक्ताओंको असत्य भाषणका दूषण नहीं लगता; क्योंकि प्रमादयुक्त अयथार्थ भाषण असत्य कहलाता है।

सत्याणुव्रतके पंचातीचार।

(१) मिथ्योपदेश—शास्त्रविरुद्ध उपदेश देना अर्थात् उपदेश तो सत्य हो परन्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके विरुद्ध हो, धर्म का बाधक हो ॥

(२) रहोभ्याख्यान—किसीकी गुप्त बात प्रगट करना अथवा स्त्री-पुरुषोंकी गुप्त चेष्टाको प्रगट करना ॥

(३) कूटलेखक्रिया—झूठी बातें लिखना या अन्यके नामसे उसकी आज्ञा बिना सत्य भी लिखना, झूठी गवाही देना ॥

(४) न्यासापहार—किसीकी धरोहर रक्खी हो और वह भूलकर कम रक्खी हुई बतावे या कम मांगे तो कम ही देना ॥

(५) साकार मन्त्रभेद—किसीके अभिप्रायको उसकी किसी चेष्टा द्वारा जानकर औरों पर प्रगट करना ॥

बहुधा लोग इन पञ्च अतीचारोंमें कुछ भी दोष न समझकर और साधारण रीतिसे लौकिक पद्धति समझकर अतीचाररूप काम करते हैं परन्तु स्मरण रहे कि ये कार्य सत्याणुव्रतको दूषित करने वाले हैं। इतना ही नहीं किन्तु इनके बार २ बर्ताव करनेसे सत्याणुव्रत भंग हो जाता है। इसलिए इन दोषोंको बचाना चाहिये ॥

सत्याणुव्रतकी पंच-भावना ।

(१) क्रोधत्याग—क्रोध नहीं करना, यदि किसी बाह्य प्रबल कारणसे क्रोध उत्पन्न हो जाय तो विवेकपूर्वक उसे दमन करना, मौन धारण करना ॥

(२) लोभत्याग—जिससे असत्य प्रवृत्ति होती हो, ऐसे लोभको छोड़ना ॥

(३) भयत्याग—जिससे धर्मविरुद्ध, लोकविरुद्ध वचन में प्रवृत्ति हो जाय, ऐसा धन बिगाड़ने, शरीर बिगाड़नेका भय नहीं करना ॥

(४) हास्यत्याग—किसीकी हँसी-मसखरी नहीं करना, हास्यके वचन नहीं कहना ॥

(५) अनुवीचि भाषण—जिन सूत्रसे विरुद्ध वचन न बोलना ॥

इन पञ्च भावनाओंकी सदा स्मृति रखनेसे असत्य भाषण से रक्षा होती है और सत्याणुव्रत निर्मल होता है। इसलिये जो पुरुष सत्याणुव्रतको निर्दोष पालना चाहें, वे सदा इन पञ्च भावनाओंको भाते रहें, जिससे लोक-परलोकमें सुखके भागी हों ॥

अचौर्याणुव्रत ।

"प्रमत्तयोगाददत्तादानं स्तेयम्" कषायभावयुक्त होकर दूसरे की वस्तु उसके दिये बिना या आज्ञा बिना ले लेना चोरी कहलाती है। चोरीके सर्वथा त्यागसे अचौर्य महाव्रत और एकदेश (स्थूल) त्यागसे अणुव्रत होता है। किसीके रक्खे हुए, गिरे

हुए, भूले हुए तथा धरोहर रक्खे हुए द्रव्यको नहीं हरण करना और न उसके मालिककी आज्ञा बिना किसीको दे देना, इस प्रकार स्थूल चोरीका त्याग, सो अचौर्य अणुव्रत कहलाता है ॥

संसारमें धन ग्यारहवां प्राण है, धनके लिये लोग अपने प्राणोंको भी सङ्कटमें डालते नहीं डरते। रणसंग्राम, समुद्र, नदी, पर्वत, गहन-वनादिमें जहां प्राणोंके नाशकी संभावना रहती है, वहां भी धनके लिए प्रवेश करते हैं, यदि चोर, ठगादि लूटने को आवें, तो प्राण देना कबूल करते हैं, पर धन देना कबूल नहीं करते, इस प्रकार धन को प्राणोंसे भी अधिक प्यारा समझते हैं, इस लिये जो पराया धन हरण करता है सो मानो प्राये प्राण ही हरण करता है और आप पापबंध करके अपने आत्मीक ज्ञान-दर्शन प्राणोंका घात करता है। चोरीसे इस भवमें राजदण्ड, जातिदण्ड, निन्दा होती तथा परभवमें नीच गतियोंके दुःख भोगने पड़ते हैं ऐसा जानकर दृढ़-चित्त, शुद्ध-बुद्धि पुरुषोंको उचित हैं कि दूसरेकी भूली हुई अथवा मार्गमें पड़ी हुई वस्तु न लेवें। छल-छन्दसे किसीका द्रव्य न लेवें। अपने पास किसीकी धरोहर रक्खी हुई हो, उसे दबा लेनेकी इच्छा न करें। किसीकी बहुमूल्य वस्तु अल्पमूल्यमें न लेवें। क्रोध-मान-माया-लोभसे किसीका द्रव्य न लें और न लेने वालेको भला कहें ॥

गृहस्थ जलाशयोंका जल तथा खानिकी मिट्टी या ऐसे फलादिक जो आम लोगोंके भोगोपभोगके लिये नियत किये गये हों, बिना दिये ले सकता है तथा चारागाह जो आम लोगोंके निस्तार के लिये छोड़ दी गई हो, उसमें ढार चरा सकता है। क्योंकि वह राजाकी तरफसे प्रजाके निस्तारके लिये नियत की गई है, इसमें विशेष बात यह है कि किसीके रखाए हुए, रोके हुए, ठेके पर दिए हुए जल, मिट्टी, फल, घास-फूस आदिको स्वामीकी आज्ञा के बिना लेनेसे चोरीका दोष लगता है। किसी पुरुषके मरने पर

उसके धनका अपने तईं वारिस होना निश्चय होते हुए भी उस धनको उस पुरुषके जीतेजी अपनाना या उसकी मरजीके बिना दूसरोंको दे देना, किसीकी पंचायती या मुकद्दमा सच्चा अथवा झूंठा फैसला करके रिश्वत लेना, किसीकी बहुमूल्यकी वस्तु जान-बूझकर कम मोलमें ले लेना, अपने धन-वस्त्रादिमें ये हमारा है या नहीं ? ऐसा संशय होते हुए भी ले लेना ये सब चोरी ही की पर्यायें हैं, क्योंकि इन सबमें प्रमत्तभावका सद्भाव है। अतएव प्रत्येक गृहस्थको "जल-मृतिका बिन और नांहि कछू गहै अदत्ता" इस वाक्यके अनुसार अचौर्यव्रत पालन करना चाहिये ॥

अचौर्याणुव्रतके पंच अतीचार

(१) चौरप्रयोग—चोरीके उपाय बताना कि चोरी अमुक अमुक रीतिसे की जाती है या चोरी करने वालोंको सहायता देना ॥

(१) चौरार्थादन—चोरी किया हुआ पदार्थ ग्रहण करना, मोल लेना ॥

(३) विरुद्धराज्यातिक्रम—विरुद्धराज्यमें जाकर अन्याथपूर्वक लैन-दैन करना, राज्यके कानूनको तोड़ना, राज्यका महसूल चुराना। पुनः रत्नकरण्डश्रावकाचारमें, विलोप कहा है अर्थात् राज्यके नियमोंको तोड़ना तथा राजाज्ञाके विरुद्ध काम करना ॥

(४) हीनाधिकमानोन्मान—नापने, तौलनेके गज बांटादि कम-बढ़ रखना ॥

(५) प्रतिरूपकव्यवहार—बहुमूल्यकी चीजमें अल्प मूल्यकी चीज मिलाकर बहुमूल्यके भावसे बेचना ॥

बहुधा अनसमझ व्यापारी लोग राज्यमें मालका महसूल नहीं चुकाते, बेचने-लेनेमें कम बढ़ तोलने या दूधमें पानी, घीमें तेल आदि खोटा खरा मिलाकर बेचते हैं अथवा झूठे विज्ञापन (इश्तिहार) देकर लोगोंको ठगते, मालका नमूना कुछ और बताते और पीछे माल और कुछ देते हैं इत्यादि अनेक कपट चतुराई करते और इसे व्यापार-धन्धा समझते हैं। सो ये सब चोरीका ही रूपान्तर है। अतएव इन पंच अतीचारोंको अचौर्य-अणुव्रतमें दोष उत्पन्न करने वाले जान त्यागना योग्य है ॥

अचौर्याणुव्रतकी पँच भावना।

(१) शून्यागारवास—व्यसनी, दुष्ट, तीव्र, कषायी कलह विसंवाद करनेवाले पुरुषोंसे रहित स्थानमें रहना ॥

(२) विमोचितावास—जिस मकानमें दूसरेका झगड़ा न हो, वहां निराकुलतापूर्वक रहना ॥

(३) परोपरोधाकरण—अन्यके स्थानमें बलपूर्वक प्रवेश नहीं करना ॥

(४) भैक्ष्यशुद्धि—अन्यायोपार्जित द्रव्य द्वारा प्राप्त किया हुआ, तथा अभक्ष्य भोजनका त्याग करना, अपने कर्मानुसार प्राप्त शुद्ध भोजनको लालसारहित, सन्तोषसहित ग्रहण करना ॥

(५) सधर्माविसंवाद—साधर्मी पुरुषोंसे कलह-विसंवाद नहीं करना ॥

इन पंच भावनाओंको सदा स्मरण रखकर अचौर्याणुव्रत दृढ़ रखना तथा और भी जिन कारणोंसे अचौर्य व्रत दृढ़ रहे, उन कारणोंको सदा मिलाते रहना चाहिए ॥

ब्रह्मचर्याणुव्रत ।

"प्रमत्तयोगान्मैथुनमब्रह्म" प्रमत्तयोग अर्थात् वेदकषायजनित भावयुक्त स्त्री-पुरुषोंकी रमणक्रिया कुशील कहलाता है। इस कुशीलके त्यागको ब्रह्मचर्यव्रत कहते हैं। यथार्थमें ब्रह्म जो आत्मा उसमें ही आत्माके उपयोग (चैतन्यभाव) की चर्या अर्थात् रमणक्रिया (गमनागमन) सच्चा ब्रह्मचर्य है। उस सच्चे ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मामें उपयोगके स्थिर होनेको बाधक कारण मुख्यपने स्त्री है इस लिये जब सम्यग्ज्ञानपूर्वक स्त्रीसे विरक्त होकर कोई पुरुष मुनिव्रत धारण करता है, तभी आत्मा स्वरूपमें रमनेवाला साधु (आत्मस्वरूप का साधक) कहलाता है। इसी कारण स्त्रीका सर्वथा त्याग करना व्यवहार ब्रह्मचर्य कहा गया है। गृहस्थके इतनी अधिक वेदकषायकी मन्दता न होनेसे अर्थात् प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे वह सर्वथा स्त्री त्याग करनेको असमर्थ है। ऐसी हालतमें वेदकषाय सम्बन्धी वेदनाकी उपशांतिके लिये स्वदारसन्तोष धारना अर्थात् देव, गुरु, शास्त्र, एवं पंचोंकी साक्षीपूर्वक विवाही स्वस्त्रीके सिवाय और सब परस्त्रियोंका त्याग करना ही गृहस्थका ब्रह्मचर्य अणुव्रत है ॥

यद्यपि राजा, जाति तथा कुटुम्बके भयसे अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अभावसे (योग्यता न मिलने से) लोकमें व्यभिचार रुका हुआ है अर्थात् इन कारणोंसे लोग व्यभिचार सेवन नहीं करते, तो भी वह कुशीलत्याग व्रत नहीं कहला सकता; क्योंकि इसमें प्रमत्तयोगका अभाव नहीं है। जब इन उपर्युक्त कारणोंके बिना सम्यग्ज्ञानपूर्वको कुशीलको धर्मका बाधक जान, पापके भयसे परस्त्रीको न तो आप सेवन करे, न दूसरोंको सेवन करावे और न परस्त्री सेवीको भला समझे,

केवल अपनी बिवाही हुई स्त्री में ही सन्तोष धारण करे, तभी सच्चा स्वदार-सन्तोषी एवं कुशीलत्यागी कहला सकता है। उसे उचित है कि अपनी स्त्री सिवाय अन्य अपनेसे छोटीको पुत्री समान, बराबर-वालीको बहिन समान और बड़ीको माता समान जान कदापि विकार भाव न करे॥

विचार करनेकी बात है कि, जब कोई पुरुष किसीकी स्त्री, मां, बहिन या बेटीकी तरफ कुदृष्टिसे देखता, हंसता या कुचेष्टा करता है तब उसके चित्तमें इतना असह्य क्रोध तथा दुःख उत्पन्न होता है कि वह दोषीके मारने-मरनेको तय्यार हो जाता है, यही बात हरएक पुरुष स्त्रीको ध्यानमें रखना चाहिये। व्यभिचार सेवन करनेसे स्व-पर-द्रव्य-भाव-हिंसा होती तथा राजदंड, पंचदंडकी प्राप्ति होती है। प्रत्यक्ष ही देखो कि व्यभिचारके कारण सैकड़ों स्त्री पुरुषोंके प्राणघातके मुकदमें सरकारी अदालतोंमें नित्यप्रति आते हैं। पुनः स्त्रीके योनि, कुच, नाभि, कांख आदि स्थानोंमें सम्मूर्छन, सैनी, पंचेन्द्रिय मनुष्य (जीव) सदा उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए स्त्री सेवनसे उन प्राणियों का घात होता है। स्वस्त्रीके कामके अंगोंके स्पर्श, रस, गंध, वर्णकी समानता होनेसे स्वस्त्री सेवनमें कम हिंसा और परस्त्रीके स्पर्श, रस, गंध, वर्णकी असमानता होने से परस्त्री सेवनमें असंख्यात गुणी द्रव्य-हिंसा होती है। इसी प्रकार कामकी मूर्छा अर्थात् लम्पटभाव भी स्वस्त्री सम्बन्धमें बहुत कम और परस्त्री सम्वन्धमें बहुत (उत्कट) होनेसे अनन्तगुणी भावहिंसा होती है इसी कारण पर स्त्रीकी लुब्धता व्यसनोंमें और स्वस्त्री-सेवन विषयमें कहा गया है। इस प्रकार यह कुशील हिंसाका परिवार एवं महापाप है। जैसे सप्त व्यसनोंका मूल जुआ है उसी प्रकार पंच पापोंका उत्पादक यह व्यभिचार है॥

इस दोषसे बचनेके लिए अन्य स्त्री (वेश्या, दासी, परस्त्री,

कुमारी आदि) सेवनका सर्वथा त्याग करना चाहिये, तभी परस्त्री त्याग अथवा स्वस्त्रीसंतोषव्रत पल सकता है। कोई-कोई कहते हैं कि परस्त्रीका त्यागी वेश्यासेवन करे तो अतीचार दोष लगता है; क्योंकि वेश्या परस्त्री नहीं है उसने किसीके साथ विवाह नहीं किया, सो ऐसा कहना महा अनर्थ एवं पापका कारण है। वेश्यासे बोलने, आने, जाने, देन-लेन रखने से ही शीलव्रतमें अतीचार दोष लगता है, उसका सेवन सप्त व्यसन का मूल" अनेक रोगों व आपदाओंका उत्पादक है। वेश्याको "नगरनारि कहा है। वह एक ही परपुरुषकी स्त्री नहीं है नगर-परनगर सभी स्थानोंके पुरुषोंके पैसेकी स्त्री है, इसी कारण वेश्यासेवनको पहले छोड़नेका आचार्योंने उपदेश दिया है पीछे परस्त्री त्यागका। अतएव जिसने वेश्याव्यसनका त्याग किया हो, वही पर स्त्री त्याग एवं स्वदारसन्तोषव्रत धारण करनेका अधिकारी हो सकता है; क्योंकि लघुपाप त्याग, महापाप सेवन करना सर्वथा क्रमविरुद्ध और अनुचित है, पुनः ऐसी विधिको निरूपण करना भी महापाप है ॥

ब्रह्मचर्य अणुव्रत धारक पुरुषको पूर्ण गर्भवती (जिसके ५ माहसे अधिकका गर्भ हो) प्रसूतवाली जिस स्त्रीके बच्चा उत्पन्न हुए सूतकका काल डेढ़ माह पूर्ण न हुआ हो) रजस्वला रोगिणी, बालिका, कुंआरी, अतिवृद्धा स्वस्त्रीका भी सेवन न करना चाहिये। चैत्यालय, तीर्थ स्थान, पवित्र वा पूज्य क्षेत्र तथा अपवित्र स्थानमें स्वस्त्रीका भी सेवन न करना चाहिये। अष्टमी, चतुर्दशी, तीनों अष्टान्हिक, सोलह कारण, दशलक्षण, रत्नत्रयादि महापर्वों एवं शील—संयम पालनेके नियमोंमें, सहधर्मियों, राजाओं, महन्तपुरुषों एवं इष्ट पुरुषोंके मरण समय, इन कालोंमें भी स्वस्त्रीका सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे पापबंध होने सिवाय लोकनिन्दा तथा रोगोंकी

उत्पत्ति होती है ॥

वैदिक ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि ऋतुधर्मके कालमें स्त्रीसेवन करनेसे स्त्री पुरुष—दोनोंकी धातु—क्षीण, गर्मी, सुजाकादि रोग होना संभव हैं, यदि गर्भ रह जाय तो दुर्गुणी, अल्पायु संतान उत्पन्न होता। शास्त्रोंमें ऋतुसमय स्त्रीसे संभाषण करने तकका निषेध है। उसे स्पर्श करने, उनके छूए हुए भोजन-पान करनेसे बुद्धि मन्द, मलीन और भ्रष्ट हो जाती है, फिर उसे सेवन करना हानिकारक क्यों न हो? अवश्य ही हो। इसी प्रकार अल्पवयस्क स्त्रीको सेवन करनेसे स्त्रीकी आदत बिगड़ जाती और बहुधा व्यभिचारिणी हो जाती है। रोगिणी तथा अतिवृद्ध स्त्रीके सेवनसे धातु क्षीण हो जाती है। स्वस्त्रीमें अतीव काम सेवन तथा अनंगक्रीड़ा करना प्रगट ही दुःखका कारण है, इससे इन्द्रियोंकी शिथिलता, स्वप्नदोष, पिंडलियों में शूल, शरीरकी अशक्तता, धातुविकार, प्रदर-रोग, रज-दोष, सन्तानहीनता, बंध्यापना, नपुंसकता आदि दोष उत्पन्न होते हैं, ऐसा जान योग्य प्रवृति करना ही श्रेष्ठ है ॥

इस व्रतके विषयमें पुरुषोंकी नांई स्त्रियोंको भी स्वप्न पर पतिकी वांछा नहीं करना चाहिये। अपने विवाहित पति की, चाहे वह सुन्दर—सर्वगुणसम्पन्न हो, चाहे, रोगी, वृद्ध, कुरूप, लूला, लंगड़ा कैसा भी क्यों न हो, सेवा करना, उसकी आज्ञामें चलना और पतिव्रत-धर्मको निर्दोष पालना चाहिये। स्त्रियोंको किसी भी हालतमें कभी स्वच्छन्द (स्वतन्त्र) नहीं रहना चाहिये, क्योंकि स्वेच्छाचार पूर्वक रहनेसे व्यभिचारादि अनेक दोषों एवं निन्दाओंका उत्पन्न होना संभव है, अतएव स्त्रियोंको बचपनमें माता-पिताके आधीन, विवाह होने पर पतिके आधीन, कदाचित् विधवा हो जाय तो पुत्रादि कुटुम्बी जनोंके आधीन, रहना चाहिये। विधवाओंको ब्रह्मचर्यव्रत

धारणपूर्वक आत्मकल्याण में प्रवर्तना चाहिये अथवा उत्तम श्राविका या आर्यिकाको दीक्षा लेकर साधर्मी स्त्रियोंके संघमें रहकर गुरानी की आज्ञापूर्वक प्रवर्तना चाहिये। ऐसी स्त्रियां देवों द्वारा स्तुति-पूजाको प्राप्त होती और मरणपश्चात् स्वर्गमें उत्तम महर्द्धिक होती है ॥

कुशीलत्याग अणुव्रतके पंचातीचार।

(१) परविवाहकरण—अपने पुत्र-पुत्री सिवाय दूसरोंके पुत्र-पुत्रीकी शादीका मेल मिलाना शादी करना ॥

(२) इत्वरिका परिग्रहीतागमन—व्यभिचारिणी स्त्री जिसका स्वामी हो, उसके घर आना-जाना या उससे बोलने, उठने बैठने, लेन-देनका बर्ताव करना ॥

(३) इत्वरिका अपरिग्रहीतागमन—स्वामीरहित व्यभिचारिणी स्त्रीके घर आना-जाना, या उससे बोलने उठने-बैठने, लेन-देनका वर्ताव करना ॥

(४) अनंगक्रीडा—कामसेवनके अंगोंको छोड़ अन्य अंगों द्वारा क्रीड़ा करना ये अन्य क्रियाओं द्वारा कामकी शान्ति करना ॥

(५) कामतीव्राभिनिवेश—स्वस्त्रीमें भी कामसेवनकी अति लम्पटता रखना। द्रव्य, क्षेत्र, काल भावके विचारे बिना काम-सेवन करना ॥

सूचना—यहां जो व्याही या बेव्याही परस्त्रीके प्रति गमन करना लिखा है, सो गमन शब्दका अर्थ उसके यहां जाना अथवा जघन, स्तन, दांत आदि अंगोंका रुचिपूर्वक देखना,

प्रेम-पूर्वक वार्तालाप करना, हाथ, भौंह, आदिकी चेष्टा करना आदि जानना। गमन शब्दका अर्थ सेवन नहीं है॥

इन पंच अतीचारोंके लगनेसे ब्रह्मचर्य अणुव्रत मलीन होता है तथा बार २ लगनेसे क्रमशः नष्ट होजाता है। अतएव इन्हें त्याग निर्दोष ब्रह्मचर्य अणुव्रत पालना चाहिये॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतकी पंच भावना॥

(१) स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग—अन्यकी स्त्रियोंमें राग उत्पन्न करने वाली कथा-वार्ता-गीत, सुनने-पढ़ने-कहनेका त्याग करना॥

(२) तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्याग—अन्यकी स्त्रीके मनोहर अंगोंको रागभावपूर्वक न देखना

(३) पूर्वरतानुस्मरण—अणुव्रत धारण करनेके पहिले अव्रत अवस्थामें भोगे भोगोंका स्मरण नहीं करना॥

(४) वृष्येष्टरसत्याग—कामोद्दीपक पुष्ट एवं भरपेट व रस-मात्रादिक भक्षण न करना॥

(५) स्वशरीरसंस्कारत्याग—कामी पुरुषों सरीखे कामोद्दीपन करने योग्य शरीरको नहाने, तेल उबटनादि लगाने, वस्त्रादि पहिरने, शृंगार करने का त्याग करना, सादा पहिनाव उढ़ाव रखना॥

इन पंच भावनाओंके सदा चिंतवन करनेसे परस्त्रीत्याग एवं स्वदारसंतोष व्रत दृढ रहता है, इसलिये ब्रह्मचर्य अणुव्रतीको इन भावनाओंका सदा चिंतवन करना चाहिये॥

५ परिग्रह-परिमाण अणुव्रत ॥

"प्रमत्तयोगान्मूर्छा परिग्रहः" आत्माके सिवाय जितनेमात्र रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म औदारिकादि नोकर्म तथा शरीरसम्बन्धी स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, गृह, क्षेत्र. वस्त्र, वर्तन आदि चेतन अचेतन पदार्थ हैं, सो सब पर हैं, इन्हें ग्रहण करना व इनसे ममत्वभाव रखना सो परिग्रह है। इस परिग्रहका आवश्यकताके अनुसार परिमाण करना सो परिग्रह-परिमाण व इच्छापरिमाण अणुव्रत है ॥

जीव अनादिकालसे मिथ्यात्वकर्मके उदयवश अपनी आत्माको और इन कर्म-नोकर्म, स्त्री-पुत्रादि परिग्रहोंको एक स्वरूप ही श्रद्धान कररहा है। यद्यपि प्रत्यक्ष देखता है कि मरने पर स्त्री पुत्र-धन-धान्यादि साथ नहीं जाते, यहां तक कि आत्मासे एक क्षेत्रावगाहरूप रहने वाला यह नाशवान् शरीर भी यहां पड़ा रहजाता है, भाव-कर्म, द्रव्य-कर्म भी आत्मासे भिन्न हैं, जबतक आत्म भूलवश इनका कर्त्ता बनता है, तबतक चतुर्गतिमें भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार दुःख भोगता है, यथार्थमें ये सब पदार्थ इस आत्माको स्वरूपसे च्युत करने वाले हैं। इसीलिए परोपकारी आचार्योंने भली भांति समझा २ कर उपदेश दिया है कि "हे भव्यजीवो ? तुम जिस परिग्रहको अपना २ कहते हो और जिसके लिए तुम धर्म-अधर्म करते कुछ भी नहीं डरते वह रञ्चमात्र भी तुम्हारे साथ जाने वाला नहीं है"। श्रीगुरुके ऐसे सदुपदेशको सुनकर जिन जीवोंका अच्छा होनहार है, वे भलीभांति परीक्षापूर्वक उपर्युक्त बातों पर दृढ़ विश्वास (श्रद्धान) करलेते हैं और चाहते हैं कि कब हम इन पर वस्तुओंके मेलसे रहित होकर निश्शल्य (सुखी) होवें। ऐसा विचारकर जो उत्तम पुरुष मुनिव्रत धरनेको समर्थ हैं, वे इन परिग्रहोंको तृणवत् तुच्छ

जान तजकर महाव्रती हो जाते हैं और जो पुरुष प्रत्याख्याना-वरण कषायके उदयसे कीचड़ (दलदल) में फँसे हुए गजराज के समान इस परिग्रहके सर्वथा त्यागनेको असमर्थ हैं, वे गृह-स्थाश्रममें रहकर अपने द्रव्य, क्षेत्र काल' भावकी योग्यतानुसार क्षेत्र, मकान (वास्तु), चांदी, सोना, धन (पशु), धान्य (अनाज), दासी, दास, वस्त्र, वर्तन इन दश प्रकारके परि-ग्रहोंका प्रमाण कर लेते हैं। प्रगट रहे कि जितने अंशोंमें मम-त्वबुद्धि (अन्तरंग-परिग्रह) तथा धन, धान्यादि बाह्य-परिग्रह घटता है उतनी ही अधिक उपयोगकी स्थिरता आत्मस्वरूपमें होती है, जो पारमार्थिक रसस्वादका कारण है ॥

जो परिमाण वर्तमान परिग्रहको घटाकर किया जाय, वह उत्तम है। जो वर्तमान परिग्रहके बराबर ही परिमाण किया जाय वह मध्यम है तथा जो वर्तमान परिग्रहसे अधिक परिमाण किया जाय, वह जघन्य परिग्रहपरिमाणव्रत है। यद्यपि यह जघन्य भेद प्रशंसनीय नहीं है तथापि हद (सीमा) हो जानेसे यह भी अधिक तृष्णामें पड़नेसे बचाता है। तृष्णा पंचपापकी उत्पादक, आकुलता-व्याकुलताकी जड़ महा-दुखदाई है। अतएव तृष्णा घटाने और निश्शल्य होनेके लिए परिग्रह प्रमाण करने से बढ़कर और कोई दूसरा उपाय नहीं है ; क्योंकि नीतिकारों-का वाक्य है:—

दोहा—गोधन, गजधन, वाजिधन और रतन धन खान।
जब आवत सन्तोष धन, सब धन धूलि समान ॥१॥
चाह घटी चिन्ता गई, मनुआ बे-परवाह।
जिनको कछू न चाहिये, ते शाहनपति शाह ॥२॥

यद्यपि अन्तरङ्ग मूर्छा घटानेके लिये बाह्यपरिग्रह घटाया जाता है तथापि बाह्यपरिग्रह घटानेपर भी जो मूर्छा न घटाइ जाय तो प्रमत्तयोगके सद्भावसे यथार्थ परिग्रह व्रत नहीं हो सकता ॥

यहां कोई प्रश्न करे कि अर्हन्त परमेष्ठीके समवसरण, छत्र चमरादि बहुतसी अलौकिक विभूति पाइये है, फिर उन्हें अपरिग्रही, वीतरागी कैसे माना जाय ? उसका समाधान—तीर्थकर भगवान् गृहस्थपना छोड़, सम्पूर्ण परिग्रह त्याग, वीतरागी हो आत्मस्वरूप साध, परमात्मा अर्हन्त हुए, तब उनकी पूर्वसंचित तीर्थंकर पुण्य-प्रकृतिके उदयवश यद्यपि इन्द्रादिक देवोंने समवसरणकी रचनाकी, उनके छत्र, चामरादि मंगल द्रव्योंकी योजना की, तथापि मोहके सर्वथा अभावसे उनके उस विभूतिसे कुछ भी ममत्वबुद्धि (मूर्छा) नहीं है। पुनः उनकी वीतरागताका प्रत्यक्ष नमूना यह है कि वे समवसरणस्थित सिंहासनसे अन्तरीक्ष (चार अङ्गुल अधर) विराजमान रहते हैं। इस प्रकार अन्तरंग मूर्छा और बाह्य परिग्रह रहित होनेसे वे पूर्ण वीतरागी हैं ॥

परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके पंचातीचार ।

तत्त्वार्थसूत्रजीमें कहा है कि क्षेत्र-वास्तु आदि पांच युग्म अर्थात् दश प्रकारके परिग्रहोंका परिमाण बढ़ा लेना, अथवा कोईका परिमाण घटा लेना, कोईका प्रमाण बढ़ा लेना ॥

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें इस प्रकार भी कहे हैं ॥ (१) प्रयोजनसे अधिक सवारी रखना, (२) आवश्यकीय वस्तुओंका अतिसंग्रह करना, (३) दूसरोंका विभव देख आश्चर्य अथवा इच्छा करना, (४) अति लोभ करना, (५) मर्यादासे अधिक बोझ लादना ॥

इन पंचातीचारोंसे परिग्रह-परिमाण व्रत सदोष होता है इस लिए व्रत निर्दोष पालनेके निमित्त इन अतिचारोंको टालना चाहिये ॥

परिग्रहपरिमाण अणुव्रतकी पंच भावना।

बहुत पापबन्धके कारण अन्याय-अभक्ष्य रूप पांचों इन्द्रियों-के विषयका यावज्जीव त्याग करना। कर्मयोगसे मिले हुए मनोज्ञ विषयोंमें अति राग व आसक्तता नहीं करना तथा अमनोज्ञ विषयोंमें द्वेष-घृणा नहीं करना॥

इन भावनाओंके सदा स्मरण रखनेसे परिग्रह-परिमाणव्रत में दोष लगने रूप प्रमाद उत्पन्न नहीं होने पाता तथा व्रतमें दृढ़ता रहती है॥

पंचाणुव्रत धारण करनेसे लाभ।

सम्यक्त्वी गृहस्थ हिंसादि पंच-पापोंको मोक्षमार्गके साधनों-का विरोधी एवं विघ्नकर्ता जानता है, परन्तु गृहस्थाश्रममें फँसे रहनेके कारण विवश हो इनको सर्वथा त्याग नहीं सकता, केवल एकदेश त्याग करसकता है॥ इस त्यागसे इसे लौकिक, पारलौकिक दोनों प्रकारके लाभ होते हैं॥ यथाः—

लौकिक लाभ ये हैं:—सर्वजन ऐसे पुरुषको धर्मात्मा-प्रामाणिक समझते, इसलिये उसकी इज्जत करते, सर्वप्रकार सेवा सहायता करते और आज्ञा मानते हैं उसका लोकमें यश होता है। न्यायप्रवृत्तिके कारण उसका धन्धा अच्छा चलता है, जिस से धन सम्पदादि सुखोंकी प्राप्ति होती है। जितने कुछ राजसम्बन्धी, जातिसम्बन्धी दण्ड तथा लौकिक अपवाद हैं, वे सब इन स्थूल पञ्च पापोंके लिये ही हैं, अतएव इनका त्यागी कदापि राज एवं पञ्चों द्वारा दण्डित तथा लोकनिंद्य नहीं हो सकता, ऐसे ही पञ्च पापके त्यागी (सच्चे ब्राह्मण) शास्त्रोंमें अदण्ड कहे गये हैं। यदि इन पापोंके न्यायका प्रचार लोकमें सर्वत्र हो जाय, तो पुलिस न्यायालय एवं सेनाकी आवश्यकता ही न रहे, राजा

और प्रजा दोनों आर्थिक, शारीरिक तथा मानसिक कष्टोंसे बचे रहें। शास्त्रोंसे विदित होता है कि पूर्व कालमें आर्य-नृपतियोंकी सभाओंमें मुकदमोंके फैसले होनेकी जगह पञ्च-पाप निषेधके उपदेश दिए जाते थे। उस समयके प्रजारक्षक, राजहितैषी सर्व शुभेच्छु ऋषि, मुनि, त्यागी, ब्रह्मचारी गृहस्थाचार्य एवं राजनीतिज्ञ पुरुष सर्व साधारणको इन दोषोंसे बचनेका उपदेश देकर राजा-प्रजाका हित करते थे। जहां-तहां हरएक मतके देवालयों, मठों, धर्मशालाओं आदिमें भी इन दोषोंसे बचने का उपदेश दिया जाता था, जिसकी थोड़ी बहुत प्रथा अब भी अपभ्रंशरूपमें जीती-जागती दिखाई देती है। इसी कारण उस समय इन पञ्च-पापोंकी प्रवृत्ति बहुत कम होती थी। उस समय झगड़ोंका निपटारा करनेके लिये न्यायालयों (अदालतों) की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी, जातीय-पञ्चायतें स्वयं फैसला कर लेती थीं, "राजा राज, प्रजा चैन करती थी" ॥

पारलौकिक लाभ ये हैं:— पञ्च पापोंके स्थूल त्यागसे बहुत सी प्रमाद-कषायजनित आकुलता-व्याकुलतायें घट जाती हैं, पाप बन्धहीन होता और शुभ कार्योंमें विशेष प्रवृत्ति होकर सातिशय पुण्यबंध होता है जिससे आगामी स्वर्गादि सुखोंकी और परम्परया शीघ्र ही मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है ॥

सप्तशीलोंका वर्णन।

पहिले वह ही आए हैं कि सप्तशीलोंमें तीन गुणव्रत तो अणुव्रतोंको दृढ़ करते, उनकी रक्षा करते और चार शिक्षाव्रत, मुनिव्रतकी शिक्षा देते अर्थात् इन अणुव्रतोंको महाव्रतोंकी सीमा तक पहुँचाते, उनसे सम्बन्ध कराते हैं ॥

सूत्रकारोंने दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत इन तीनोंको

गुणव्रतोंमें तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग इन चारोंको शिक्षाव्रतोंमें कहा है। परन्तु श्रावकाचार ग्रन्थोंमें बहुधा भोगोपभोगपरिमाणको गुणव्रतोंमें और देशव्रत (देशावकाशिक) को शिक्षाव्रतोंमें कहा है। सो इसमें आचार्योंकी केवल कथनशैलीका भेद है, अभिप्राय भेद नहीं; क्योंकि दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण तो आरम्भिक पञ्च पापोंकी हद बान्धते और देशविरति तथा अतिथि सम्विभाग उस हदको घटाते (क्षीण करते) हैं, पुनः सामायिक-प्रोषधोपवास कुछ कालतक उन स्थूल पापोंसे सर्वथा रक्षा करते हैं॥ चारित्रपाहुडकी टीकामें कहा है कि किसी २ आचार्यने दिग्व्रत, अनर्थदण्ड, भोगोपभोग-परिमाण ये तीन गुणव्रत। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और समाधिमरण ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं। सो ऐसा जान पड़ता है कि वहां दिग्व्रतमें देशविरतका गर्भित किया है अथवा भोगोपभोग-परिमाणके नियमोंमें नित्य प्रमाण होनेसे देशविरत (देशावकाशिक) इसमें भी गर्भित हो सकता है॥ वसुनन्दिश्रावकाचारमें सामायिक, प्रोषधोपवासको व्रतोंमें न कहकर अलग २ तीसरी चौथी प्रतिमामें ही कहा है और भोगप्रमाण, उपभोगप्रमाण, अतिथिसंविभाग, सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं॥ यहांपर श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचारकी पद्धतिके अनुसार इनका वर्णन किया जाता है॥

तीन गुणव्रत—१ दिग्व्रत।

पाप (सावद्य योग) की निवृत्तिके हेतु चार दिशा-पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर। ४ विदिशा-आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान। १ ऊपर। १ नीचे। इस प्रकार दशों दिशाओंका प्रमाण वन, पर्वत, नगर, नदी, देश आदि चिन्हों द्वारा करके उसके

बाहिर सांसारिक विषय-कषाय सम्बन्धी कार्योंके लिए न जाने की यावज्जीव प्रतिज्ञा करना, सो दिग्व्रत कहाता है ॥

प्रमाण—अपनी योग्यता विचार कर करना चाहिये इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि निरर्थक ही आवश्यकतासे अधिक क्षेत्रका प्रमाण न करलिया जाय। सिवाय इसके दिग्व्रती का यह भी उचित है कि जिस क्षेत्र (देश) में जानेसे श्रद्धान-ज्ञान चारित्र दूषित या भंग होता हो, उस क्षेत्रमें भी जानेका त्याग करे।

दिग्व्रतके पंचातीचार।

(१) प्रमादवश मर्यादासे अधिक ऊंचा चढ़ जाना।

(२) प्रमादवश मर्यादासे अधिक नीचे उतर जाना।

(३) प्रमादवश समान भूमिमें दिशा-विदिशाओंकी मर्यादाके बाहिर चले जाना।

(४) प्रमादवश क्षेत्रकी मर्यादाको भूल जाना।

(५) प्रमादवश की हुई मर्यादा बढ़ा लेना।

लाभ—दिग्व्रत धारणसे अणुव्रतीको यह बड़ाभारी लाभ होता है कि अपने आने-जाने आदि बर्तावके क्षेत्रका जितना प्रमाण किया है, उससे बाहिर क्षेत्रकी तृष्णा घट जाती है, मन में उस क्षेत्र सम्बन्धी किसी प्रकारके विकल्प भी उत्पन्न नहीं होते तथा उस त्यागे हुए क्षेत्र सम्बन्धी सर्वप्रकार त्रस-स्थावर हिंसाके आस्रवका अभाव होनेसे वह पुरुष उस क्षेत्रमें महाव्रतीके समान हो जाता है। नोट-यहां महाव्रती उपचारसे जानना। इसके प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है, इसलिये यथार्थमें अणुव्रती ही है ॥

२ अनर्थदंड-त्याग व्रत ।

दिशा-विदिशाओंकी मर्यादा पूर्वक जितने क्षेत्रका प्रमाण किया हो, उसमें भी प्रयोजन-रहित पापके कारणोंसे अथवा प्रयोजन-सहित महापाप (जिनसे धर्मकी हानि होती हो या जो धर्मविरुद्ध-लोकविरुद्ध-जातिविरुद्ध हों) के कारणोंसे विरक्त होना सो अनर्थदंड-त्याग व्रत है अथवा जिन कार्योंके करनेसे अपना प्रयोजन कुछ भी न सधता हो या अल्प-सधता हो और जिनका दण्ड महान् हो अर्थात् नरकादि गतियोंमें दीर्घदुःख भुगतना पड़ें। अर्थदण्डरूप क्रियाओंका त्याग करना, सो अनर्थ-दण्डव्रत है। अनर्थदण्डके पांच भेद हैं।

(१) पापोपदेश—पापमें प्रवृत्ति करानेवाला तथा जीवों का क्लेश पहुंचानेवाला उपदेश देना या वाणिज्य, हिंसा, ठगाई आदिकी कथा (कहानी) कहना, जिससे दूसरोंकी पापमें प्रवृत्ति हो जाय। जैसे, किसीसे कहनाकि धान्य खरीद लो। घोड़ा, गाड़ी, भैंस, ऊंट आदि रखलो। बाग लगाओ, खेती कराओ, नाव चलाओ, अग्नि लगादो आदि ॥

(२) हिंसादान—हिंसाके उपकारण कुल्हाड़ी, तलवार, खंता, अग्नि, हथियार, सांकल आदि दूसरोंको मांगे देना*भाड़े-से देना या दानमें देना तथा इनका व्यापार करना ॥

(३) अपध्यान—रागद्वेषसे दूसरोंके वध, बंधन, हानि, नाश होने या करने सम्बन्धी खोटे विचार करना, परस्पर बैर याद करना आदि ॥

(४) दुःश्रुति-श्रवण—चित्तमें रागद्वेषके बढानेवाले

* सागरधर्मामृतकी टीकामें "जिनसे व्यवहार हो उनके सिवाय किसीको न देना" ऐसा भी कहा है ॥

क्लेश उत्पन्न करानेवाले, काम जाग्रत करानेवाले, मिथ्याभाव बढानेवाले, आरम्भ परिग्रह बढानेवाले, पापमें प्रवृत्ति करानेवाले तथा क्रोधदि कषाय उत्पादक शास्त्रों, पुस्तकों पत्रादिकोंका पठन-पाठन करना, सुनना अथवा इसी प्रकारके किस्से कहानी करना ॥

(५) प्रमादचर्या—बिना प्रयोजन फिरना, दूसरोंको फिराना। पृथ्वी-पानी-अग्नि-वनस्पति आदिका निष्प्रयोन छेदना, भेदना, घात करना आदि ॥

अनर्थदंड त्याग व्रतके पंच अतीचार ।

(१) नीचे पुरूषों सरीखे भंडवचन बोलना, कामके व हंसी-मसखरीके वचन कहना ॥

(२) कायकी भंडरूप खोटी चेष्टा करना, हाथ-पांव मटकाना मुंह बनाना आदि ॥

(३) व्यर्थ बकवाद करना या छोटीसी बात बहुत आडम्बर बढाकर कहना ॥

(४) बिना विचारे, मन-वचन कायकी प्रवृत्ति करना ॥

(५) अनावश्यक भोगोपभोग सामग्री एकत्र करना या उसका व्यर्थ व्यवहार करना ॥

अनर्थदंड-विरति में दोष लगानेवाले इन पंच अतीचारोंको छोडना चाहिये, जिससे व्रत दूषित होकर नष्ट न होने पावे ॥

लाभ—अनर्थदंड-त्याग करनेसे प्रयोजन रहित अथवा अल्प प्रयोजन सहित होनेवाले पापोंसे बचाव होता है ॥

भोगोपभोग-परिमाण व्रत ।

रागादिभावोंको मन्द करनेके लिये परिग्रह-परिमाण व्रत की मर्यादा में भी कालके प्रमाणसे भोग-उपभोगका परिणाम

करना, अधिक सेवनकी इच्छा न करना, सो भोगपभोग-परिमाण व्रत है ॥

जो वस्तु एकबार भोगनेके बाद, फिर दुबारा भोगने योग्य न हो, उसे भोग कहते हैं। जैसे-भोजन, पान, सुगन्ध, पुष्पादि।

जो वस्तु बार २ भोगने योग्य हो, उसे उपभोग कहते हैं। जैसे—स्त्री, आसन, शय्या, वस्त्र, वाहन, मकानादि ॥

भोगोपभोगका प्रमाण यम-नियम रूप दो प्रकारसे होता है। यावज्जीवन त्याग यम और दिन, रात्रि, मास, ऋतु, वर्ष आदि कालकी मर्यादा रूप त्याग नियम कहलाता है।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत धारण करनेमें नीचे लिखी बातों-पर ध्यान देना चाहिये ॥

(१) जिन वस्तुओंके भक्षण करनेमें त्रसजीवोंकी हिंसाकी शंका हो या जिनके आश्रय त्रसजीव रहते हों, उनका भक्षण तजे। जैसे बेर, नीम-केवड़ा-केतकी गुलाबादिके पुष्प तथा ऋतु बदलने पर या वर्षाऋतुमें पत्तीदार भाजी न खावे।

(२) ऐसे भोगोपभोग तजे, जिनमें एकेन्द्रिय आदि जीवोंकी हिंसा अधिक और जिह्वाकी लंपटता अल्प हो। जैसे कन्दमूलादि सप्रतिष्ठित बनस्पतियोंका भक्षण ॥

यहां प्रकरणानुसार वनस्पति विषयक संक्षिप्त विवरण कहा जाता है ॥

वनस्पतिके सामान्य रीतिसे दो भेद हैं। साधारण और प्रत्येक। (१) जिस एक वनस्पति-शरीरके अनन्त जीव स्वामी हों, वह साधारण वनस्पति कहाती है॥ (२) जिन एक वनस्पति-शरीरका एकही जीव स्वामी हो, वह प्रत्येक वनस्पति कहलाती है॥ इस प्रत्येकके दो भेद हैं ॥

(१) अप्रतिष्ठित प्रत्येक—जिस वनस्पति शरीरका एक स्वामी हो तथा जिसके आश्रय कोई भी निगोद शरीर न हो। इसकी पहिचान-जिसमें रेखा-गांठें संधियें प्रत्यक्ष दिखती हों, जिसमें तन्तु हों और जो तोड़ने पर समभंग न टूटे, टेढी-बांकी टूटे ॥

(२)सप्रतिष्ठत प्रत्येक—जिस वनस्पति शरीरका स्वामी एक जीव हो तथा अनंत साधारण निगोद-जीव जिसके आश्रय रहते हों ॥ इसकी पहिचान जिनमें रेखायें, गांठें प्रगट न हुई हों और तोड़ने पर तन्तु न लगे रहें, जो समभंग न टूटें ॥

प्रगट रहे कि फल पुष्प, वृक्ष आदि उत्पत्ति समय अंतर्मुहूर्त तक निगोद रहित अप्रतिष्ठित ही रहते हैं। पीछे, उनमें निगोद जीव उत्पन्न होने लगते हैं जबतक उनमे धर तंतु-शिरा-संधि स्पष्ट न हों या वे तोड़नेसे बराबर टूटें, तबतक सप्रतिष्ठत रहते हैं, जब ये लक्षण प्रगट हो जांय, तब उनमें के निगोद जीव निकल जानेसे वही अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाते हैं।

इस प्रकार साधारण सहित प्रत्येक अर्थात् सप्रतिष्ठित के* भक्षणमें जीवहिंसा बहुत होती है, तहां कंद-मूलादि वनस्पति तो प्रायः साधारण निगोद सहित सप्रतिष्ठित ही सदा रहती है। काकड़ी, तोरई, नारंगी, नीबू, आदि फलों, तरकारियों या पुष्पोंमें शिरा-तंतु आदि निकलने पर वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाते हैं× ॥ हां यह बात दूसरी है कि इनमें किसीके आश्रय त्रस जीव रहते हों॥

---

* इस सप्रतिष्ठित प्रत्येकको अनंत साधारण निगोदजीवोंसे युक्त होने से साधारण भी कहते हैं।

× एक वृक्षमें वृक्षभरका स्वामी एक जीव तथा फूल पत्ते फलादि के स्वामी अलग २ जीव भी होते हैं॥

बहुतसे साधारण जैनी-गृहस्थ, आखड़ी रूपसे अथवा भोगोपभोग-प्रमाणव्रत धारक धार्मिक व्रती गृहस्थ, आरंभ, हिंसा इन्द्रियोंके दर्प तथा मनके संकल्प-विकल्पोंके घटाने एवं जिह्वा-इन्द्रियका विषय घटानेके लिए अठाई, दशलक्षण, रत्नत्रय, सोलह कारण, अष्टमी, चतुर्दशी आदि पवित्र दिनों (पर्वों) में हरी वनस्पतियां भक्षण करना छोड़ देते हैं। यदि कर्म योगसे सूखी तरकारीकी प्राप्ति हो जाय, तो खाते हैं। उनको कोई भाई यह कहकर भ्रममें डालते हैं कि जब पंचमी प्रतिमावाला भी हरी को सिझाकर (अचित्त करके) खा सकता है, तो तुम हरी खाना क्यों त्यागते हो ? सिझाकर तुम भी क्यों नहीं खाते ? सो ऐसे भाइयोंको विचारना चाहिये कि त्याग करनेवालोंने सचित्त-अचित्तके खयालसे (पांचवीं प्रतिमावालोंकी तरह) त्याग नहीं किया, हरीके खयालसे त्याग किया है, इसलिये वे हरीको सिझाकर या लवणादि मिलाकर नहीं खा सकते ॥

(३) प्रकृति विरुद्ध भोगोपभोग तजे, अर्थात् जिन पदार्थोंके भक्षण या उपभोग करनेसे अपनेको रोग तथा क्लेश होता हो, उनका सेवन छोड़े ॥

(४) अनुपसेव्य अर्थात् उत्तम जाति—कुल धर्मके विरुद्ध भोगोपभोग छोड़े। जैसे, शूद्रका छुआहुआ तथा अशुद्ध स्थानमें रक्खा हुआ भोजन। चौके बाहिरकी रोटी, दालादि रसोई। कुत्ता-कौआ आदि क्रूर हिंसक पक्षियोंका स्पर्शा या झूठा किया हुआ भोजन। मनुष्योंकी झूठने आदि। म्लेच्छों सरीखा पहिनाव उढ़ाव, रहन-सहन आदि ॥

(५) बुद्धिको विकाररूप एवं विपर्यय करनेवाली प्रमाद जनक भांग-तमाखू-गांजा आदि नशीली वस्तुओंका भक्षण तजे ॥

(६) धर्म (चारित्र) को हानि पहुँचाने वाली विदेशी

अज्ञात और अपवित्र औषधि आदि पदार्थोंका भक्षण तजे ॥ इसी प्रकार अधिक हिंसाके धंधे, जिनमें निर्दयता अधिक और लाभ थोड़ा हो, करना तजे ॥ अयोग्य भोगोपभोगों को सर्वथा तजे तथा भोगोपभोगोंका प्रमाण करे। इसके लिए आचार्योंने ग्रन्थोंमें नित्य १७ नियम करनेका उपदेश दिया है ॥

॥ श्लोक ॥

भोजने[1] षट्रसे[2] पाने[3] कुंकुमादिविलेपने[4] ॥
पुष्प[5]ताम्बूल[6]गीतेषु[7], नृत्यादौ[8] ब्रह्मचर्यके[9] ॥ १ ॥
स्नान[10]भूषण[11]वस्त्रादौ[12] वाहने[13] शयना[14]सने[15] ॥
सचित्त[16]वस्तुसंख्यादौ[17] प्रमाणं भज प्रत्यहं ॥ २ ॥

अर्थ

(१) आज इतने बार भोजन करूंगा (२) छह रसों (दूध, दही, घी, शक्कर-गुड़ आदि मीठा, लौन (नमक) तैल में से इतने रस खाऊंगा (३) शर्बत या जलपान इतने बार करूंगा (४) चन्दन, केशर आदिका तिलक, तेल या कुंकुमादि का विलेपन इतनी बार करूंगा (५) पुष्प इतने प्रकारके और इतनी बार सूँघूंगा (६) पान-सुपारी-इलायची आदि स्वाद्य पदार्थ इतने बार खाऊंगा (७) गीत सुनूंगा या नहीं (८) नृत्य देखूंगा या नहीं (९) आज ब्रह्मचर्यसे रहूँगा या नहीं (१०) आज इतने बार स्नान करूंगा (११) आभूषण (जेवरात) इतने और अमुक २ पहिनूंगा (१२) वस्त्र इतने और अमुक २ पहिनूंगा (१३) गाड़ी-घोड़ा-तांगा, रेल, मोटर-बाइसकिल आदि अमुक २ सवारी करूंगा (१४) बिस्तर-पलंग आदि और अमुक २ पर शयन करूंगा (१५) बेंच, कुर्सी,

आराम कुर्सी, तखत, गादी आदि अमुक २ और इतने आसनों पर बैठूंगा (१६) सचित्त (हरी तरकारी) आज इतने खाऊंगा (१७) अन्यान्य वस्तुएं इतनी रक्खूंगा* ॥

इस प्रकार १७ नियम नित्य प्रातःकाल सामायिक किये पीछे ले-और पहले दिन लिये हुओंको सम्भाले, यदि किसीमें दोष लगा हो, तो उसका शोधन करे, प्रायश्चित ले ॥

भोगोपभोग-परिमाणव्रतके पंच अतीचार ।

(रत्न करण्ड-श्रावकाचार अनुसार.)

(१) विषय-भोगोंमें प्रीति करना, हर्ष मनाना ॥

(२) पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना ॥

(३) वर्तमान भोग भोगनेमें अति लम्पटता रखना ॥

(४) भविष्यमें भोग प्राप्तिकी अति तृष्णा करना ॥

(५) विषय न भोगनेपर भी विषय भोगने सरीखा अनुभव करना ॥

(तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार)

(१) भूलसे त्यागी हुई सचित्त× वस्तु भक्षणकर लेना ॥

(२) सचित्तसे सम्बन्धरूप अर्थात् सचित्तपर रक्खा हुआ या सचित्तसे ढका हुआ भोजन करना ॥

(३) सचित्तमिश्रित भोजन करना ॥

---

*किसी किसी ग्रन्थमें सत्रहवां नियम यह लिखा है कि 'दशों दिशाओंमें इतनी इतनी दूरतक गमन करूंगा ॥'

×ज्ञात होता है कि भोगोपभोगपरिमाणव्रतका धारक, सचित्त त्यागके अभ्यासके लिये सचित्त वस्तुओंके भक्षणका भी प्रमाण या नियमरूप त्याग करता है, इसी कारणसे यहां इस प्रकार अतीचार कहे हैं सचित्तका सर्वथा त्याग होनेसे इन अतीचारोंका अभाव पांचवीं प्रतिमा में होता है ॥

(४) जो दुःपक्व अर्थात् दुखसे पके वा अधपका हो अथवा अधिक पककर बेस्वाद या कुरूप होगया हो, ऐसा भोजन करना ॥

(५) पुष्टिकारक भोजन करना ॥

इन उपर्युक्त अतीचारोंके लगनेसे भोगोपभोग परिमाणव्रत मलीन होकर क्रमशः नष्ट होजाता है इसलिए ये अतीचार बचाना चाहिये ॥

लाभ—भोगोपभोगोंके यम-नियम रूप परिमाण करनेसे विषयोंकी अधिक लम्पटता तथा वांछा घट जाती है, जिससे चित्तकी चंचलता कम पड़ती और स्थिरता बढ़नेसे धर्मध्यानमें चित्त अच्छी तरह लगता है ॥

चार शिक्षाव्रत । १ देशावकाशिक व्रत ॥

दिग्व्रत द्वारा यावज्जीवन प्रमाण किये हुए क्षेत्रको कालके विभागसे घटा २ कर त्याग करना, सो देशव्रत कहलाता है ॥

जितने क्षेत्रका यावज्जीवके लिए प्रमाण किया है, उतनेमें नित्य गमनागमनका काम तो पड़ता ही नहीं, अतएव जितने क्षेत्र में व्यवहार करनेसे अपना आवश्यकीय कार्य सधे, उतने क्षेत्रका प्रमाण दिन दो दिन, सप्ताह, पक्ष, मासके लिये स्पष्टरूपसे करले, शेषका त्याग करे, जिससे बाहिरके क्षेत्रमें इच्छाका निरोध होकर द्रव्य-भाव हिंसासे रक्षा हो ॥

देशव्रतके पंचातीचार ॥

(१) मर्यादाके क्षेत्रसे बाहिर किसी मनुष्य या पदार्थको भेजना ॥

(२) मर्यादासे बाहिरके पुरुषको शब्द द्वारा सूचना देना ॥

(३) मर्यादासे बाहिरका माल मंगाना ॥

(४) मर्यादासे बाहिरके पुरुषको अपना रूप दिखाकर या इशारेसे सूचना देना ॥

(५) मर्यादासे बाहिरके पुरुषको कङ्कर, पत्थर आदि फेंक कर चेतावनी कराना ॥

लाभ—दिग्व्रतके प्रमाणमें से जितना क्षेत्र देशव्रतमें घटाया जाता है उतने क्षेत्र सम्बन्धी गमनागमनका सङ्कल्प विकल्प तथा आरम्भ सम्बन्धी हिंसादि पापोंका अभाव हो जाता है, जिससे देशव्रतीकी त्यागे हुए क्षेत्रमें उपचार-महाव्रतीके समान प्रवृत्ति रहती है ॥

२ सामायिक शिक्षाव्रत ॥

मन-वचन-काय, कृत-कारित अनुमोदनासे, मर्यादा तथा मर्यादासे बाहिरके क्षेत्रमें नियत समय तक हिंसादि पञ्च पापों- का सर्वथा त्याग करना, राग द्वेष रहित होना, सर्व जीवोंमें समता भाव रखना, संयममें शुभ भावना करना, आर्त्तरौद्र भाव का त्याग करना सो सामायिक शिक्षाव्रत कहलाता है ॥

सामायिककी निरुक्ति एवं भाव इस प्रकार है कि 'सम' कहिये एकरूप होकर 'आय' कहिये आगमन अर्थात् परद्रव्यों से निवृत्त होकर आत्मामें उपयोगकी प्रवृत्ति होना। अथवा 'सम' कहिए रागद्वेष रहित आयः, कहिए उपयोगकी प्रवृत्ति सो सा- मायिक है। भावार्थः—साम्यभावका होना सो ही सामायिक है यह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके भेदसे छह प्रकार है। यथाः इष्ट, अनिष्ट नामोंमें रागद्वेष न करना। मनोहर, अम- नोहर स्त्री-पुरुषादिकी काष्ठ, पाषाणादिकी स्थापनामें रागद्वेष न करना। मनोज्ञ, अमनोज्ञ, नगर, ग्राम, वन आदि क्षेत्रोंमें

रागद्वेष न करना ॥ बसंत-ग्रीष्म ऋतु, शुक्ल-कृष्ण पक्ष आदि कालोंमें रागद्वेष न करना। जीवोंके शुभाशुभ भावोंमें रागद्वेष न करना। इस प्रकार साम्यभावरूप सामायिकके साधनके लिये बाह्यमें हिंसादि पञ्च पापोंको त्याग करना और अंतरङ्गमें इष्ट-अनिष्ट वस्तुओंसे रागद्वेष त्यागकी भावना करना अवश्य है, क्योंकि इन विरोधी कारणोंसे दूर करने और अनुकूल कारणोंके मिलानेसे ही साम्यभाव होता है, इस साम्यभाव होनेपर ही आत्मस्वरूपमें चित्त मग्न होता है, जो सामायिक धारण करनेका अंतिम साध्य है ॥

अब सामायिक १ योग्य द्रव्य (पात्र) २ योग्य क्षेत्र ३ योग्य काल ४ योग्य आसन ५ योग्य विनय ६ मनःशुद्धि ७ वचन शुद्धि ८ कायशुद्धि पूर्वककी जाती है तभी परिणाममें शांति सुखका अनुभव होता है। यदि इन बाह्य-कारणोंकी योग्यता पर विचार न किया जायतो सामायिकका यथार्थ फल प्राप्त नहीं हो सकता, अतएव इनका विशेष स्वरूप वर्णन किया जाता है :—

(१) योग्य द्रव्य (पात्र)—सामायिकके पूर्ण अधिकारी निर्ग्रन्थ मुनिराज ही हैं, उन्हींके सामायिक संयम होता है, क्योंकि उन्होंने पंचेन्द्रिय तथा उनको वशकर अंतरंग कषायोंको निर्मल कर डाला है, बाह्य-परिग्रहोंको तज, षटकायकी हिंसाको सर्वथा त्याग कर दिया है, जिससे उनके सदाकाल समभाव रहता है ॥ श्रावक (गृहस्थ या गृहत्यागी*) केवल नियत काल तक सामायिककी भावना भावनेवाला सामायिक व्रती या नियत

---

* सागरधर्मामृत तथा धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें व्रत-प्रतिमासे ही गृहस्थ गृहत्यागीके दो भेद कहे गये हैं। अर्थात् कोई कोई श्रावक ऐसे भी हैं कि जो व्रत प्रतिमा धार, गृह छोड़, विचरते हुए, धर्मसाधनमें तत्पर हैं, वे व्रतप्रतिमाधारी गृहत्यागी कहलाते हैं।

काल तक समताभाव धरनेवाला सामायिक प्रतिमाधारी हो सकता है ॥ जिस सामायिक द्वारा मुनि शुद्धोपयोगको। प्राप्त होकर, संवरपूर्वक कर्मोंकी निर्जरा करते और समस्त कर्मोंका क्षय कर मोक्षको प्राप्त होते हैं, उसी सामायिकके प्रारंभिक अभ्यासी श्रावक, शुभोपयोग द्वारा सातिशय पुण्य बंध करके अभ्युदययुक्त स्वर्गसुख भोग, परम्पराय मोक्षके पात्र हो जाते हैं ॥

(२) योग्य क्षेत्र—जहां कलकलाट शब्द न हो, लोगोंका संघट्ट (भीड भाड) न हो। स्त्री, पुरुष, नपुंसकका आना, जाना, ठहरना न हो। गीत-गान आदिकी निकटता न हो। डांस, मच्छर, कीड़ी आदि बाधाकारक जीव-जन्तु न हों। अधिक शीत-उष्ण-वर्षा, पवनादि चित्तको क्षोभ उपजाने वाले तथा ध्यानसे डिगाने वाले कारण न हों, ऐसे उपद्रव रहित-बन घर धर्मशाला-मंदिर वा चित-शुद्धिके कारण अतिशय क्षेत्र, सिद्ध-क्षेत्र आदि एकान्त स्थान ही सामायिक करने योग्य हैं।

(३) योग्य काल—प्रभात, मध्यान्ह, संध्या इन तीनों उत्कृष्ट ६ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और जघन्य २ घड़ी योग्यतानुसार सामायिकका काल है। इसके सिवाय अधिक काल तक या अतिरिक्त समयमें सामायिक करनेके लिये कोई निषेध नहीं है। सबेरे ३ घड़ी, २ घड़ी १ घड़ी रातसे, ३ घड़ी २ घड़ी १ घड़ी दिन चढ़े तक ॥ मध्यान्हको ३।२।१। घड़ी पहलेसे ३।२।१ घड़ी पीछे तक ॥ संध्याको ३।२।१। घड़ी पहलेसे ३।२।१। घड़ी रात्रि तक सामायिक करना योग्य है। इन समयोंमें परिणामोंकी विशुद्धता विशेष रहती है ॥

कई ग्रन्थोंमें सामायिक काल सामान्य रीतिसे ६ घड़ी कहा गया है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृतटीका और दौलतराम

क्रिया कोषमें तीनों समय मिलाकरभी ६ घड़ी कहा है। श्री धर्मसारजी में जघन्य २ घड़ी, मध्यम४ घड़ी और उत्कृष्ट ६ घड़ी कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि सामायिक व्रतमें जघन्य दो घड़ीसे लेकर उत्कृष्ट ६ घड़ी पर्यन्त योग्यतानुसार त्रिकाल सामायिकका काल है ॥

योग्य आसन—काष्ठके पटिये पर, शिलापर, भूमिपर या बालूरेतमें पूर्व उत्तरकी ओर मुख करके पर्यंकासन (पद्मासन) बांधकर या खड़े होकर (खड्गासन) अथवा अर्धपद्मासन *या पालथी मारकर, इनमें से जिस आसनसे शरीरकी थिरता, परिणामोंकी उज्ज्वलता नियत काल तक रहना संभव हो, उसी आसनसे क्षेत्रका प्रमाण करके इन्द्रियोंके व्यापार वा विषयोंसे विरक्त होते हुए, केश वस्त्रादिको अच्छी तरह बांधकर (जिसमें उनके हिलनेसे चित्त में क्षोभ न हो) हस्तांजली जोड़ स्थिर चित्त करके सामायिक, वन्दनादि पाठोंका, पंच-परमेष्ठीका अथवा अपने स्वरूपका चिंतवन करे और उसमें हो ॥

योग्य विनय—सामायिकके आरम्भमें पृथ्वीको कोमल वस्त्र या पूंजणी (अमाड़ीकी कोमल बुहारी) से बुहार (प्रतिलेखन) कर ईर्यापथ-शुद्धि पूर्वक खड़ा होवे, क्षेत्र-कालका प्रमाण करे तथा ६ बार णमोकार मंत्र पढ हाथ जोड़ पृथ्वीपर मस्तक लगाकर नमस्कार करे। पश्चात् चारों दिशाओंमें नव २ णमोकार मंत्र पढ़ कर तीन-तीन आवर्त दोनों हाथोंकी अगुली

---

*अर्ध-पद्मासन श्री ज्ञानार्णवजीके धर्मध्यान अधिकारमें कहा है; परन्तु उसका स्वरूप नहीं कहा ॥ दक्षिण प्रान्तमें बहुतसी प्रतिमायें ऐसे आसनयुक्त हैं कि जिसके दाहिने पांव की पगतली ऊपर और बांयें पांवकी पगतली नीचे है, लोग उसे अर्ध पद्मसन कहते हैं ॥

जोड़ दाहिने हाथकी ओरसे तीन बार फिराना) और एक २ शिरोनति (दोनों हाथ जोड़ नमस्कार) करे। पीछे खड़े ही या बैठकर योग्य आसनपूर्वक णमोकारमंत्रका जाप्य करे, पंच परमेष्ठीके स्वरूपका चिंतन करे सामायिक पाठ* पढे, अनित्यादि द्वादश-अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करे तथा आत्मस्वरूपके चिंतनपूर्वक ध्यान लगावे और अपना धन्य भाग समझे॥

सामयिकपाठ के ६ अंग हैं। (१) 'अतिक्रमण'—अर्थात् जिनेन्द्र देवके सन्मुख अपने द्वारा हुए पापों की क्षमा-प्रार्थना करना। (२) 'प्रत्याख्यान' आगामी पाप त्यागकी भावना करना। (३) सामायिक कार्यके काल तक सबमें ममताभाव त्याग, समताभाव धरना। (४) स्तुति-चौबीसों तीर्थकरोंका स्तवन करना। (५) 'बन्दना'-किसी एक तीर्थंकरका स्तवन करना। (६) कायोत्सर्ग- कायसे ममत्व छोड़ आत्मस्वरूपमें लवलीन होना॥

इस प्रकार समभाव पूर्वक चिंतवन करते हुए जब काल पूरा हो जाय, तब आरम्भकी तरह आवर्त्त, शिरोनति तथा नमस्कार पूर्वक सामायिक पूर्ण करे॥

(६) मनःशुद्धि—मनको शुभ तथा शुद्ध विचारोंकी तरफ झुकावे, आर्त रौद्र ध्यानमें दौड़नेसे रोककर धर्मध्यान में लगावे। जहांतक संभव हो पंचपरमेष्ठीका जाप्य वा अन्य कोईभी पाठ, वचन के बदले मनसे स्मरण करावे, ऐसा करने से मन इधर-उधर चलायमान नहीं होता॥

(७) वचन शुद्धि—हुंकारादि शब्द न करे, बहुत धीरे २

---

*संस्कृत प्राकृत पाठ यदि अपनी समझ में न आता हो, तो भाषा पाठही समझ समझकर, मनन करता हुआ पढे, जिससे भावोंमें विशुद्धि उत्पन्न हो॥

वा जल्दी २ पाठ न पढ़े, जिस प्रकार अच्छी तरह समझमें आवे, उसी प्रकार समान वृत्ति एवं मधुरस्वरसे शुद्ध पाठ पढ़े, धर्मपाठ सिवाय कोई और वचन न बोले ॥

(८) कायशुद्धि—सामायिक करनेके पहले स्नान करने, अंग अँगोछने, हाथ-पांव धोने आदिसे जिस प्रकार योग्य हो, यत्नाचार पूर्वक शरीर पवित्र करके, पवित्र वस्त्र पहिन सामायिकमें बैठे और सामायिकके समय शिरकंप, हस्तकंप अथवा शरीरके अन्य अंगोंको न हिलावे-डुलावे, निश्चल अंग रक्खे। कदाचित् कर्मयोगसे सामयिकके समय चेतन-अचेतन कृत उपसर्ग आजाय, तो भी मन-वचन-कायको चलायमान नहीं करता हुआ सहन करे ॥

यहां कोई प्रश्न करे कि सामायिकके समय अचानक लघुशंकाकी तीव्र बाधा आजाय, तो क्या करना चाहिये ? उसका उत्तर यह है कि प्रथम तो व्रती पुरुषोंका खानपान नियमित होनेसे उनको इस प्रकारकी अचानक बाधा होना संभव नहीं, कदाचित् कर्मयोगसे ऐसा ही कारण आजाय, तो उसका रोंकना वा सहन असंभव होनेसे उस कामसे निपट कर, प्रायश्चित ले, पुनः सामायिक स्थापन करे ॥

सामायिकके पंच अतीचार

(१-२-३) मन, वचन, कायको अशुभ प्रवर्तानाX ॥

(४) सामायिक करनेमें अनादर करना ॥

X असावधानीसे मनकी प्रवृत्ति—क्रोध, मान, माया, लोभ, द्रोह, ईर्ष्या इन्द्रिय विषय रूप होना। वचनकी प्रवृत्ति अस्पष्ट-उच्चारण, बहुत ठहर २ कर वा अति शीघ्रता पूर्वक पाठ पढ़ना। कायकी प्रवृत्ति--हस्त-पादादि शरीरके अंगोंका निश्चल न रखना ॥

(५) सामायिकके समयका पाठ भूल जाना ॥

अतीचार लगनेसे सामायिक दूषित होती है, अतएव ऐसी सावधानी रखना चाहिये, जिससे अतीचार (दोष) न लगे ॥

लाभ—सामयिकके समय क्षेत्र तथा कालका परिमाण कर-देनेसे सामायिक करनेवाले गृहस्थके सब प्रकार पापस्राव रुक-कर सातिशय-पुण्यका बंध होता है। उस समय वह उपसर्गोंमें ओढ़े हुए कपड़ों युक्त मुनिके समान होता है। विशेष क्या कहा जाय अभव्य भी द्रव्य-सामायिकके प्रभावसे नवम-ग्रैवेयिक पर्यंत जाकर अहमिन्द्र हो सकता है। सामायिकको भावपूर्वक धारण करनेसे शान्ति-सुखकी प्राप्ति होती है, यह आत्म-तत्त्वकी प्राप्ति अर्थात् परमात्मा होनेके लिए मूल कारण है, इसकी पूर्णता ही जीवको निष्कर्म करके गृहव्यापार आदि सर्व पाप योगोंका त्यागरूप अवस्था प्राप्त कराती है।

३ प्रोषधोपवास—शिक्षाव्रत

अष्टमी चतुर्दशीके दिन सर्वकाल धर्मसाधनकी सुवांछासे सम्पूर्ण पापारंभोंसे रहित हो, चार प्रकार आहारका त्याग करना सो प्रोषधोपवास कहलाता है। इसकी निरुक्ति इस प्रकार है कि प्रोषध कहिये एकबार आहार अर्थात् धारण* और पारणा* के दिन एक बार भोजन कराना तथा उपवास कहिये अष्टमी चतु-र्दशी पर्वको निराहार रहना भोजनका त्याग करना इस प्रकार

---

* धारणा-उपवासकी प्रतिज्ञा धारण करनेका दिन अर्थात् पूर्वदिन पारणा उपवास पूर्ण करके भोजन करनेका दिन अर्थात् अगला दिन ॥

* सामान्य गृहस्थोंको दिनमें दो बार भोजन करनेका अधिकार है। प्रोषधोपवासमें धारणा-पारणाके दिन एक २ बार और उपवासके दिन दो बारका भोजन त्यागनेसे इसे चतुर्थ संज्ञा भी है।

एक पक्षमें अष्टमी-चतुर्दशी दोनों पर्वोमें चार प्रकारके आहारका त्यागपूर्वक, धर्मध्यान करना सो प्रोषधोपवास कहलाता है ॥ श्री राजवार्तिकजीमें प्रोषध नाम पर्वका कहा है, तदनुसार पर्वमें इंद्रियोंके विषयसे विरक्त रहकर चार प्रकार आहार त्याग करना सो ही प्रोषधोपवास है ॥

प्रतिदिन अंगीकार किये हुए सामायिक-संस्कारको स्थिर करके सप्तमी एवं त्रयोदशीके दोपहर [भोजन उपरान्त] से समस्त आरम्भ-परिग्रहसे ममत्व छोड़ देव गुरु-शास्त्रकी साक्षी पूर्वक प्रोषधोपवासकी प्रतिज्ञा ले, निर्जन-वसतिका (कुटी, धर्म-शालादि) को प्राप्त होवे और सम्पूर्ण सावद्ययोग त्याग, इंद्रियों के विषयोंसे विरक्त होता हुआ, मन-वचन-कायकी गुप्ति सहित, नियतकाल तक व्रतविधानकी शुभेच्छासे चार प्रकार आहारका त्याग करे ॥

चार प्रकार आहारके भेद

(१) खाद्य---रोटी, दाल, चांवल, पुडी आदि कच्चो-पक्की रसोई ॥

(२) स्वाद्य---पान, सुपारी, इलायची, आदि मसाला ।

(३) लेह्य---रबड़ी आदि चाटने योग्य वस्तु ॥

(४) पेय---दूध, पानी, शर्बत आदि पीने योग्य पदार्थ ।

अथवा

(१) असन---दाल, भात, रोटी आदि कच्ची रसोई या नित्य भोजनमें आनेवाली पक्की रसोई ॥

(२) पान---पानी, दूध, दही, रबड़ी, शर्बत आदि पेय वस्तु ॥

(३) खाद्य—*मोदक, कलाकंद आदि जो कभी २ खाने में आते हैं ॥

(४) स्वाद्य—इलायची, पान, सुपारी मसालादि ।

बहुधा ग्रंथों में प्रोषधोपवासका काल १६ प्रहर कहा है ॥ धर्मसारजी, ज्ञानानन्दश्रावकाचार तथा दौलत क्रियाकोष में उत्कृष्ट १६ प्रहर, मध्यम १४ प्रहर और जघन्य १२ प्रहर कहा है ॥ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीकामें उत्कृष्ट १६ प्रहर, मध्यम १२ प्रहर और जघन्य ८ प्रहर कहा है परन्तु भोजन त्याग अपेक्षा प्रोषधोपवास १२ प्रहरसे कम संभव नहीं है; क्योंकि प्रोषधव्रती रात्रि-भोजनका सर्वथा त्यागी है ॥ हां, आठ प्रहरका उपवास पाक्षिक श्रावककी अपेक्षा संभव हो सकता है ॥ क्योंकि उसके रात्रिको औषधि, जल तथा स्वाद्य (पान इलायची आदि) भक्षण करने सम्बन्धी अतीचार दोष लगाना संभव है, इससे वह उपवासके दिन ही प्रातःकाल प्रतिज्ञा करे तो दूसरे दिनके सुबह तक आठ प्रहरका उपवास हो सकता है। अथवा व्रती भी यदि उपवासके प्रातःकाल ही प्रतिज्ञा ले, तो प्रतिज्ञा अपेक्षा सुबह से सुबहतक ८ प्रहरका उपवास संभव हो सकता है ॥

वसुनन्दि श्रावकाचार में प्रोषधोपवास तीन प्रकार कहा है। यथा—(१) उत्तम—१६ प्रहर निराहार (२) मध्यम—जल सिवाय तीन प्रकार आहारका त्याग (३) जघन्य—जिसमें आमिल लेना अर्थात् एक अन्न पकाकर खाना और प्राशुक जल पीना अथवा मीठा न डालकर कोई एक अन्न खाना वा एक स्थानमें बैठकर एक ही बार भोजन करना। परन्तु तीनों प्रकारों में धर्म ध्यान सोलह प्रहर तक ही करना ॥

---

* दौलत क्रियाकोषके १७ नियमोंके प्रकरण में पुष्प-फलको खाद्यमें कहा है; क्योंकि उससे भी उदरपोषण हो सकता है ॥

सकलकीर्ति श्रावकाचारमें कहा है कि प्रोषधोपवासके दिन गर्म (प्रासुक) जल लेनेसे उपवासका आठवां भाग रह जाता है, कषायला जल लेनेसे अनुपवास होता है और अन्न मिश्रित जल लेनेसे उपवास भंग हो जाता है ॥

प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें कहा है कि उपवासके कालमें जल की १ बूंद भी ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥

इन उपर्युक्त आधारोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि प्रोषधोपवास प्रतिमामें तो उत्कृष्ट १६ प्रहरका उपवासकर धर्मध्यान कर्तव्य है। और व्रत प्रतिमामें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार अपनी शक्ति देखकर उत्कृष्ट मध्यम या जघन्य जैसा योग्य हो, प्रोषध-व्रत करे ॥

प्रोषधोपवासके दिन स्नान, अंजन, विलेपन, शृंगार नहीं करे। पांव नहीं दबवावे। नवीन भूषण नहीं पहिने। कोमल शय्या तथा पलंगपर शयन नहीं करे। स्त्री-संसर्ग, आरम्भ, पुष्प, गीत, वादित्र, नृत्य × सुगन्ध, दीप, धूपादिके प्रयोग तजे, फल-फूल-कोंपल छेदन आदि स्थावर-हिंसा न करे। आलस्य रहित, धर्मका अति लालची होता हुआ धर्मशास्त्रोंका स्वाध्याय श्रवणादि करे-करावे, ज्ञान-ध्यानमें तत्पर रहे ॥

प्रोषधव्रत करनेकी रीति यह है कि उपवासके धारणाके दिन साधारण भोजन करे, ऐसा न विचारे कि कल उपवास करना है इसलिए गरिष्ठ या अधिक भोजन करूं। पश्चात् प्रोषधोपवासकी प्रतिज्ञाकर पठन-पाठन, सामायिकादि धर्मकार्य करे, रात्रिको निद्रा जीतता हुआ पवित्र संथारेपर अल्प निद्रा ले और पठन-पाठनादि धर्म-ध्यान करता रहे। उपवासके दिन प्रातःकाल

× दीप धूपादि चढ़ानेका वा धर्म सम्बन्धी गीत; नृत्य, वादित्र, तिलक करने आदिका निषेध नहीं ॥

सामायिक करने पीछे प्राशुकजलसे प्रातःकाल सम्बन्धी क्रियाओं से निवृत्त हो, प्राशुक द्रव्योंसे जिनेश्वर देवकी पूजन करे × । दिन तथा रात्रि सामायिक, धर्म-चर्चा, स्वाध्याय, पाठादिमें व्यतीत करे । उपवासके दूसरे दिन भी दोपहरतक पूजन स्वाध्याय आदि धर्मध्यान करे । पश्चात् पात्रदान पूर्वक नियमित शुद्ध भोजन करे, लोलुपतावश धर्म-ध्यानको भुलाने वाला प्रमाद तथा उन्मादको उत्पन्न करने वाला गरिष्ठ अथवा अधिक भोजन न करे ; क्योंकि प्रोषधोपवास करने का मुख्य प्रयोजन तो यही है कि जिसमें परिणाम निर्मल, धर्म-ध्यान रूप, शांत और उत्साह रूप रहें । शिथिल, आलसी, उन्मादरूप न हों तथा क्षुधादि परीषह सहनेका अभ्यास पड़ जानेसे आगे मुनिव्रतमें परीषह आनेपर समभाव बने रहें ॥

प्रोषधोपवासमें समस्त आरम्भोंका त्याग कहा है, इससे पाप क्रिया सम्बन्धी आरम्भोंका ही निषेध जानना, धार्मिक कार्योंका नहीं । तो भी पूजनके लिए शरीरकी पवित्रता (स्नान) तिलक, गान-भजन, नृत्यादि सभी धर्मकार्य बहुत यत्नाचार पूर्वक करना चाहिये, जिससे पुण्यकी प्राप्ति हो और पापका अंश भी न आने पावे ॥

× धर्म संग्रहश्रावकाचार में प्रोषध व्रत में लिखा है कि उपवासके दिन अष्ट- द्रव्योंसे पूजन करे । दौलत क्रियाकोषादि कई ग्रंथोंमें धारणे के पारणे के दिन पूजन करना और उपवासके दिन ध्यान-स्वाध्याय करना ही कहा है । सागारधर्मामृतमें कहा है कि प्रोषध-व्रती भावपूजन करे तथा प्राशुक (निर्जन्तु) द्रव्योंसे द्रव्य-पूजन भी करे । पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें उपवासके दिन प्राशुक द्रव्यसे पूजन करना लिखा है । इन सबसे यही तात्पर्य निकलता है कि प्रोषधोपवासके दिन ध्यान-स्वाध्यायकी मुख्यतापूर्वक, सावधानीसे प्राशुक द्रव्य द्वारा यदि कोई चाहे तो पूजन भी करे, न चाहे तो न करे, ध्यान-स्वाध्याय अवश्य ही करे ॥

जो स्त्री वा पुरुष उपवास धारण करके गृहकार्यके मोहवश गृहस्थी-सम्बन्धी पापारम्भ करते अथवा जो दूसरोंकी देखादेखी या कषायवश उपवास ठान, संक्लेश-परिणामयुक्त रोगीवत् काल गवांते हैं, केवल शरीरको शोषण करते हैं, उनके लेशमात्र भी कर्म हलके नहीं पड़ते। गृहस्थको उपवासके दिन आरम्भ विषय-कषाय एवं आहारका त्याग करके धर्म-सेवन करनेसे ही पुण्यबंधके साथ २ संवर पूर्वक निर्जरा होती है॥ इसलिये बुद्धिमान गृहस्थोंको इसी प्रकार उपवास करना योग्य है।

प्रोषधोपवासके पांच अतीचार॥

(१) बिना देखे-शोधे पूजाके उपकरण, शास्त्र, संस्तरादि ग्रहण करना॥

(२) बिना देखे-शोधे मल मूत्रादि मोचन करना॥

(३) बिना देखे-शोधे संस्तर (बिछौना) बिछाना॥

(४) भूख, प्यासके क्लेशसे उत्साहहीन होकर उपवासमें निरादररूप परिणाम करना॥

(५) उपवास योग्य क्रियाओंका भूल जाना॥

प्रगट रहे कि इन उपर्युक्त अतीचारोंके लगने से प्रोषधोपवास मलिन होता है अतएव इन दोषोंको सदा ध्यानमें रखकर दोषोंसे रक्षा करना चाहिये॥

लाभ—प्रोषधोपवासके दिन भोगोपभोग एवं आरंभका त्याग करनेसे हिंसाका लेश भी नहीं होता। वचन गुप्ति होने (मौनावलम्बी रहने) अथवा आवश्यकतानुसार धर्मरूप अल्प-भाषण करनेसे असत्यका दूषण नहीं आता। अदत्तादानके सर्वथा त्यागसे चोरीका दोष नहीं आता। मैथुनके सर्वथा त्याग से ब्रह्मचर्य व्रत पलता और शरीरादि परिग्रहोंसे निर्ममत्व होनेसे परिग्रह-रहितपना होता है। इसलिए प्रोषधोपवास करनेवाला

गृहस्थ उस दिन सर्व सावद्ययोगके त्याग होनेसे उपचार महाव्रती हैं। पुनः प्रोषधोपवासके धारण करनेसे शरीर नीरोग रहता शरीरकी शक्ति बढ़ती। सातिशय पुण्यबन्ध होकर उत्कृष्ट-सांसारिक सुखोंकी प्राप्ति पूर्वक पारमार्थिक (मोक्ष) सुखकी प्राप्ति होती है॥

४ अतिथि—संविभाग शिक्षाव्रत॥

दाता, पात्र दोनोंके रत्नत्रय धर्मकी वृद्धिके निमित्त सम्यक्त्वादि गुणोंयुक्त गृहरहित साधु-मुनि आदि पात्रोंका प्रत्युपकार रहित अर्थात् बदलेमें उपकारकी वांछा न करते हुए योग्य वैयावृत्ति करना, सो अतिथिसंविभाग या सत्पात्रदान कहलाता है॥

जो सत्पुरुष पूर्णज्ञानकी सिद्धिके निमित्तभूत शरीरकी स्थिति के लिये, बिना बुलाये ईर्यापथ शोधते हुये, बिना तिथि निश्चय किये श्रावकोंके गृह भोजन निमित्त आवें, सो अतिथि कहलाते हैं। यह वृत्ति अट्ठाईस मूलगुणधारी मुनियोंमें तथा उत्कृष्ट प्रतिमाधारी ऐलक-क्षुल्लकोंमें पाई जाती है; क्योंकि इनके स्थिति एवं विहार करनेकी तिथि निश्चित नहीं रहती। ऐसे उत्तम पात्रोंको द्वारापेक्षण आदि यथायोग्य नवधा-भक्ति पूर्वक अपने भोजनमें से विभागकर आहार औषधि, पात्रादि दान देना। यदि उपर्युक्त प्रकार अतिथिका संयोग न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रों एवं अन्य साधर्मियोंका यथायोग्य आदर पूर्वक चार प्रकार दान द्वारा वैयावृत्य करना या दुखितों व भूखोंको करुणाबुद्धि पूर्वक दान देना, यह सब अतिथि-संविभाग है॥

धर्मसाध्यकी सिद्धिके लिये आगममें चार प्रकारके दान निरूपण किये गये हैं। १ औषधिदान २ शास्त्रदान ३ अभयदान ४ आहारदान॥

योग्य पात्रको आहारदान-औषधि-शास्त्र (ज्ञान) तथा अभयदानमेंसे जिस समय जिसकी आवश्यकता हो, उसको उस समय उसी प्रकारका दान देना योग्य है। इससे दातार तथा पात्र दोनोंके रत्नत्रयकी प्राप्ति, वृद्धि और रक्षा होती है इसी कारण ऐसा दान सत्पात्र-दान या सुदान कहलाता है॥ पात्र दातार द्रव्य, तथा देनेकी विधिके भेदसे दानके फलमें विशेषता होती है, इस कारण इन चारोंका विशेषरूपसे वर्णन किया जाता है॥

१ पात्रका वर्णन॥

दानकी प्रवृत्ति करनेके योग्य पात्र (स्थान) ७ प्रकारके हैं॥ यथा:—(१) पूजा (२) प्रतिष्ठा (३) तीर्थयात्रा (४) पात्र-दत्ति (५) समदत्ति (६) दयादत्ति (७) सर्वदत्ति॥

[१] पूजा—अपनी शक्तिके अनुसार जलचन्दनादि अष्ट द्रव्यों या एक, दो आदि द्रव्योंसे देव, शास्त्र गुरु तथा सोलह कारण, दशलक्षण आदि आत्मगुणोंकी पूजा करना। जिनमन्दिरमें पूजनके वर्तन चन्दोवा, छत्र, चरमादि धर्मोपकरण चढ़ाना॥

[२] प्रतिष्ठा—जिस ग्राममें जैनी भाइयोंका समूह अच्छा हो और धर्मसाधनके निमित्त जिनमन्दिर न हो, वहाँ जिनमन्दिर बनवाना। भगवानके बिम्बकी प्रतिष्ठा कराके पधारना। यदि ग्राम छोटा हो, जैनी भाइयोंके १०—५ ही घर हों, तो चैत्यालय बनाना, तथा प्रतिष्ठित-मूर्ति दूसरे स्थानसे लाकर या किसी स्थानकी प्रतिष्ठामें प्रतिष्ठा करा लाकर, विराजमान करना, अथवा प्राचीन-मन्दिर जीर्ण हो गया हो तो उसका जीर्णोद्धार कराना; क्योंकि नूतन मन्दिर बनवानेकी अपेक्षा जीर्णोद्धारमें परिणामोंकी विशेष उज्ज्वलता होनेसे १०० गुणा अधिक पुण्य होता है, ऐसा प्रतिष्ठापाठादि ग्रन्थोंमें कहा है॥

[३] तीर्थयात्रा—गृह जंजालोंकी चिन्ता छोड़ सिद्ध-क्षेत्रों, अतिशयक्षेत्रोंके दर्शन वन्दना करना, शक्ति हो तो सङ्घ निकालना, आप पवित्र क्षेत्रोंमें जाकर निर्मल परिमाणोंसे युक्त धर्म-साधन करना तथा अन्य साधर्मी मंडलीको कराना। इससे सातिशय तीव्र पुण्यबन्ध होता है॥

[४] पात्रदत्ति—सामान्य रीतिसे पात्र तीन प्रकारके होते हैं। सुपात्र, कुपात्र और अपात्र॥ यहाँ पात्रदत्तिसे सुपात्र हीका अभिप्राय जानना चाहिये; क्योंकि पात्रका लक्षण यह कहा है कि जो सम्यक्त्व और चारित्र युक्त हो और दाता-दानके प्रेरकों एवं अनुमोदकोंको नौकाकी तरह संसार सागरसे पार करे ये लक्षण सुपात्रमें ही पाये जाते हैं अतएव सुपात्र ही दान देने योग्य हैं। वे तीन प्रकारके होते हैं। यथा—उत्तम-मुनि-अर्यिका। मध्यम श्रावक-श्राविका। जघन्य, अव्रतसम्यग्दृष्टि (इनके स्वरूपाचरण चारित्र होता है)॥

भावसम्यक्त्व रहित केवल बाह्य-चारित्रके धारक द्रव्यलिंगी मुनि तथा द्रव्यलिंगी श्रावक वा द्रव्यसम्यग्दृष्टि कुपात्र कहलाते हैं जिसके सूक्ष्म (अप्रगट) मिथ्यात्व हो, उसे तो हम छद्मस्थ जान ही नहीं सकते, इसलिये उसमें सुपात्रके समान प्रवृत्ति होती है; परन्तु जिसके स्थूल (प्रगट) द्रव्यमिथ्यात्व हो और बाह्यमें जिनधर्ममें कहे हुये भेषका धारी हो, तो वह कुपात्र है। (यहां व्यवहारमें व्यवहार सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्वकी अपेक्षा जानना)॥

जो सम्यक्त्व, चारित्र दोनोंसे भ्रष्ट हो, ऐसे मिथ्यादृष्टि भेषी, अपात्रको सर्वथा दान देना योग्य नहीं॥

(५) समदत्ति—जो अपने समान साधर्मी गृहस्थ असाता

कर्मके उदयसे दुखी हों, उनकी धन-वस्त्रादिसे यथायोग्य सहायता करना।

(६) दयादत्ति—दुखित व भूखे जीवोंको अन्न-वस्त्रादिसे सहायता करना ॥

सर्वदत्ति या अन्वयदत्ति—अपने पुत्र भाई या गोत्री आदिको धनादि सर्वस्व सौंप परिग्रहसे निर्ममत्व हो, उत्तमश्रावकके व्रत या मुनिव्रत अंगीकार करना ॥

२ दातारका वर्णन।

पूजा प्रतिष्ठा तथा पात्रदत्तिकेअधिकारी द्विजवर्ण*(ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य) हा हैं; क्योंकि सत्पात्रोंको द्विजवर्णके घर पर ही आहार लेनकी आज्ञा है, शूद्रके गृह नहीं (मूलाचार)। शेष समदत्ति आदि चारदान अपनो २ योग्यतानुसार हर कोई कर सकता है। भावार्थ—स्पर्श शूद्र दर्शन करते समय एकाध द्रव्य चढ़ानेरूप द्रव्य पूजाका तथा तीर्थयात्रा, समदत्ति और दयादत्तिका अधिकारी है। वह द्विजवर्णकी नांई अभिषेक पूर्वक पंच प्रकारी (आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन, विसर्जन) पूजन का अधिकारी नहीं हैं। अस्पर्श-शूद्र मन्दिरके बाहिरसे *दर्शन कर सकता है और अपनी समानता वालोंके साथ समदत्ति वा दयादत्ति कर सकता है ॥

---

* जो यज्ञोपवीत धारण करनेके अधिकारी हैं वे द्विजवर्ण कहलाते हैं। द्विजवर्णमें भी कोढी, रोगी आदि जिनका निषेध समवसरण विधान किया गया है या जो जाति-पतित हों, वे इन सत्कर्मोंके करनेके अधिकारी नहीं हैं ॥

* इसी अभिप्रायकी सिद्धिके लिये कई जगह अब भी प्राचीन मन्दिरोंके शिखरोंपर विराजमान वा दरवाजोंकी चौखटोंपर उकेरे हुए जिनबिम्ब

सम्यग्दृष्टि चारित्रवान दातार ही दान देनेका पात्र है। क्योंकि बिना धर्मात्मा हुए सत्पात्र दान नहीं हो सकता। अन्यके न तो सच्ची त्यागबुद्धि ही हो सकती है और न पात्र-दान-द्रव्यादि का बोध हो सकता है। दातारके ५ भूषण हैं—(१) आनन्दपूर्वक दान देना (२) आदरपूर्वक दान देना (३) प्रियवचनपूर्वक दान देना (४) निर्मल भावपूर्वक दान देना (५) दान देकर अपना धन्य भाग मानना। दातार के पांच दूषण हैं—(१) विलम्बसे दान देना (२) उदास होकर दान देना (३) दुर्वचन कहकर दान देना (४) निरादरपूर्वक दान देना (५) दान दिये पीछे पछताना॥ दातार के सप्त गुण हैं— (१) दानके योग्य यही पात्र हैं, ऐसा दृढ़ परिणाम सो श्रद्धागुण है (२) प्रमादरहितपना सो शक्ति-गुण है (३) पात्रके गुणोंमें आदर सो भक्तिगुण है (४) दानकी पद्धति का जानना सो विवेक या विज्ञानगुण है (५) दान देनेकी सामर्थ्य सो अलुब्धगुण है (६) सहनशीलता सो क्षमागुण है (७) भले प्रकार दान देनेका स्वभाव सो त्यागगुण है। पुरुषार्थ-सिद्ध्युपायमें इस प्रकार भी दातारके सात गुण कहे हैं— (१) फलकी अपेक्षारहितपना (२) क्षमावानपना (३) निष्कपटीपना (४) ईर्ष्यारहितपना (५) खेदभावरहितपना (६) हर्षभावपना निरभिमानीपना। ये दोनों प्रकारके गुण बहुधा एक-से ही हैं और ज्ञानी तथा श्रद्धावान दातारोंमें अवश्य ही पाये जाते हैं॥

३ दान देने योग्य द्रव्यका वर्णन।

पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा करनेमें सामान्य रीतिसे उसके योग्य द्रव्य व्यय होता है। समदत्तिमें अपने समान गृहस्थको वा जघन्य पात्रको धन, वस्त्र, ज्ञानके उपकरण एवं औषधि आदि

दिखाई देते हैं तथा कई जगह नूतन मन्दिरोंमें हालमें भी इसी तरह दर्शन करनेका सुभीता है॥

की सहायता करके धर्ममें लगाते वा स्थिर करते हैं। दयादत्तिमें दुखितों—भूखोंको अन्न, वस्त्र, औषधि आदि देते हैं। मध्यम पात्रको उसके योग्य धन, वस्त्र आदि देते हैं। आर्यिकाको सफेद साड़ी, पीछी, कमंडल, तथा मुनिको केवल पीछी-कमंडल, ही देते हैं, सभी पात्रोंको शरीरकी स्थिरता निमित्त शुद्ध आहार रोगके निवारणार्थ औषधि वा ज्ञानकी वृद्धिके लिये पुस्तक (शास्त्र) देते हैं। दानमें दी जाने वाली सभी वस्तुएँ यद्यपि सामान्य रीति से धर्मवृद्धि करने वाली हैं, तो भी दातारको इस बातका पूरा २ ध्यान रखना चाहिये कि पात्रको दान देनेका पदार्थ अथवा पूजा-प्रतिष्ठादिमें काम आनेकी वस्तु शुद्ध निर्जीव व निरवद्य (निर्दोष) हो। मुनि-आर्यिका, श्रावक श्राविकाको दीजानेवाली वस्तु स्वाध्याय-ध्यान, तपकी वृद्धि करनेवाली हो, आलस्य, उन्माद, विकार व अभिमान की उत्पन्न करनेवाली न हो। विवेकपूर्वक दान देने से ही दातार-पात्र दोनोंके धर्मवृद्धि और परंपरासे सच्चे-सुखकी प्राप्ति होती है॥

अन्यमतोंमें गऊ, स्त्री, हाथी, घोड़ा, रथ, मकान, सोना, तिल दासी और भूमि ये दश प्रकारके दान कहे हैं। सो ये राग-द्वेषादि भावोंके बढ़ानेवाले, पंच पापोंमें प्रवृत्ति करानेवाले आलस्य, प्रमाद, उन्मत्तता, रोगादिके मूल हैं। आत्महितके बाधक, संसारके बढ़ानेवाले और मोक्षमार्गसे विमुख करनेवाले हैं। इनसे दाता व पात्र दोनोंके धर्मकी हानि होती है। इसलिये ये कुदान कभी भूलकर भी न करना चाहिये। इनका लेना-देना धर्मका अंग नहीं है, इनके देने लेनेमें धर्म मानना मिथ्या है, ऐसा प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार तथा पद्मनन्दिपच्चीसी आदि ग्रंथोंमें स्पष्टरूपसे कहा है। सागरधर्मामृतमें भी कहा है कि नैष्टिक श्रावकको भूमि आदि दश प्रकारके दान भूलकर भी नहीं देना चाहिये; क्योंकि इससे सम्यक्त्वका घात तथा हिंसा होती है। अतएव

अब सम्यक्त्वका भी घात होता है तो ये दश प्रकारके दान सम्यक्त्वीको भी नहीं देना चाहिये ॥

४ दान देनेकी विधि ॥

पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रामें जो द्रव्यव्यय व उत्तम क्रियाएं की जांय वे उत्कृष्ट परिणामोंपूर्वक, परमार्थ बुद्धिसे, शास्त्रोक्त-पद्धति सहित, विनययुक्त धर्मप्रभावनाके अभिप्रायसे की जांय ॥

पात्रदत्ति—उत्तमपात्र (मुनि) को प्राशुक-शुद्ध आहार नवधाभक्तियुक्त (विधिपूर्वक) देकर अपना धन्यभाग मानना चाहिये । दातारको नित्य भोजन समय रसोई तैयार करके, सब आरंभ तजि, सर्व भोजन-सामग्री शुद्ध स्थानमें रख, प्राशुक जलसे भरा हुआ, ढका हुआ लोटा लेकर अपने द्वारपर पात्र हेरनेके लिये णमोकार मंत्र जपते हुए खड़ा होना योग्य है । दानके बिना गृहस्थके चूल्हा-चौका श्मशान समान है; क्योंकि यत्नाचार करते हुए भी उसमें नित्य छह कायके हजारों जीव जलते हैं । अतएव आहार दान देनेसे ही गृहस्थका चौका सफल है । उपर्युक्त प्रकार पात्र हेरनेकी द्वारापेक्षण संज्ञा है । जब मुनि अपने द्वारके सन्मुख आवें तो, "हे स्वामिन्? अत्र तिष्ठ२ अन्न जल शुद्ध है" ऐसा कहकर आदर पूर्वक अपने गृहमें अतिथिको प्रवेश करावे, इसको प्रतिग्रहण या पडगाहना कहते हैं ॥ पश्चात् पात्रको उच्च[२] अर्थात् पाटला (चौकी) पर स्थित करे, प्राशुक जलसे [३]चरण धोवे (अंग पोंछे), अष्ट द्रव्यसे [४]पूजन करे, अष्टांग* [५]नमस्कार करे, [६]मनःशुद्धि, [७]वचनशुद्धि, [८]कायशुद्धि, और [९]भोजनशुद्धि × करे ।

---

*दोहा—शिर, नितम्ब, उर, पीठ, कर जुगल जुगल पद टेक ॥
अष्ट अंग तन विषै, और उपंग अनेक ॥१॥

× भोजन शुद्धिमें द्रव्य-क्षेत्र काल भावकी शुद्धि पर ध्यान रखना

इस प्रकार नवधाभक्ति एवं शुद्धिपूर्वक सर्व प्रकारके भोज्य पदार्थ अलग २ कटोरीमें रखकर थालीमें लेकर मुनिराजके सन्मुख खड़ा होवे और ग्रास बना बना कर उनकी हस्तांजलिमें देवे (वृद्ध विद्वानों का वाक्य है कि अन्नके एक ग्रास बाद हस्तांजलिमें प्राशुक जलका एक ग्रास देवे) मुनि उत्कृष्ट ३२ ग्रास लेते हैं। जब भोजन कर चुकें, और ग्रास हस्त में न लें, तब जलके ग्रास देवे तथा उनका मुंह-हाथ अच्छी तरहसे धोवे, पोंछे। कमंमडलको धोकर-साफकर प्राशुक जल* भर देवे। यह बात ध्यानमें रहे कि मुनिराज तथा उत्कृष्टश्रावकके पधारनेसे भोजन करलेनेके समयतक घर में दलना, पीसना, रसोई आदि कोई भी आरम्भ सम्बन्धी काम तथा अन्तराय होने सरीखे काम न करे॥ यदि कमंडल, पीछी या शास्त्रकी आवश्यकता देखे, तो बहुत आदर एवं विनय पूर्वक देवे। यह मुनिके आहारदानकी विधि है॥ आर्यिका भी उत्तम पात्र है। वे बैठकर मुनिकी नांई करपात्रमें आहार करती हैं। सो उनको भी उनके योग्य आदर-भक्तिपूर्वक आहार दान

चाहिये अर्थात् भोजनके पदार्थ शुद्ध मर्यादीक तथा रसोई बनानेकी सामग्री, बर्तन, लकड़ी वगैरह शुद्ध निर्जन्तु होना चाहिये। रसोई बनाने वाला रसोई के बनाने की विधि का ज्ञाता, धर्म बुद्धि हो। रसोई करनेका तथा आहार देनेका स्थान, चँदोवा सहित, मिट्टीसे लिपा हुआ, स्वच्छ, निर्जन्तु होने चाहिये। रसोई ठीक समय पर तय्यार होकर सामयिकके पेश्तर २ (दश और ग्यारह बजेके बीचमें) देना चाहिये। पवित्र और उत्साहित चित्त होकर अपनी योग्यतानुसार, अपनी गृहस्थी के लिये तय्यार हुए भोजनमें से पात्र दान करे, पात्रके निमित्त न बनावे। आहारमें कोई भी पदार्थ सचित्त न हो॥

* जल एक उकाली आवे ऐसा गर्म होने पर उतार कर ठंडा करले वही जल भोजनके समय देने तथा कमंडलमें भरने के काम लावे।

करे। पीछी, कमंडल सफेद साड़ीकी आवश्यकता देखे तो देवे. यदि पात्रको कोई रोग हो, तो भोजनके साथ या अलग, जैसा योग्य हो औषधि देवे ॥

मध्यम पात्र ऐलक बैठकर करपात्रमें और क्षुल्लक पात्रमें लेकर भोजन करते हैं। (इसकी विधि ग्यारव तमामें स्पष्ट कही है) इनको इनके योग्य तथा ब्रह्मचारी या व्रती श्रावकको उनके योग्य प्रतिग्रहण करके आदर. यथायोग्य विनय एवं भक्ति पूर्वक आहार दान करे। वस्त्र, पिछौरी, लँगोटी, कमंडल, पीछी शास्त्र आदि जो उनको चाहिये सो उनके योग्य देवे, कमंडल तथा धातुपात्रमें प्राशुक जल भर देवे। इनको अष्टांग नमस्कार या पूजन करनेकी शास्त्राज्ञा नहीं है। पूजनकी विधि तो केवल निर्ग्रन्थ-मुनियोंके लिये ही कही गई ॥

(नोट) दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमावालोंको तथा मुनिराजको उनके निमित्त बना हुआ "उद्देशिक आहार" नहीं देना चाहिये, अपने घरमें जो नियमित आहार बने, उसीमें से देना चाहिये ॥

समदत्ति—सामान्य आदर-सत्कार एवं हर्षपूर्वक अपने बराबरीके साधर्मियोंकी सहायता धन-वस्त्र, स्थानादिसे करना चाहिये, अपना बड़प्पन बताना, अभिमान करना और उनका निरादर करना योग्य नहीं; क्योंकि धर्मपद्धतिकी मुख्यतापूर्वक उनकी सहायताकी जाती है ॥

दयादत्ति—दुखित व भूखे जीवोंको दयापूर्वक औषधि, अन्न, वस्त्र देना योग्य है। नकद पैसा न देना चाहिये। नकद देने से वे लोभके वश पैसा एकत्र करते जाते और उनका सदुपयोग नहीं करते, जिससे वह द्रव्य व्यर्थ जाता है, अथवा वे दुरुपयोग करते हैं जिससे उल्टा पाप लगता है। हट्टे-कट्टे, मिथ्यात्वी, दुर्गुणी, मस्त लोगोंको दान देना दयादत्ति नहीं; किन्तु पाप-

वृत्ति है। इनको दान देनेके बदले धनको अन्धकूपमें डाल देना अच्छा है। दातारको चाहिये कि बहुत विवेक पूर्वक अपने परिश्रम एवं न्यायसे कमाये हुए द्रव्यका सदुपयोग करे॥

आहारके ४६ दोष॥

यहां आहारदानका प्रकरण आया है, इसलिए दाता व पात्र दोनोंके जानने तथा दोषोंसे बचनेके लिये आहार सम्बन्धी ४६ दोषोंका वर्णन श्री मूलाचारके अनुसार किया जाता है :—

सोलह उद्गम दोष—जो दातार और पात्र दोनोंके अभिप्रायसे आहारमें उत्पन्न होते हैं। यथा—(१) षट्कायके जीवोंके वधद्वारा आहार बनाना सो अधःकर्म नामक महान् दोष है (२) साधुका नाम लेकर भोजन तय्यार करना सो उद्देशिक दोष है (३) संयमीको देख भोजन बनानेका आरम्भ करना सो अध्यदि दोष है (४) प्राशुक भोजनमें अप्राशुक भोजन मिलाना सो पूतिदोष है (५) संयमीके भोजनमें असंयमीके योग्य भोजनका मिलाना सो मिश्र दोष है (६) रसोईके स्थानसे अन्यत्र अपने वा परके स्थान में रक्खा हुआ भोजन लाकर देना सो स्थापित दोष है (७) यक्ष नागादिके पूजन निमित्त बना हुआ भोजन देना सो बलि दोप है (८) पात्रको पड़गाहे पीछे कालकी हानि-वृद्धि करना अथवा नवधाभक्तिमें शीघ्रता वा विलम्ब करना सो प्रावर्तित दोष है (९) अन्धेरा जान मण्डप आदिको प्रकाशरूप करना सो प्राविशकरण दोष है (१०) अपने पास वस्तु नहीं, परकी उधार लाकर देना, सो प्रामिशिक दोष है (११) अपनी वस्तुके बदले दूसरे गृहस्थसे वस्तु लाकर देना सो परिवर्तक दोष है (१२) तत्काल देशांतरसे आई हुई वस्तु-देना सो अभिघट दोष है (१३) बन्धी वा छांदा लगी हुई वस्तु को खोलकर देना, सो उद्भिन्न दोष है (१४) रसोईके स्थानसे

ऊपरकी मंजिलमें रक्खी हुई वस्तु निसैनी पर चढ़, निकालकर देना सो मालारोहण दोष है (१५) उद्वेग-त्रास-भयका कारण भोजन देना सो उच्छेद्य दोष है (१६) दातार असमर्थ हो, सो अनिसा ॥

सोलह उत्पादन दोष—जो पात्रके आधारसे उत्पन्न होते हैं। यथा—(१) गृहस्थको मंजन-मण्डन-क्रीडनादि धात्रीदोष का उपदेश देकर आहार ग्रहण करना धात्री दोष है (२) दातारको परदेशके समाचार कह, आहार ग्रहण करना सो दूत दोष है (३) अष्टांगनिमित्त-ज्ञान बताय, आहार ग्रहण करना सो निमित्त दोष है (४) अपना जाति-कुल-तपश्चरण बताय आहार ग्रहण करना सो आजीविक दोष है। (५) दातारके अनुकूल वार्तेकर, आहार लेना सो बनीपक दोष है (६) दातार को औषधि बताय आहार लेना सो चिकित्सा दोष है (७, ८, ९, १०) क्रोध, मान, माया, लोभ पूर्वक आहार लेना सो क्रोध, मान, माया, लोभ दोष है (११) भोजनके पूर्व दातारकी प्रशंसा करना सो पूर्वस्तुति दोष है (१२) आहार किये पीछे स्तुति करना सो पश्चात् स्तुति दोष है (१३) आकाशगामिनी आदि विद्या बताकर भोजन करना सो विद्या दोष है। (१४) सर्प, बिच्छू आदिका मन्त्र बताकर आहार लेना सो मन्त्र दोष है। (१५) शरीरकी शोभा (पुष्टता) निमित्त चूर्णादि बताय आहार ग्रहण करना सो चूर्णदोष है (१६) अवशको वश करनेका उपाय बताकर आहार लेना सो मूलकर्म दोष है ॥

चतुर्दश आहार-सम्बन्धी दोष—(१) यह भोजन योग्य है या अयोग्य ? खाद्य है या अखाद्य ? ऐसी शङ्कायुक्त आहार ग्रहण करना सो शङ्कित दोष युक्त है (२) सचिकण हाथ या वर्तन पर रक्खा हुआ भोजन ग्रहण करना सो मृक्षित दोषयुक्त

है (३)सचित्र पत्रादिपर रक्खा हुआ भोजन करना सो निक्षिप्त दोषयुक्त है (४) सचित पत्रादिसे ढका हुआ भोजन करना सो पिहित दोषयुक्त है (५) दान देनेकी शीघ्रताकर अपने वस्त्रको नहीं सम्भालना या भोजनको देखे बिना देना सो संव्यवहरण दोष-युक्त है (६) सूतकादियुक्त अशुद्ध आहार लेना सो दायक दोष युक्त है (७) सचित्तसे मिला आहार लेना सो उन्मिश्रदोष युक्त है (८) अग्नि करि परिपूर्ण नहीं पका वा जला हुआ भोजन अथवा तिल-तन्दुल हरडसे स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण बिना बदला जल लेना सो अपरिणत दोषयुक्त है (९) गेरू, हरताल, खड़ी आदि अप्राशुक द्रव्यसे लिप्त वर्तन द्वारा दिया हुआ आहार लेना सो लिप्त दोष युक्त है (१०) दातार द्वारा पात्रके हस्तमें स्थापित किया हुआ आहार पाणिपात्रमें से गिरता हो अथवा पाणिपात्र-में आये हुए आहारको छोड़ और आहार लेकर ग्रहण करना सो परित्यजन दोषयुक्त है (११) शीतल-भोजनमें उष्ण या उष्ण-भोजनमें शीतल भोजन अथवा जल मिलाना सो संयोजन दोषयुक्त है (१२) गृद्धितासे प्रमाणसे अधिक भोजन करना सो अपमान दोषयुक्त है (१३) गृद्धितायुक्त आहार करना सो अंगार दोष युक्त है (१४) भोजन प्रकृति विरुद्ध है ऐसे ग्लानियुक्त भोजन करना सो धूम दोषयुक्त है ।

दानका फल ॥

निर्दोष एवं विधि पूर्वक पात्र दान करनेसे गृहस्थोंके आरंभ सम्बन्धी षटकर्म-जनित पाप क्षय हो जाते और सातिशय पुण्य-का संचय होता है । तपस्वी मुनियोंको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्र का बन्ध होता, दान देनेसे दानान्तरायका क्षयोपशम होता और भक्ति करनेसे सुन्दर रूप और स्तुति करनेसे कीर्ति होती है । पात्रको दिया हुआ दान उत्तम फल युक्त वृक्षके समान सुखदाई

और मनवांछित फलको उत्पन्न करने वाला होता है। दानके फलसे मिथ्यादृष्टि भोगभूमिके सुख, सम्यग्दृष्टि स्वर्गके सुख भोगता हुआ परम्परासे मोक्ष पाता है। दानके फलकी महिमा यहां तक है कि तीर्थंकर भगवानका प्रथम पारणा कराने वाला तद्भव मोक्षगामी होता है ॥

कुपात्र-दानके फलसे कुभोग भूमिके सुख तथा समदत्ति और दयादत्तिसे पुण्यका बन्ध होकर स्वर्गके सुख मिलते है। इसके विपरीत अपात्रोंको दान देना पापबन्ध करने वाला उलटा दुख-दाई है; क्योंकि इससे मिथ्यात्व तथा पापकी वृद्धि होती है जिस से दाता और पात्र दोनोंको नीच गतिकी प्राप्ति होती है ॥

यहां पर यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि इस कलिकालमें योग्य-पात्रकी प्राप्ति तो दुर्लभ हो गई, फिर हम किसकी वैया-वृत्ति करें ? किसको दान देवें ? उसका समाधान यह है कि यदि उत्तम पात्र न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रोंकी यथायोग्य सेवा-सहायता करो, उनके श्रद्धान, ज्ञान चारित्रकी वृद्धिका पूरा पूरा यत्न करो, जिससे वे उत्तम पात्र बननेके उत्साही हों। इस के सिवाय पञ्च-परमेष्ठी गर्भित जिनबिम्बकी पूजन करो जो उत्तम दान एवं उत्कृष्ट वैयावृत्यके फलको देने वाले हैं ॥

जिनेन्द्रपूजन करनेका अभिप्राय केवल वैयावृत्य और दान द्वारा पुण्य बध करके स्वर्गसुखोंकी प्राप्ति करना मात्रही नहीं है किन्तु चित्तवृत्तिको संसारसे फेरकर, वीतराग रूप करके धर्म-ध्यान, शुक्लध्यानमें लगाकर परमात्मपनेकी प्राप्ति करना है। जिस प्रकार किसी संसारिक कार्यको समुचित रीतिसे करनेसे वह सफल होता है, उसी प्रकार अनुभवपूर्वक एकाग्र चित्त कर के पञ्च-परमेष्ठीके दर्शन, पूजन, वन्दना करनेसे मोक्ष सरीखे अलौकिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसा जानकर प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है कि यथा शक्ति नित्य धार्मिक षट्कर्मोंमें

प्रवृत्ति करे। सो ही शास्त्रोंमें कहा है:—श्लोक-देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्यायःसंयमस्तपः ॥ दानं चेति गृहस्थानां षटकर्माणि दिने दिने ॥ १ ॥ अर्थ—गृहस्थोंको, देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये षट्कर्म नित्य करना चाहिये ॥

जैनियोंका मूर्तिपूजन।

वर्तमानमें कितने ही मत ऐसे भी हैं जो मूर्तिपूजनका निषेध करते हैं। वे मूर्तिपूजनका अभिप्राय समझे बिना मूर्तिपूजनको बुतपरस्त अर्थात् पाषाणपूजक ठहराते हैं। उनको यह बात ज्ञात नहीं है कि मूर्ति अर्थात् स्थापना-सत्य माने बिना सांसारिक एवं पारमार्थिक कोई भी कार्य नहीं चल सकते। प्रत्यक्ष ही देखो कि अक्षर जो लिखे जाते हैं, वे जिस पदार्थके द्योतक याने मूर्ति स्वरूप हों, उसी पदार्थका ज्ञान उन अक्षरोंके देखनेसे होता और तदानुसार ही हर्ष-विषाद होता है। जैसे निन्दा या गालीके द्योतक अक्षरोंको पढ़कर अप्रसन्नता और प्रशंसारूप अक्षरोंको पढ़कर चित्तमें प्रसन्नता होती है अथवा फोटोकी तसवीर या पत्थरकी स्त्री-पुरुषकी सुन्दर मूर्ति देखकर मन प्रसन्न होता और कुरूप-डरावनी मूर्तिको देखनेसे भय और घृणा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार नक्शेके बिना केवल भूगोलकी पुस्तक पढ़नेसे यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार मूर्तिके बिना सांसारिक एवं पारमार्थिक कार्योंका समुचित रीतिसे बोध तथा उनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसके लिये इतना ही कहना बस होगा कि मूर्तिनिषेधक लोग भी फोटो (तस्वीर) तथा स्मारक मूर्तियोंके द्वारा असली पदार्थका बोध करते हैं और तदनुसार ही वर्ताव करते हैं। अब विचारनेकी बात केवल इतनी ही है कि मोक्षमार्गके प्रकरणमें मूर्ति किसकी और किस आकारकी होनी चाहिये और उसकी पूजन करनेका अभिप्राय क्या होना चाहिये। इत्यादि

बातोंको भली-भांति जाने बिना मूर्तिपूजनसे जो लाभ होना चाहिये, सो कदापि नहीं हो सकता, इसलिये इस विषयको भली-भांति जानना जरूरी है। इसके लिये इतना ही कहना बस होगा कि यदि सूक्ष्म दृष्टिसे जैनियोंके मूर्ति स्थापन एवं मूर्तिपूजन सम्बन्धी अभिप्राय ध्यानमें लाये जाएं, तो कदाचित भी कोई उन्हें बुतपरस्त नहीं कह सकता, किन्तु उन्हें पूर्ण तत्वज्ञानी, सत्य-खोजी और सच्चा मुमुक्षु कह सकता है। अतएव यहां जैनमत सम्बन्धी मूर्तिपूजनका अभिप्राय संक्षिप्तरूपसे कहा जाता है॥

प्रगट रहे कि मूर्तिपूजाके विषयमें जैनियोंके उद्देश्य और सिद्धांत ये हैं कि जिन महात्माओंने संसार अर्थात् जन्म-मरण-की परिपाटीको-बढ़ाने वाले, रागद्वेषको उत्पन्न करने वाले विषय-कषायोंको त्याग दिया और परम वीतरागता (शांति) अंगीकार-की, जिन्होंने अशुभ-शुभ दोनों प्रकारके कर्मोंको ससार-बन्धनके लिए बेड़ी सदृश जान त्याग दिया, जिन्होंने एकाग्र-ध्यान (समाधि) के बलसे सर्वज्ञ पदको प्राप्त किया और शुद्धात्मरूप परमात्मा हुए। ऐसे सर्वज्ञ, परमात्मा कर्मशत्रु-विजेता वीरोंकी ध्यान-मुद्राका सदा स्मरण होता रहे, उनके सद्गुणोंके प्राप्त करनेकी सदा इच्छा उत्पन्न होती रहे। जैनी लोग इसी अभिप्राय-से उनकी तादृश (उन्हींके समान) विरागतापूर्ण मूर्ति स्थापना करते हैं। उनका सिद्धान्त कि ऐसी मूर्तिके दर्शन द्वारा पर-मात्माके गुण चिन्तवन करना और उनके सम न सद्गुणी बननेकी इच्छा करना ही आत्मोन्नतिका मूल साधन है॥

कुछ लोग मूर्तिपूजनका इस प्रकार असली अभिप्राय "आत्मीक उन्नति" के जाने बिना जैनियोंको मूर्तिपूजक कहकर उनकी निन्दा करते हैं। परन्तु अपनी तरफ नहीं देखते कि आप स्वतः सांसारिक बुतपरस्त बन रहे हैं जो सांसारिक कार्यों (युद्धादि वा द्रव्यदान) द्वारा किंचित प्रसिद्ध पुरुषोंकी मूर्ति,

फोटो आदिकी स्थापना कर उनकी स्तुति-प्रशंसा करते तथा उनकी मूर्ति पर फूल, माला आदि चढ़ाते हैं ॥

यह बात भी ध्यानमें लाने योग्य है कि जैनी लोग मूर्तिके दर्शन, पूजन करते हुए पाषाण, पीतल आदिकी स्तुति नहीं करते, कि "हे पाषाण या पीतलकी मूर्ति ! तू अमुक खानिसे निकाली जाकर अमुक कारीगरके द्वारा इतने मूल्यमें अमुक जगह तय्यार कराई जाकर हम लोगोंके द्वारा स्थापित होकर पूज्य मानीगई है" किन्तु वे लोग संसारविरक्त मोक्षगामीपरमात्माकी तदाकृति मूर्तिके आश्रय उसके सद्गुणोंकी स्तुति तथा पूजन करते और उसीके समान मोक्ष प्राप्त करनेकी भावना करते हैं। वे उन मोक्षमार्गी सच्चे वीरोंकी मूर्तिके दर्शन करके यह शिक्षा लेते हैं कि यह मुद्रा ध्यान करनेकी है, जब हम संसार, शरीर, भोगोंसे सर्वथा विरक्त होकर इस नग्न दिगम्बर मूर्ति सरीखे ध्यानारूढ़ होंगे, तभी अपने आत्मस्वरूपमें लीन होकर शान्तिरसका आस्वादन कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। पुनः उनके मनमें वीतराग मूर्तिके देखनेसे इस प्रकार शुद्धात्मस्वरूपके ध्यानकी भावना उत्पन्न होती है कि मेरे आत्मामें जब तक रागद्वेष रूप मल लगा हुआ है तब तक ही संसारमें भ्रमण करता नाना प्रकार दुखी होता हुआ जन्म-मरण कर रहा हूं, जिस समय रागद्वेष विकार मुझसे दूर हो जायगा, उस समय मैं अपने स्वरूपमें ऐसा निश्चल लीन हो जाऊंगा, जैसी कि ये पाषाणकी वीतराग मूर्ति ध्यानस्थ है।

प्रगट रहे कि जैनमतमें मूर्ति चाहे पद्मासन हो, चाहे खड्गासन किन्तु, स्त्री-वस्त्र-शस्त्र-आभूषण आदि परिग्रह रहित, नासाग्र-दृष्टि, पूर्ण वैराग्यसूचक, नग्न दिगम्बर, ध्यानारूढ़ होती है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मोक्ष प्राप्तिके लिये ऐसी

शान्त अवस्था धारण करना बहुधा सभी मतावलम्बी स्वीकार करते हैं ॥

यहां कोई कहे कि वीतराग सर्वज्ञकी मूर्तिके नित्य अभिषेक (प्रक्षाल) पूर्वक पूजन करने की क्या आवश्यकता है ? उसका समाधान—इस विषयमें जैनमतका विज्ञान बहुत विज्ञतासे भरा हुआ है। मूर्तिके प्रक्षाल करने का अंतरंग अभिप्राय तो यह है कि ऐसी पवित्र ध्यानस्थ-मुद्राके अति निकटवर्ती होनेसे उसकी वीतरागता पूर्णरूपसे दरशती है। उसके स्पर्श करनेसे चित्त आल्हादित होता है मानो साक्षात् अर्हतदेवका ही स्पर्शन किया और चरणोदक लगानेसे मस्तक तथा सम्पूर्ण शरीर पवित्र होकर मनमें साक्षात तीर्थंकर भगवान्के अभिषेक करने सरीखी भावना उत्पन्न होती है। पुनः प्रक्षाल करनेका बाह्य कारण ये भी है कि मूर्ति पर कूड़ा, कचरा, जाला, मैल, दाग न लगने पावे क्योंकि आच्छादन होनेसे मूर्तिकी वीतरागता बिगड़ती और स्पष्ट-दर्शनमें बाधा आती है।

गृहस्थोंको गृह सम्बन्धी जंजालोंके कारण अनेक संकल्प, विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, जिससे एकाएक आत्मध्यानमें उनका चित्त एकाग्र नहीं हो सकता, इसलिये उन्हें सांसारिक अशुभ आलंबनोंके त्यागने और पारमार्थिक शुभ आलंबनोंमें लगने की बड़ी भारी आवश्यकता है। अतएव गृहस्थको जिनपूजासे बढ़कर दूसरा कोई प्रबल धार्मिक अवलम्बन नहीं है, इसी कारण शास्त्रोंमे गृहस्थको धार्मिक षट्कर्मोंके आरम्भमें ही देवपूजन करनेका उपदेश है। पूजन करनेसे पूजनके द्रव्य एकत्र करने, धोने, चढ़ाने, पाठ-मन्त्रादि बोलने, पूज्य परमेष्ठीके गुणोंके चिंतवन करनेमें जितने समय तक चित्त लगा रहता है, उतने काल तक परिणाम पुण्यरूप रहते, सांसारिक विषय-कषायकी ओर चित नहीं जाने पाता, जिससे महान पुण्य बंध और

पापकी हानि होती है तथा उतने काल तक संयम (इन्द्रियोंका जीतना) और तप (इच्छाका निरोध) होता है। जिससे आत्मीक शक्तियां सबल और निर्मल होती हैं॥

जैनमतमें अष्टद्रव्य (जल, सुगन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल) से पूजन करनेकी आज्ञा है। इनको परमात्मा या गुरुके सन्मुख चढ़ानेका अभिप्राय, पूजकोंके सांसारिक तापोंक दूर करनेकी इच्छा है। इसी हेतुसे ये अष्टद्रव्य पृथक-पृथक मन्त्रों द्वारा परमात्माके सन्मुख क्षेपण किये जातेहैं और भावनाकी जाती है कि "इन जल, सुगन्ध, अक्षतादि द्रव्योंको हमने अनादिकालसे सेवन किया, परन्तु हमारे तृषा, क्षुधादि सांसारिक-ताप दूर नहीं हुए। अतएव हे प्रभू! ये द्रव्य आपके सन्मुख क्षेपण कर चाहते है कि आप की तरह हम भी क्षुधा, तृषा, मोह, अज्ञानादि दोषोंसे रहित होकर आप सरीखी निर्दोष और उत्कृष्ट दशाको प्राप्त होवें।"

इस विषयमें श्री रत्नकरंडश्रावकाचारमें श्रीमान् पं० सदासुखजीने भी इस प्रकार कहा है॥ यहां कोई आशंका करे कि भगवान अरिहन्ततो आयु पूर्ण करि लोकके अग्रभाग मोक्ष स्थानमें जा विराजेहैं, धातु-पाषाणके स्थापन रूप प्रतिबिम्वमें आते नहीं, अपना पूजन-स्तवन चाहते नहीं, अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त सुखमें लीन तिष्ठे हैं, किसीका उपकार, अपकार करते नहीं, पूजन-स्तवनादि करनेवालेसे राग और निन्दा करनेवालेसे द्वेष करते नहीं॥ अपना पूजन-स्तवन तो मान कषायसे संतापित, अपनी बड़ाईका इच्छुक, स्तवन करनेसे सन्तुष्ट होनेवाला, ऐसा संसारी (रागी-द्वेषी) होय सो चाहे। तो फिर किस प्रयोजनसे उनको पूजनकी जातीहै? उसका समाधान--जो भगवान वीतरागतो पूजन-स्तवन चाहते नहीं, परन्तु गृहस्थका परिणाम शुद्ध-आत्मस्वरूपकी भावनामें तो लगता नहीं, साम्यभावरूप

रहता नहीं, निरालंब ठहरता नहीं, इसलिए परमात्म-भावनाका अवलम्बन कर वीतराग स्वरूपके धातु, पाषाणमय प्रतिबिम्बमें संकल्प कर परमात्माका ध्यान-स्तवनपूजन किया जाता है। उस समय कषायादि संकल्पके अभावसे, दुर्ध्यानके छूटनेसे, परिणामोंकी विशुद्धताके प्रभावसे देव, मनुष्य, तिर्यंच तीन शुभ आयु बिना शेष कर्मोंकी स्थिति घट जातीहै तथा पुण्यरूप कर्म प्रकृतियोंमें रस बढ़ जाता, और पाप प्रकृतियोंका रस सूख जाता है। भावार्थ—पापकर्मका नाश होकर सातिशय पुण्यकर्मका उपार्जन होता है ॥

फिर यहभी विचारनेको बातहै कि यथार्थमें पुण्य-पापके बंधके कारण तो अपने शुभाशुभ भाव हैं। और यह नियम है कि जैसा बाह्य अवलम्बन मिलता, बहुधा वैसे ही भाव होतेहैं। यद्यपि भगवान वीतराग मूर्तिमें आते जाते नहीं, किसीका उप-कार-अपकार करते नहीं, तो भी उनकी वीतराग मूर्तिका ध्यान-पूजन-नामस्मरण करना, राग-द्वेष नाशनेको निमित्त कारण है इससे जीवका परम उपकार होता है। जिस प्रकार अचेतन सुवर्ण, मणि, माणिक्य, रूपा, महल, वन, बाग, नगर, पाषाण, कर्दम, स्मशान आदि देखने, नाम स्मरण करने, अनुभव करनेसे राग द्वेष उत्पन्न होता, वैसे ही जिनेन्द्र की परमशांत मुद्राके दर्शनसे ज्ञानी पुरुषोंके वीतरागता उत्पन्न होतीहै। संसारमें जितने मात्र मत हैं, सब वीतरागता ही को मोक्ष-मार्ग बतातेहैं अतएव मोक्षके इच्छुक पुरुषोंको पचपरमेष्ठीकी पूजन, दर्शन, स्तवन, वंदना नित्य करना उचित है ॥

पुनः पूजनमें जो जल, चन्दन, अक्षतादि चढ़ाया जाता है सो भगवान भक्षण करते नहीं, पूजा किये बिना अपूज्य रहते नहीं, वासना लेते नहीं, जैसे राजाकी भेंट नजर निछरावल करके आनन्द मानते हैं उसी प्रकार भगवान अरिहन्तके सन्मुख

(अग्रभाग) में हर्षपूर्वक अष्टद्रव्योंका अर्घ चढ़ाया जाताहै ॥

पूजनके योग्य नव देव हैं—१. अरिहंत २. सिद्ध ३. आचार्य ४. उपाध्याय ५. सर्वसाधु ६. जिनवाणी ७ जिनधर्म ८. जिन-प्रतिमा ९. जिनमन्दिर। सो अरिहंत प्रतिबिम्बमें ही ये नव देव गर्भितहो जाते हैं, क्योंकि आचार्य, उपाध्याय साधुतो अरिहंतही की पूर्व अवस्था है और सिद्ध होते हैं सो अरहन्त पूर्वक ही होते हैं। अरिहन्तकी वाणी सो जिनवचन और वाणी द्वारा प्रकट हुआजो वस्तु स्वरूप सो जिनधर्म है! अर्हन्तका बिम्बसो जिनप्रतिमा और वह जहाँ तिष्ठैं,सो जिनालय है। इस प्रकार नवदेव-गर्भित जिन-बिम्ब तथा उनके ऋषभादि नाम, सम्मेदशिखरादि क्षेत्र, पंच-कल्याणादि काल और रत्नत्रय, दशलक्षणधर्म, षोडशकारणादि भाव (गुण) नित्य ही पूजने योग्यहैं। पवित्र जलको झारीमें धारण करके अर्हंत प्रतिबिम्बके अग्रभागमें ऐसा ध्यान करे कि "हे जन्म-जरा-मरणको जीतनेवाले जिनेन्द्र मैं जन्म,जरा, मरण-रूप त्रिदोषके नाशार्थ, आपके चरणारविन्दकी अग्रभूमिमें जल की तीन धारा क्षेपण करूं हूं, आपका चरण-शरणही इन दोषोंके नाश होनेको कारणहै।" इत्यादि आठों द्रव्योंके चढ़ानेके पद बोलकर भावसहित भगवानके अग्रभागमें द्रव्य चढ़ावे ॥ इस प्रकार देश-कालकी योग्यतानुसार पवित्र निर्जन्तु एकादि अष्टद्रव्य से पूजन करे, परिणामोंको परमेष्ठीके ध्यानमें युक्त करे, स्तवन पढ़े, नमस्कार करे ॥

जिस प्रकार जैनेतर लोग परमात्मामें भूख, तृषा, सोने, जागने आदि दोषोंकी कल्पना कर उनकी निवृत्तिके लिए जल चन्दनादिसे पूजन करते हैं, वैसा अभिप्राय जैनियोंका नहीं है; क्योंकि परमात्मा (उत्कृष्ट आत्मा) के न तो ये उपाधियां ही हैं न इनका उपचार है। जैनमतकी पूजा केवल परमार्थिक सिद्धि के लिए ही है। उसके पूर्ण अभिप्राय पूजाके प्रत्येक पदके पढ़नेसे

भलीभांति झलकते हैं। जो अलौकिक और सच्चे सुखके साधक हैं।

यद्यपि जिन पूजा करनेमें पुण्यरूप शुभ परिणामोंके रहनेसे उनके फलस्वरूप सांसारिक सुख-सम्पदाकी स्वयमेव ही प्राप्ति होती है, तथापि सांसारिक भोग-सम्पदाकी इच्छासे धर्म साधन करना जिनमतका उद्देश्य नहीं हैं; क्योंकि विषय भोगोंकी वांछा करनेसे उल्टा पुण्यका अंश हीन होता है। अतएव सांसारिक सुखोंकी इच्छा रहित होकर अपने आत्मिक सुखकी प्राप्तिके लिए ही परमात्माकी पूजन करना सन्मार्ग है, जिनमतका पवित्र उद्देश्य है।

यहां कोई सन्देह करे कि जब जैनमतका उद्देश्य "अहिंसा धर्म" है और आरम्भ करनेमें थोड़ी या बहुत हिंसा होती ही है। तो फिर पूजन आरम्भका उद्देश्य क्यों? उसका समाधान आरम्भयुक्त द्रव्यपूजन आदि शुभ कार्य गृहस्थ करते हैं, आरम्भत्यागी मुनि कदापि नहीं करते। तो भी "त्रस हिंसाको त्याग वृथा थावर न संहारे" के अनुसार पूजादि सम्पूर्ण क्रियाओंमें गृहस्थोंको अति यत्नाचार-सहित प्रवर्तनेकी आज्ञा है जिससे बुद्धिपूर्वक-पाप अल्प भी न हो और पुण्य विशेष हो। यद्यपि सम्यग्ज्ञानी गृहस्थ शुद्धोपयोगको ही इष्ट समझता है तथापि गृहस्थपनेमें अशुभके त्यागपूर्वक शुभमें प्रवृत्ति होना ही सम्भव है॥

प्रत्येक गृहस्थको पूजन या दर्शन करनेके लिये अपनी शक्ति अनुसार थोड़ा-बहुत द्रव्य अवश्यमेव अपने घरसे ले जाना चाहिये, खाली हाथ महात्माओंके दर्शनको जाना योग्य नहीं। दर्शनके समय जो एक-दो आदि द्रव्य चढ़ाये जाते हैं सामान्यतः उसका नाम भी पूजन है। सोही प्रथमानुयोग शास्त्रोंमें जहां-तहां तिर्यंचों एवं शूद्रों द्वारा पुष्प-फलादि चढ़ाकर पूजन करना लिखा है॥ इस अभिप्रायको लेकर बिना चरणानुयोगकी सम्मतिके

शूद्रादिको भी पचांगी पूजन करनेका अधिकारी ठहराना ठीक नहीं, यद्यपि सामान्य रीतिसे पूजन (आदर) करनेके सभी अधिकारी हैं तथापि शास्त्राज्ञानुसार प्रत्येकको अपने २ पदस्थके अनुसार इसका सम्पादन करना चाहिये, अस्पर्शशूद्र केवल दर्शन ही करे। स्पर्शशूद्र एकादि द्रव्य चढ़ाकर दर्शन करे। द्विजवर्ण अभिषेकपूर्वक पंच प्रकारी पूजन करे॥

जो द्रव्य ममत्वरहित होकर उन महात्माओंके सम्मुख क्षेपण किया जाता है वह अति निर्मल है इसलिए उसे "निर्माल्यद्रव्य" कहते हैं। उस द्रव्य पर चढ़ाने वालेका कुछ भी अधिकार या स्वामित्व स्वतः लेने या किसीको देनेका नहीं रहता, इसलिए उसको चाहे सो ले जावें, परन्तु अपने तई किसी भी रीतिसे अपनाना अत्यन्त अयोग्य और पापजनक है। ऐसा करने से इसी भवमें कुष्ठादि रोग, दारिद्रयादि दुःख प्राप्त होते और भविष्यके लिये तीव्र पापका बंध होता है।

यहां कोई प्रश्न करे-कि भगवान्‌के सम्मुख चढ़ाये हुए द्रव्य को ग्रहण करनेसे महापाप होता है ? उसका उत्तर—भगवान्‌को चढ़ाया हुआ द्रव्य यद्यपि महापवित्र, मस्तकपर चढ़ाने योग्य है तथापि अपनाने योग्य नहीं है; क्योंकि निर्ममत्व होकर (त्याग करके) महात्माओंके सम्मुख अर्पण कियागया है इसलिए अग्राह्य के अधिकारी बनना महापाप का कार्य है।

दान के विषय में विचारणीय बात॥

यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर जिस समय धर्मके जिस अंगकी न्यूनता दिखाई दे, उस समय उसीको पुष्ट करे, जिससे श्रद्धान, ज्ञान, चारित्रकी वृद्धि हो। एक समय ऐसा था जबकि राजप्रबंध ठीक न होनेसे लूट-खसोटका डर रहता था और लोग अबकी तरह अकेले या दो-

चार आदमी मिलकर यात्राको नहीं जा सकते थे। उस समय धर्मात्मा-श्रीमान् लोग सर्वप्रकार रक्षाका प्रबंध करके यात्राके लिये संघ निकालते थे, निर्धनोंको मार्ग व्यय देते तथा संघके सभी लोगोंकी यथोचित सहायता करते हुए आप धर्मसाधन करते और सर्व संघको धर्मसाधन कराते थे॥ पश्चात् एक समय ऐसा आया जब धर्मद्रोहियोंके द्वारा जैनमन्दिरों, जैनमूर्तियों, जैनशास्त्रोंकी हानि होने लगी। तब धार्मिक धनाढ्योंने मंदिरों, मूर्तियों, शास्त्रोंकी कमी देखकर मंदिर बनाने, मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा कराने और शास्त्र-भंडार स्थापन करनेकी ओर रुख फेरा। अब वह समय आगया है कि यात्राका मार्ग अति सुलभ होगया है, मंदिर-मूर्ति-प्रतिष्ठा आवश्यकतासे कई गुणी अधिक होचुकी, शास्त्र भंडार भी छोटे-बड़े जहां तहां मौजूद हैं। इस समय सबसे अधिक आवश्यकता सच्चरित्र जैन विद्वान बनाकर उनके द्वारा जैनधर्मके तत्त्वोंके सर्वसाधारणमें प्रचलित करने तथा धर्मसे अनजान लोगोंको धर्मस्वरूप बताकर सच्चे जैनी बनानेकी व प्राचीन ग्रन्थों की खोजकर उनके जीर्णोद्धार करने तथा सुलभतासे मिलनेके प्रयत्न करनेकी है इसलिये हर एक धर्मोत्साही पुरुषको मुख्यतापूर्वक विद्यावृद्धि, चारित्र सुधार और धर्मके प्रचारमें अपनी योग्यतानुसार तन, मन, धन लगाना चाहिये। यद्यपि हालमें लोगोंकी दृष्टि विद्यावृद्धिकी ओर कुछ २ झुकने लगी है और प्रयत्न भी होने लगा है। परन्तु चारित्र जो दिन२ हीन हो रहा है उसके सुधारकी ओर पूरी २ उपेक्षा होरही है। लोग यद्यपि अभीतक जातिभय और लोकभय एवं धर्मलज्जासे खुलासा तौर पर अभक्ष्य भक्षण करने और दुराचारमें लगनेसे डरते हैं, तथापि सत्संगके अभाव और कुसंगके प्रभावसे उस ओर लोगोंकी रुचि बहुत बढ़ रही है। बहुत लोगोंने गुप्तरूपसे ऐश-आराम, आलस्य, लोभ, विषयलम्पटताके वशीभूत होकर

शास्त्रोक्त आचार-विचारोंको सर्वथा छोड़ ही दिया है यदि ऐसे नाजुक समय में चारित्र सुधारकी ओर उन्नतिशील, धर्मात्मा या धनाढ्य पुरुष ध्यान नहीं देंगे, तो थोड़े ही दिनोंमें जातिबंधन टूटकर वर्णभेद मिटने और लोगोंके प्रत्यक्ष-रीतिसे मांस भक्षी, मदिरापानी आदि व्यसनोंसे युक्त हो जानेकी आशंका है। देखिये! इस अभक्ष्य-भक्षण और असदाचारके प्रभावसे ही दिन २ देशमें अनेक रोगोंकी वृद्धि हो रही है, लोग अशक्त और पौरुषहीन होते जाते हैं, धर्मकी रुचि घटती जा रही है, मुनिआर्यिका एवं उत्कृष्ट श्रावकोंके होनेका मार्ग बन्द सा हो रहा है, जिससे धर्मकी मूर्ति दिन २ क्षीण होती जा रही है। अतएव धर्मज्ञ धर्मोत्साही पुरुषोंको सदाचारके प्रचार में कटिबद्ध होना चाहिये और मन्दिर, यात्रा, पूजा, प्रतिष्ठादिकी भी आवश्यकतानुसार सम्हाल करना चाहिये। प्राचीन जिनमंदिरों-धर्मशालाओंका जीर्णोद्धार तीर्थक्षेत्रों, जिनमंदिरों, सरस्वती भंडारोंका प्रबन्ध, प्राचीन ग्रन्थोंकी खोज और उनका जीर्णोद्धार, असहाय जैनी भाइयोंको आजीविकाकी स्थिरतापूर्वक धर्मसाधनके सम्मुख करना आदि धर्मके अंगोंको भी दृढ़ करते रहना चाहिये॥

पात्रदान के पंचातीचार*।

(१) दानमें दी जाने वाली वस्तु हरित पत्रमें रखना (२) हरित पत्रसे ढांकना (३) अनादरसे दान देना (४) दान

*तत्त्वार्थसूत्रजीमें अनादरकी जगह परव्यपदेश अर्थात् दूसरेसे भोजन देनेकी कहकर आप काममें लगजाना और दानकी सुधि भूलजानेकी जगह आहारका समय टाल आहार देना कहा है सो इन दोनोंका प्रयोजन एक ही है केवल शब्द मात्रका अन्तर है॥

की विधि भूल जाना या दान देनेकी सुधि न रखना (५) ईर्ष्या बुद्धिसे दान देना।

प्रगट रहे कि ये अतीचार पात्रके आहार दानकी मुख्यतासे कहे गये हैं अतएव अतीचार बचाने अतिथि-संविभाग व्रतको निर्दोष पालनेके लिये दातार सम्बन्धी जो २ दोष बताये गये हैं उनको न लगने देना चाहिये।

लाभ—अतिथिसंविभाग अर्थात दान देनेसे लोभादि कषायोंकी मंदता होती तथा धर्म और धर्मात्मामें अनुराग रूप परिणाम होनेसे तीव्र पुण्यबंध होता है तथा पात्रके शरीरकी स्थिरता होनेसे धर्मसाधन होकर उसे भी स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्ति होती है॥

व्रती श्रावकके टालने योग्य अन्तराय× ॥

(१) देखने के—१ गीला चर्म २ हड्डी ३ मांस ४ चार अंगुल रक्तकी धार ५ मदिरा ६ विष्ठा ७ जीव हिंसा ८ गीली पीव (राध) ९ बड़ा पचेन्द्री मराहुआ जानवर (मुर्दा) १० मूत्र इनके देखनेसे अंतराय होता है॥

(२) स्पर्श के—१ चर्मादि अपवित्र पदार्थ २ पंचेन्द्री बड़ा

×सिद्धभक्ति किये पीछे अन्तराय माना जाता है (२) जिसके दो बार भोजन करनेका नियम हो, वह अन्तराय होने पर अन्तरमुहूर्त पीछे पुनः भोजन कर सकता है, ऐसा स्व० ब्र० शीतलप्रसाद जीने त्रिवर्णाचारके आधारसे अपने "गृहस्थ धर्म" में लिखा है॥

पशु ३ अव्रती पुरुष* ४ रजस्वला स्त्री ५ रोम या केश ६ पंख ७ नख ८ आखडी भंग करने वाले पुरुष या शूद्रका स्पर्श हो जाय अथवा अपने शरीर या हाथसे कोई छोटा बड़ा त्रस जीव अचानक मर जाय या मरे हुए का स्पर्श हो जाय तो अंतराय होता है ॥

(३) सुनने के—१ मांस २ मदिरा ३ अस्थि ४ मरण होने की आवाज ५ अग्नि लगने आदि उत्पातके शब्द ६ अति कठोर "इसको मारो-काटो आदि" शब्द ७ करुणाजनक रोनेका शब्द ८ स्वचक्र-परचक्रके गमनका शब्द ९ रोगकी तीव्रता-का शब्द १० धर्मात्मा पुरुषके उपसर्गके समाचार ११ मनुष्य-के मरनेके समाचार १२ नाक-कान छिदने (कटने)का शब्द १३ चांडालका शब्द १४ जिनबिम्ब, जिनधर्म और धर्मात्मा-के अविनयका शब्द १५ किसी अपराधीके फांसीके समाचार। इनके सुननेसे अन्तराय होता है ॥

(४) मन के संकल्प के—भोजन करते समय ऐसा विचार उत्पन्न हो, कि यह अमुक भोज्य पदार्थ चाम-मांस-हाड़ रक्त-मदिरा-मल-मूत्र आदि निषिद्ध पदार्थ सरीखा है, ऐसी ग्लानि होने अथवा भोजन समय मल-मूत्र करनेकी शंका होने से अंतराय होता है।

भोजन के—यदि कोई त्यागा हुआ पदार्थ भोजन (खाने) करने में आ जाय तो भोजन तजे ॥

---

*जिसका निंद्य तथा भ्रष्ट आचरण हो, जो जिनधर्मरहित हो, सप्तव्यसन सेवन करने वाला तथा अष्ट मूलगुणरहित हो, सो अव्रती जानना ॥

व्रती श्रावकक करने योग्य विशेष कियाएँ ।

(१) विशेष हिंसाके, निंद्य तथा निर्दयताके धंधे न आप करे, न औरोंको करावे, और न इनकी दलाली करे। यथाः— लाख-मोम-गोंद-लोहा-शोरा-सीसा-हथियार-जूता बेंचना आदि। खातका ठेका लेना—वृक्ष काटना—घास काटना—तेल पेरना—हलवाईगिरी करना—बनकटी करना आदि। शराब—गांजा—अफीम आदि मादक पदार्थोंका ठेका लेना—बेचना। गाड़ी, घोड़ा आदिके किरायेका धंधा करना ॥

यद्यपि व्रतप्रतिमामें केवल संकल्पी त्रस-हिंसाका त्याग होता है, आरम्भीका नहीं। तथापि अयत्नाचारपूर्वक होने वाली आरम्भी हिंसा भी संकल्पीके भावको उत्पन्न करती है, ऐसा शास्त्रोंका वाक्य है। जैसे, राज्य करना क्षत्रियका आरम्भ है अतएव प्रजाकी रक्षाके लिये युद्ध करना, इस प्रकार की विरोधी हिंसाका त्याग करना उसके लिये अशक्य है, तथापि इसमें यत्नाचारका अत्यन्त अभाव है। महान् आरम्भ और हिंसाका कारण है। युद्धकर्त्तासे सामायिक, प्रोषधादि व्रतोंका निर्विघ्न और यथायोग्य पालन होना असम्भव है, इसलिये व्रती स्वतः अपने तईं युद्ध न करे, सेनापति, कुटुम्बी, भृत्यादि जो युद्ध करने योग्य हों, सो करें। इसी प्रकार प्रचुर आरम्भ और हिंसाका मूल खेतीका धंधा है, इसमें भी यत्नाचारका अभाव आदि युद्धके सदृश सभी दोष उत्पन्न होते हैं अतएव व्रती पुरुष खेती अपने हाथसे न करे, जिसके परम्परासे होती आई हो, वह खेत बेंचे, अपने कुटुम्बी, भृत्यजन आदिसे करावे अथवा इस धंधेको छोड़कर और कोई हिंसा-रहित धंधा करे। सागार-धर्मामृतमें ऐसा भी कहा है कि जघन्य श्रावक अपने तथा अन्यके द्वारा पशुओंका ताड़न-पीड़नादि न

करे। और कृषिमें यह बात मुख्यपनेसे होती ही है अतएव खेती करना व्रतीके योग्य नहीं है ॥

यहां कोई सन्देह करे, कि कृषि वाणिज्यादि आरम्भका त्याग जब अष्टम प्रतिमामें कहा है तो व्रत प्रतिमामें इसका निषेध कैसा? उसका समाधान–जैसे छठी प्रतिमामें रात्रिभुक्ति त्याग कहा है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पांचवीं प्रतिमा वाला रात्रि भोजन करता होगा, नहीं २ रात्रिभोजनका त्याग तो प्रथम प्रतिमामें ही हो चुका है, छठीमें तो केवल कारित-अनुमोदना सम्बन्धी अतीचारोंका त्याग होता है। इसी प्रकार पांचवीं प्रतिमामें बीज, कंद, मूलादिका भक्षणका त्याग कहा है इससे कोई ऐसा न समझले, कि चौथी प्रतिमावाला कन्दमूल खाता होगा, नहीं २, इनका त्याग दर्शन प्रतिमाके २२ अभक्ष्यमें तथा रहा-सहा व्रत प्रतिमाके अनर्थ दंड त्याग व्रतमें हो चुका है, यहां पंचम प्रतिमामें तो केवल सचित्तका त्याग कराया है। इन दोनों दृष्टान्तोंसे भलीभांति समझमे आजायगा कि सप्तम प्रतिमा वाला ब्रह्मचारी होकर कदापि अपने हाथसे खेती नहीं करता, भला वह सचित्तत्यागी, रात्रिभुक्तित्यागी, ब्रह्मचारी होकर हल-बखर लेकर खेत जोते और प्रत्यक्ष छोटे-बड़े हिलते-चलते त्रस जीवों का निर्भयतापूर्वक घात करे, यह कैसे संभव हो सकता है? कदापि नहीं ॥

इसमें संदेह नहीं कि अल्प आरंभी, अल्प परिग्रही श्रावक ही भावशुद्धिपूर्वक अणुव्रतोंका पालनकर सकता है। कषाय मंद होकर जिस २ प्रकार प्रतिमा बढ़ती जाती है वैसे २ ही इन्द्रियोंके विषय, आरंभ, परिग्रह घटते जाते हैं। यहां कोई प्रश्न करे कि जिसका धंधा हो खेती या युद्धका हो, वह क्या करे? उसका समाधान–जो परिणामोंकी विशुद्धतापूर्वक अहिंसादि अणुव्रत, सामायिक आदि शील पालना चाहे तो खुद

अपने हाथसे ऐसी दीर्घ हिंसा एवं आरंभके कार्य न करे, अपने कुटुम्बी, परिकर, नौकर-चाकरोंको करने दे और आप ऐसे धंधे छोड़ अल्प आरंभ-परिग्रह के धंधे करे ॥

(२) आंखों दीखते त्रस जीवोंका घात न करे। जितने कार्य गृहसम्बन्धी या धर्मसम्बन्धी व्रतीके करने योग्य हों, सबमें यत्नाचार पूर्वक देख-शोधकर प्रवृत्ति करे; क्योंकि अयत्नाचार-पूर्वक प्रवृत्ति करनेसे हिंसा न होते हुए भी हिंसा सम्बन्धी पापास्रव होता है ॥

(३) एक जीवको मारडालनेसे बहुत जीवोंकी रक्षा होती है, ऐसा मानकर सर्प, बिच्छू, सिंहादि हिंसक जीवोंको न मारे। प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें स्पष्ट कहा है कि व्रत प्रतिमावाला, शत्रुको भी मूकी-लाठी आदिसे नहीं मारता तो सिंहादिका मारना कैसे संभव है? कदापि नहीं॥ इसी प्रकार देव, गुरु, धर्मके निमित्तभी कभी भूलकर हिंसा न करना चाहिये और न दुखी जीवोंको दुखसे छूटजानेके अभिप्रायसे मारना चाहिये॥

(४) सदा उठते-बैठते-चलते-फिरते कोईभी कार्य करते हुए इस बातका विचार रखना चाहिये कि मेरे ही समान सब जीवोंको सुख-दुख व्यापता है, इसलिये जिस प्रकार रोजगार धंधोंमें हिंसा, झूठ आदिकी प्रवृत्ति कम होती देखे, उसी तरह शरीर तथा कुटुम्बका पालन करता हुआ प्रवर्ते, इसीलिये व्रती श्रावककी "अल्पसावद्यआर्य" संज्ञा है। सागारधर्मामृतमें भी कहा है कि व्रती अल्पसावद्ययुक्त आजीविका करे ॥

(५) हिंसा तथा व्रतभंगसे बचानेवाली नीचे लिखी बातोंपर ध्यान देवे. (१) रात्रिका बनाया हुआ भोजन भक्षण न करे (२) जाति-बिरादरीके बड़े २ जीमणों (जेंवनारों, दावतों, गोटों) में भोजन न करे; क्योंकि वहां शुद्ध-अशुद्ध, भक्ष्य-अभक्ष्य, मर्याद-अमर्याद, छनापानी-अछनापानी आदि बातोंका कुछभी

विचार नहीं रहता (३) रसोई बनाते या जीमते वक्त शुद्ध, धोया हुआ वस्त्र पहिने (दौ. क्रि. को.) (४) नीच तथा निकृष्ट धंधे करनेवालोंसे लेन-देन, बैठक-उठक आदि व्यवहार न रक्खे (५) बाग-बगीचेमें भोजन अथवा गोट न (६) पशु-मनुष्यादिका युद्ध न देखे (७) फूल न तोड़े (८) जलक्रीडा न करे (६) रात्रिको खेल-कूद तथा व्यर्थ दौड़-भाग न करे (१०) जहां बहुत स्त्रियां एकत्रहोकर विषय-कषाय बढ़ानेवाले गीत-गान करती हों ऐसे मेलेमें न जावे और न विषय-कषाय वर्धक नाटक खेलादि देखे (११) होली न खेले (१२) गाली न देवे, हँसी-मसखरी न करे (१३) चमड़ेके जूते न पहिने (१४) ऊनी वस्त्र न पहिने (१५) हड्डीके बटन आदि पदार्थ काममें न लावे (१६) धोबीसे कपड़े न धुलावे* (१७) पानीके नलोंके डांटोंमें यदि चमड़ेका पर्दा लगा रहता हो तो नलका पानी दर्शन प्रतिमाधारीको न पीना चाहिये। यदि चमड़ा न लगा हो और जीवाणी (बिलछानी) डालनेका सुभीता न हो तो व्रतप्रतिमाधारी न पीवे; क्योंकि जीवाणीको उसी जल स्थानमें डाले बिना, त्रस हिंसाका दोष आता है (१८) धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें कहा है कि व्रती अनछने जलसे स्नान तथा शौच न करे (१६) व्रती श्रावक उत्तम वंश अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके हाथका भराहुआ जल पीवे, जो विधिपूर्वक जल छानना जानता हो (दौ. क्रि. को.) (२०) दो घड़ी दिन रहेसे घड़ी दिन चढ़ेतक हिंसा की निवृत्तिके लिए आहार-पानी न लेवे (२१) जिस देश या क्षेत्रमें व्रतभंग होता हो वहां न जावे (२२) व्रती मौनसहित* अन्तराय टाल भोजन

---

*अगर कपड़े धोना हो तो जलस्थानसे अलग छने पानीसे धोवे॥

*व्रती श्रावकको भोजनके समय कोई भी चीज लेनेके लिए भौंह, आंख, हुंकार, हाथपांव आदिका इशारा न करना चाहिये, नाहीं करनेके

करे (२३) दर्शन-पूजन-दान पूर्वक भोजन करे (२४) रातको स्नान न करे, इसमें विशेष त्रस हिंसा होती है। (दौ. क्रि. को.) (२५) व्रत प्रतिमासे लेकर ११वीं प्रतिमा तक रात्रिको एकांत-स्थानमें नग्न ध्यान धर सकता है। दिनको तथा सर्व स्त्री पुरुषोंके आने-जानेके स्थानमें ध्यान न धरे (पीयूषवर्ष-श्रावकाचार)॥

व्रती श्रावक सात जगह मौन रक्खे—(१) भोजन-पान (२) स्नान (३) मलमोचन (पेशाब-पाखाना) (४) मैथुन (५) वमन (६) पूजन (७) सामायिकके समय। तथा ७ जगह चँदेवा बांधे-(१) चूल्हा अर्थात् रोटी बनानेकी जगह तथा भोजनकी जगह (२) परिंडा (घिनौची) पर (३) घट्टी (चक्की) पर (४) ऊखलीपर (५) अनाज आदि रसोईके सामान साफ करनेकी जगहपर (६) सोने-बैठनेकी जगहपर (७) सामायिक-स्वाध्याय करनेकी जगहपर॥

अस्पर्श शूद्रोंके दर्शन प्रतिमातक होसकती है, वे व्रत प्रतिमा पालन नहीं कर सकते; क्योंकि उनके धंधे ऐसे निकृष्ट, हिंसा-युक्त तथा मानसिक वासनायें ऐसी असंस्कृत (संस्कार रहित) होती हैं जिससे वे व्रत धारण करनेको समर्थ नहीं होसकते*।

लिये इशारा करनेकी रोक नहीं है॥ मौन रखने तथा अंतराय पालनेसे जिह्वाइन्द्रिय वश होती, संतोष भावना पलती, वैराग्य दृढ़ होता, संयम पालता, चित्त स्थिर रहनेसे एषणा समिति पलती तथा वचनकी सिद्धि आदि अनेक अतिशय उत्पन्न होते हैं॥

*इसी प्रकार स्पर्श-शूद्र, ऐलक तथा मुनि-वृत्ति धारण नहीं कर सकते। पूर्व महर्षियोंने अपने सूक्ष्मदर्शी ज्ञान-नेत्र द्वारा जिस द्रव्यमें जिस क्षेत्र कालके आश्रय जितने उत्कृष्ट या निकृष्ट भाव होनेकी शक्ति देखी, उतनेही भावके साधन निमित्त उसी मर्यादा तक बाह्य क्रिया-चरणों (व्रतों) के धारण करनेका उपदेश दिया है॥

यद्यपि प्रथमानुयोगके ग्रंथोंमें कई अस्पर्श शूद्रोंके व्रत पालनेका वर्णन आया है सो उसपर जब अच्छी तरह पूर्वापर विचार किया जाता है, तो निश्चय होता है कि यह बात सामान्य रीतिसे कोई एक आखड़ी पालनेकी अपेक्षा कही गई है अथवा दर्शन प्रतिमामें कहे अनुसार स्थूल-पापोंके त्यागरूप व्रतोंके धारण करनेकी अपेक्षा कही गई है। ऐसे ही अभिप्रायको लेकर जल छानकर पीनेकी मुख्यता प्रकट करनेके लिये पं० सदासुखजी-ने श्रीरत्नकरंड श्रा. चा. की भाषा टीकामें लिखा है कि "खेती करते हुए हजारों मन अनछना पानी खेतोंमें पिलावे, परन्तु आप एक बूंद भी अनछना पाणी न पीवे" सो ऐसा सामान्य व्रत दर्शन प्रतिमामें ही संभव है॥ इसीप्रकार कई जगह अव्रतियोंको श्रावक या श्रावकोत्तम कहा है सो सामान्यरीतिसे छद्मस्थ ज्ञानगोचर मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यके त्यागकी अपेक्षा जानना चाहिये॥

(२) तत्वार्थबोध तथा दौलत क्रि० कोष में कहा है कि तिर्यंच मध्यम व्रत प्रतिमा पालन कर सकता है सो उसका भाव यह है कि वह सामान्य रीतिसे व्रत पालनकर सकता है अर्थात् छने हुए पानी और शुद्ध आहारकी जगह डोहला पानी तथा सूखे तृण, पत्ते खाकर अपना व्रत निर्वाहकर सकता है इससे विशेष व्रत पालनेको असमर्थहै॥

(३) सागार-धर्मामृत तथा धर्मसंग्रह-श्रावकाचार आदिमें कहा है कि गृहत्यागी व्रती, पंचाणुव्रतको मन-वचन-काय, कृत-कारित अनुमोदना इन नव भंगोंसे पालनकर सकता है; परन्तु गृहवासी व्रती मन-वचन-काय, कृत-कारित इन छहही भंगोंसे पालनकर सकताहै, उसके अनुमोदना सम्बन्धी त्याग दशमीं प्रतिमामें होताहै। इससे ऐसा प्रकट होताहै कि व्रत प्रतिमासे भी यदि कोई गृहत्यागी होना चाहे तो हो सकता है। यह गृह-

त्यागी-व्रती सादे, वैराग्यसूचक वस्त्र पहिने, जिससे दूसरे लोग उसे गृहत्यागी जान योग्य सहायता-वैयावृत्यादि करें। चौमासा करे, विशेष गमनागमन न करे; क्योंकि गृहस्थोंके तो कुटुम्ब-पालनके लिये उद्योग-आरम्भ करनेके कारण सदा गमनागमन तथा विशेषकर बरसातमें जहां-तहां जाने-आने सम्बन्धी विशेष हिंसा होतीहै परन्तु गृहत्यागीके गृहारम्भ रहा नहीं, इसलिये कारणके अभाव होनेसे कार्यका अभाव होनाही चाहिये॥ यहाँ कोई प्रश्न करेकि गृहत्यागी भोजनादि निर्वाह कैसे करे? उसका समाधान-जो बिना दीनता दिखाए, बिना भिक्षा मांगे, भोजन-वस्त्र प्राप्त होनेकी अपनी (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी) योग्यता देखे, तो गृहत्यागी होवे। सिवाय इसके सप्तमी प्रतिमा तक रसोई सम्बन्धी आरम्भकर सकता और अष्टमी प्रतिमातक रुपया-पैसा पास रख सकताहै, इसलिये जो कोई आदरपूर्वक भोजन-वस्त्रादि दे तो ले ले, नहीं तो आप अपने दामोंसे आवश्यक वस्तु आदि मोल ले लेवे तथा अपने हाथसे रसोई बनाकर भोजन करे, परंतु दूसरोंके सन्मुख दीनता न दिखाता फिरे और न अनादर पूर्वक भोजनवस्त्रादि ग्रहणकरे; क्योंकि जैनधर्ममें सिंहवृत्तिरूप त्यागका उपदेश है, इसलिये जिस प्रकार धर्मकी हंसी व निन्दा न हो, परिणाम उत्कृष्ट एवं उत्साहरूप रहें, उसी प्रकार योग्यतानुसार धर्मसाधन करे॥

व्रतप्रतिमा धारण करनेसे लाभ

पंचाणुव्रत धारणके लाभ बताते हुए कह चुकेहैं कि व्रतोंके धारण करनेसे लोकमें प्रामाणिकता (विश्वास), यश, बड़प्पन, सुख समृद्धिकी प्राप्ति होतीहै, किसी प्रकार सामाजिक, राजनैतिक आपदायें* नहीं आसकती। समाजमें वेश्यानृत्य, आति-

* पिनलकोड (ताजीरात हिन्द) की कोई दफा नहीं लग सकती॥

शबाजी, फिजूलखर्ची, कन्याविक्रय, जालसाजी आदि हानिकारक कुरीतियां नहीं रह सकतीं, पुनः गुणव्रतों-शिक्षाव्रतोंके भली-भांति करनेसे ऊपरकी प्रतिमाओंका धारण करना सहज होजाता है। पापअंश घटता और पुण्यअंश बढ़ता है, धर्मकी निकटता एवं शान्ति सुखकी प्राप्ति होती है। तीव्र सातिशय पुण्यबन्ध हो कर परलोकमें उत्कृष्ट सांसारिक अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती और अन्तमें निराकुलित सुखके पुंज मोक्षपदकी प्राप्ति होती है॥

तृतीय सामायिक प्रतिमा॥

सामायिक व्रतमें कह ही आये हैं कि रागद्वेष रहित होकर शुद्धात्मस्वरूपमें उपयोगको स्थिर करना सो यथार्थ सामायिक है। इस सामायिककी सिद्धिके लिये श्रावक अवस्थामें द्वादश अनुप्रेक्षा, पंच परमेष्ठी आत्माके स्वभाव-विभावोंका चिंतवन एवं आत्मस्वरूपमें स्थिर करनेका अभ्यास करना, सो सामायिक प्रतिमा है।

सामायिकके आदि अन्तमें एक २ नमस्कार, चारों दिशाओंमें नव २ णमोकारमन्त्र सहित तीन २ आवृत्ति, एक २ शिरोनति (प्रणाम) करे, शरीरसे निर्ममत्व होता हुआ सब जीवोंसे समताभाव रक्खे, आर्त्त-रौद्र ध्यान तजे और खड्गासन या पद्मासनमें से कोई एक आसन मांडें, मन-वचन-कायके तीनों योगोंकी निर्दोष-प्रवृत्ति सहित प्रभात-मध्याह्न सायंकाल तीनों सन्ध्याओंमें नियमपूर्वक नियत समयपर तथा नियत समय तक निरतिचार सामायिक करे, इस प्रकार आत्महितके लिये परिणामोंकी विशुद्धिताका इच्छुक सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है॥

सामायिक बाधारहित स्थानमें करे, सामायिकके समय अल्प वस्त्र रक्खे, शरीर, मस्तक, गला सीधा तथा स्थिर रक्खे, दोनों

पांवोंमें चार अंगुलका अन्तर रखकर काष्ठस्तंभवत् स्थिर खड़ा हो या पद्मासनसे बैठे, इधर-उधर न देखे, नासाग्रदृष्टि रखता हुआ सामायिकमें चित्त लगावे ॥

सामायिकके प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, सामायिक, स्तुति, वन्दना, कार्योत्सर्ग इन षट्कर्मोंको भले प्रकार सम्हाले, इनका अनुभव करे, तप* संयमका अभ्यास करे। जिस प्रकार सामायिक संयमके योग्य-पात्र मुनि हैं परन्तु श्रावक भी योग्यतानुसार

*सांसारिक विषयोंकी इच्छारहित होकर आत्माको तपाना (निर्मल करना) सो तप है, तप बाह्य-अन्तरंग दो प्रकारके हैं। बाह्य तप १ अनशन (उपवास)। २ ऊनोदर (भूखसे कम खाना)। ३ वृत्तिपरिसंख्यान (यथाशक्ति गृहस्थके योग्य अटपटी आखडी लेना)। ४ रसपरित्याग (घी, शक्कर, दूध, दही, नमक, तेल इन छहों रसोंमें से कोई एक दो आदि रस छोड़ना)। विविक्त शय्यासन (जहाँ ध्यान स्वाध्यायमें विघ्न के कारण न हों, ऐसे स्थानमें सोना, बैठना।)। ६ कायक्लेश (कार्योत्सर्ग करना, शीत उष्णादि परीषह सहना ॥

अंतरंग तप—१ प्रायश्चित्त—(लगे हुए दोषोंको दण्ड लेकर निर्मल करना)। २ विनय—(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप तथा उनके धारकों का विनय करना)। ३— वैयावृत्त्य —(चार प्रकारके संघकी सेवा-सहायता करना)। ४—स्वाध्याय (शास्त्रोंका यथारीति अध्ययन करना) ५—व्युत्सर्ग (शरीरसे ममत्व छोड़ना)। ६-ध्यान-(आत्म चिन्तन करना, धर्म-ध्यान करना) ॥

इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकते हुए छः कायके जीवोंकी रक्षा करना सो संयम है ॥ वह दो प्रकारका है (१) इन्द्रिय संयम अर्थात् स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन इन छहोंको वश करना (२) प्राणी संयम अर्थात् पृथ्वीकाय-जलकाय-अग्निकाय वायुकाय-वनस्पतिकाय-त्रसकायके जीवोंकी रक्षा करना ॥

अभ्यासरूप सामायिक करते हैं, उसी प्रकार तप-संयमके योग्य-पात्र तो मुनिही हैं तथापि इनका यथासम्भव अभ्यास श्रावकोंको भी करना चाहिये ॥

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि सामायिक-व्रत और सामायिक प्रतिमामें क्या अन्तर है ? उसका समाधान-शिक्षा-व्रतमें समयकी मर्यादा अथवा शाम-सुबह-दोपहरको नियमित समयसे कुछ आगे-पीछे, कालका अन्तर पड़ने सम्बन्धी दोष आता था, अथवा सामायिक व्रती कदाचित् (कभी) कारण विशेषसे प्रातःकाल सन्ध्याकाल दो ही समय सामायिक करता था परन्तु यहाँ प्रतिमारूप होनेसे नियमपूर्वक त्रिकाल यथावत् सामायिक करता है । सामायिक व्रतमें लगने वाले उपर्युक्त दोष ऐसे नहीं थे, जिनसे सामायिक व्रत भङ्ग हो जाय, केवल सूक्ष्म-मलरूप थे, अतः यहाँ उनका अभाव हुआ । भावार्थ. सामायिक प्रतिमावाला निर्दोष सामायिक करे और नीचे कहे हुए ३२ दोष न लगावे, उपसर्ग आनेपर भी प्रतिज्ञासे न टले, और रागद्वेषरहित हुआ उन्हें सहन करे ॥

सामायिक सम्बन्धी ३२ दोष ॥

(१) अनादरसे सामायिक न करे (२) गर्वसे सामायिक न करे (३) मान-बड़ाईके लिये सामायिक न करे । (४) दूसरे जीवोंको पीडा उपजाता हुआ सामायिक न करे (५) हिलता हुआ सामायिक न करे (६) शरीरको टेढा रखता हुआ सामायिक न करे (७) कछुवेकी नांई शरीरको संकोचता हुआ सामायिक न करे (८) सामायिकके समय मछलीकी नाईं नीचा-ऊंचा न हो (९) मनमें दुष्टता न रक्खे (१०) जैनमतकी आम्नायके विरुद्ध सामायिक न करे (११) भययुक्त सामायिक न करे (१२) ग्लानि सहित सामायिक न करे (१३) मनमें

ऋद्धिगौरव रखता हुआ सामायिक न करे (१४) जाति कुलका गर्व रखता हुआ सामायिक न करे (१५) चोरकी नाईं छिपता हुआ सामायिककी क्रिया न करे (१६) सामायिकका काल व्यतीत होने पीछे सामायिक न करे अर्थात् समय पर करे (१७) दुष्टतायुक्त सामायिक न करे। (१८) दूसरेको भय उपजाता हुआ सामायिक न करे (१९) सामायिकके समय सावद्य वचन न बोले (२०) परकी निंदा न करे (२१) भौंह चढाकर सामायिक न करे (२२) मनमें संकुचाता हुआ सामायिक न न करे (२३) दशों दिशाओंमें इधर-उधर अवलोकन करता हुआ सामायिक न करे (२४) स्थानके देखे शोधे बिना सामायिक को न बैठे (२५) जिस-तिस प्रकार सामायिकका काल पूरा न करे (२६) सामायिककी सामग्री लंगोटी-पूंजणी क्षेत्र आदिके मिलनेपर या न मिलनेपर सामायिकमें नागा न करे (२७) वांछायुक्त हुआ सामायिक न करे (२८) सामायिकका पाठ हीन न पढे अथवा सामायिकका काल पूरा हुआ बिना न उठे (२९) खंडित पाठ न पढ़े (३०) गूंगेकी नाईं न बोले (३१) मैढककी नाईं ऊंचे स्वरसे टर्र-टर्र न बोले (३२) चित्त चलायमान न करे ॥

सामायिक करनेवाला अपने साम्यभावके निमित्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अनुकूल मिलावे, साम्यभावके बाधक कारणोंको दूर ही से छोड़े, जैसाकि सामायिक व्रतमें विस्तारसे कहा गया है ॥

रेल, मोटर, जहाज आदि जिसका चलना, ठहरना अपने आधीन न हो ऐसी, पराधीन सवारीमें बैठकर मुसाफिरी करने से सामायिककी प्रतिज्ञाका नियम रूपसे पालन होना असंभव है। सामायिकके समय पराधीन-सवारी चलते रहनेसे क्षेत्रका कोई प्रमाण नहीं रह सकता, सामायिककी प्रतिज्ञायें हर प्रकार

नहीं पल सकतीं और न अपने द्वारा होनेवाली हिंसा रुक सकती है। मुसाफिर उतरते, बैठते, लड़ते, भिड़ते धकियाते हैं तथा सवारीके चलनेमें भी धक्के लगते हैं जिससे मन, वचन कायकी स्थिरता (निश्चलता) नहीं रह सकती। इस प्रकार साम्यभावके बाधक अनेक कारण उपस्थित होते हैं॥ उपर्युक्त पराधीन सवारियोंमें बैठनेसे चाहे नाममात्र सामायिक भले ही करली जायं, परन्तु सामायिक रूप क्रियाका जो फल होना चाहिये, सो कुछ भी नहीं होता। अतएव या तो सामायिकका काल छोड़ अन्य समय ऐसी सवारी द्वारा गमनागमन करे या अपनी घरू (स्वतंत्र) सवारी रक्खे। अथवा जो बहु-आरंभी, बहुपरिग्रही होनेके कारण पराधीन सवारी छोड़नेको असमर्थ हो, जिसको समय-बेसमय अचानक ही यहां-वहां जाना पड़ता हो, वह व्रत प्रतिमा ही धारणकर यथाशक्य सामायिक व्रतका पालन करे; क्योंकि बिना परिणामोंकी निर्मलताके नाममात्र सामायिक प्रतिमा धारण करलेनेसे तो कुछ लाभ नहीं। यहां तो परिणामोंकी निर्मलता नित्य नियमित रूपसे हो नहीं, किन्तु उन्नति रूप होना चाहिये। यही अन्तर यथार्थमें सामायिक व्रत और सामायिक प्रतिमामें है। धर्म धारण करना आत्म-कल्याणके लिये है, ख्याति-लाभ पूजाके लिये नहीं है। अतएव जिस प्रकार विषय-कषाय घटनेको तथा परिणामोंमें वीतरागता और शांति उत्पन्न होनेकी पद्धति आचार्योंने बताई है, उसे ध्यानमें रखकर धर्मसाधन करना मुमुक्षुओंका परम कर्तव्य है॥

लाभ-सामायिक प्रतिमा धारण करनेसे प्रतिदिन त्रिकाल, उत्कृष्ट छह २ घड़ीतक हिंसादि पापास्रव रुकते, और आत्म-विचार, तत्त्वविचारमें चित्त स्थिर होता है, जिससे सातिशय पुण्यबंध होकर स्वयमेव ही सांसारिक तथा पारमार्थिक सुखों की प्राप्ति होती है॥

चतुर्थ प्रोषध प्रतिमा ॥

प्रोषध–शिक्षाव्रतमें प्रोषधोपवासकी विधि विस्तारपूर्वक वर्णन करही आये हैं, वही सब क्रिया यहां समझना चाहिये। यद्यपि वहां पर भी मल दोष न लगनेकी पूरी खबरदारी रक्खी जाती थी, तो भी कारण विशेषसे प्रोषध-व्रतमें एकवार उष्ण-जल लेने अथवा एकासना करनेकी भी प्रतिज्ञा लेकर तदनुसार ही व्रत पालन किया जाता था, अब यहां प्रोषध प्रतिमा प्रतिज्ञा रूप है, इसलिये परीषह-उपसर्ग आनेपरभी शक्तिको न छिपा-कर प्रत्येक अष्टमी-चतुर्दशीको यथाशक्य उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्य प्रोषधोपवासकर सामायिकवत् १६ प्रहर तक आहार, आरंभ, विषय, कषाय रहित होकर उत्कृष्ट प्रवृत्ति करना चाहिये ॥

प्रोषधोपवासके दिन यथासंभव मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति रोके, यदि प्रवृत्ति करना ही पड़े तो शुभ और समिति रूप करे। हरएक वस्तु देख-शोधकर उठावे धरे। मल, मूत्रका त्याग ऐसे स्थानमें करे, जहां जीवोंको बाधा न हो और न नये जीव उपजें ॥

लाभ-प्रोषध प्रतिमाके धारण करनेसे नित्य-नैमित्तिक सामायिकके कालके अतिरिक्त एक माहमें चार दिनका समय निराकुलतापूर्वक धर्मध्यान करने तथा आत्मस्वरूपमें उपभोग लगानेके लिये और भी मिलता है, जिससे पाप अंशकी कमी और पुण्य अंशकी वृद्धि होती है। यह क्रिया मोक्ष मार्गकी पूरी सहकारिणी है ॥

पांचमी सचित्त-त्याग प्रतिमा ॥

— जो दयालु पुरुष कच्चे (सचित्त) कन्द, मूल, फल, शाक,-शाखा, करीर (अंकुर अथवा गोभी) पुष्प, बीज आदि भक्षण करनेका त्याग करता है वह सचित्तत्याग प्रतिमाधारी कहलाता है॥

सचित्तभक्षणका त्याग स्व-दया (आत्मदया) परदया एवं जिह्वा वश करने अथवा अन्य २ इन्द्रियोंके दमनार्थ किया जाता है। जो सचित्त त्यागी हैं, वे श्री जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा और प्राणियोंकी दया पालते हुए धर्ममें तत्पर होते हुए अति कठिनता से जीती जानेवाली रसना-इन्द्रियको वश करते हैं॥

कच्ची वनस्पति, कच्चा जल और बीज* इन सब सचित्त पदार्थोंको अचित्त होने पर भक्षण करनेका अभिप्राय यही है कि जिससे स्थावर कायके जीव भी भक्षण करनेमें न आवें और अचित्त-पदार्थोंके भक्षण करनेका रसना इन्द्रियका स्वभाव पड़ जाय। इसीलिये जलको गर्म करके अथवा तिक्त द्रव्य डालकर, तरकारीको सुखाकर, सिझाकर या छोटे २ टुकड़े करके उसमें सर्वांग तिक्त द्रव्यका असर पहुँचाकर तथा बीजको बांटकर या पीसकर अचित्त करके खाते हैं॥

यहां "कन्द-मूलादि सचित्त भक्षण न करे" यह कहा है, इससे कोई ऐसा न समझ ले कि चौथी प्रतिमा वाला सचित्त कन्द-मूल खाता होगा, इसलिये पांचवीं प्रतिमा वालेके लिये इस अनन्त काय (कन्द-मूलादि)को अचित्त करके भक्षण करनेकी विधि बताई है। नहीं २! कन्द-मूलादि अनंतकाय वा पुष्पादि त्रसजीवोंसे सशंकित वनस्पतियोंका त्याग तो भोगोपभोग परिमाण व्रतमें हो ही चुकता है, यहां तो केवल सचित्त त्याग और अचित्त भक्षणकी विधि होनेसे सामान्य रीतिसे कन्द-मूल-पुष्प-फलादि सभी सचित्त वनस्पतियोंके नाममात्र आचार्योंने कहे हैं। सचितत्यागीने पहिले भोगोपभोग परिमाणव्रतमें जितनी सचित्त-वस्तुओंके भक्षण करनेका प्रमाण किया हो,

---

*सूखा बीज योनिभूत होनेसे शास्त्रोंमें उसे सचित्त कहा गया है और हरा बीज तो सचित है ही॥

उन्हींको अचित्त हुई खावे और जिनका अचित्त-सचित्त दोनों भंगोंसे त्याग कर दिया हो, उनको अचित्त भी न खावे। इसी अभिप्रायको लेकर सकल-कीर्ति श्रावकाचारमें कहा है कि सचित्तत्यागी, भोगोपभोग-परिमाण व्रतमें त्यागकी हुई वनस्पतियोंको अचित्त भी न खावे ॥

प्राशुक (अचित्त) करनेकी विधि ॥

गाथा:—सुक्कं, पक्कं, तत्तं आमललवणेहि मिस्सियं दव्वं ॥
जं जंतेण य छिण्णं, तं सव्वं फासुयं भणियं ॥ १ ॥

अर्थ—सूखा हुआ, अग्नि तथा धूप द्वारा पका हुआ, गर्म हुआ, खटाई—लवण मिश्रित हुआ, यंत्र द्वारा छिन्न-भिन्न अर्थात् टुकड़े २ हुआ, पिसा हुआ, दला हुआ, रगड़ा हुआ या बांटा हुआ, निचोड़ा हुआ ये सब आचार्यों द्वारा प्राशुक कहे गये हैं ॥

(नोट) सचित्तत्यागी धूप द्वारा पके हुए फलोंमें गुठली (बीज) सचित्त होनेके कारण, फलोंमेंसे अलग हुआ गूदा भक्षण करते हैं। यदि गूदा सशंकित सचित हो तो छिन्न-भिन्न हुआ तथा लवणादि तिक्त द्रव्य मिश्रित हुआ खाते हैं ॥

सचित्तत्यागी अपने हाथसे यत्नाचारपूर्वक रसोई बना सकता है अर्थात् अन्न-जल-सागादि सामग्री अचित्त करके खा सकता है; क्योंकि इस प्रतिमामें केवल जिह्वा इन्द्रियकी लोलुपता घटानेका मुख्योद्देश है, आरम्भ त्यागका नहीं। ज्ञानानंद-श्रावकाचारमें भी कहा है कि "सचित्त भक्षण करनेका त्याग तो पांचवीं प्रतिमाधारीके होता है और शारीरादिकसे स्पर्श करनेका त्याग मुनिके होता है" इससे सिद्ध हुआ कि इस प्रतिमामें सचित्त भक्षणमात्रका त्याग है। तो भी सागारधर्मामृत और धर्मसंग्रह श्रवकाचारमें कहा है कि "सचित्त त्यागी, सचित्त वस्तुका भक्षण करना तो दूर रहे किन्तु पाँवसे भी न छूवे,

पृथ्वी, अग्नि, पवन कायादिकी दया पाले।" क्रियाकोषोंमें भी कहा है कि "हाथ पांव धोनेको सचित्त मिट्टी न लेवे।" इन उपर्युक्त वाक्योंसे यद्यपि परस्पर विरोधसा ज्ञान पड़ता है, तथापि विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि अपने प्रयोजनके वश रसोई बना सकता है। जल, अन्न, साग-तरकारी आदि प्राशुक करके भक्षण कर सकता है। क्योंकि यहां आरंभका त्याग नहीं है, तो भी निरर्थक एकेन्द्रीकी भी हिंसा नहीं करता॥

सचित्तत्यागी रसोईमें ऊपरसे नमक डाल कर न खावे; क्योंकि नमक सदा सचित्त कहा गया है। मिट्टीसे दांत न मले, सूखा फल भी बीज सहित न खावे; क्योंकि उसमें बीज सचित्त होता है। पुनः सचित्त-त्यागी किसी प्रकारका सचित दूसरोंको भी न खिलावे, ऐसा स्वा० का० अनुप्रेक्षा और समाधितंत्रमें कहा है।

लाभ—सचित्तत्याग प्रतिमा धारण करनेसे जिह्वा इन्द्रिय वशमें होती, और दया पलती है। वात-पित्त-कफका प्रकोप न होनेसे शरीर नीरोग रहता है। शारीरिक-शक्ति बढ़ती, कामवासना मन्द पड़ती है जिससे चित्तकी चंचलता घटती है। अतएव सचित्तत्याग पुण्यबंधका कारण तथा धर्म ध्यानमें सहकारी होने से परम्परया मोक्षकी प्राप्तिका भी निमित्त कारण है।

छठी रात्रिभुक्ति-त्याग प्रतिमा॥

इस प्रतिमाका शास्त्रोंमें दो प्रकारसे वर्णन किया गया है। एक तो कृत-कारित-अनुमोदनासे रात्रि भोजनका त्याग करना। दूसरे दिनको स्त्री-सेवनका त्याग करना। ये दोनों प्रकारके त्यागी रात्रिभुक्तित्यागी कहलाते हैं। इनका स्पष्टस्वरूप इस प्रकार है:—

(१) यद्यपि मांस-दोषकी अपेक्षा दर्शन प्रतिमामें और बहु-आरंभजनित त्रस-हिंसाकी अपेक्षा व्रत प्रतिमामें रात्रिको

खाद्य-स्वाद्यादि चारों प्रकारके आहारका अतीचारों सहित त्याग हो जाता है तथापि पुत्र-पौत्रादि कुटुम्बो तथा अन्यजनोंके निमित्तसे कारित-अनुमोदना सम्बन्धी जो दोष आते हैं, उनके यथावत्-त्यागकी प्रतिज्ञा यहां होती है। अथवा श्री ज्ञानानंद-श्रावकाचारमें ऐसा भी कहा है कि स्पर्श-शूद्रकी अपेक्षा रात्रि-भोजन सम्बन्धी सर्व प्रकारके अतीचारोंका त्याग यहां होता है। रात्रिभुक्त त्यागी अपने पुत्रादि कुटुम्बियों तथा घर आये हुए पाहुनोंको भी रात्रि भोजन नहीं कराता, न करते हुओंकी अनु-मोदना कराता है। यहां तक कि रात्रिको भोजन-अन्नादि दान भी नहीं करता (वर्द्धमानपुराण) ॥

(२) इस प्रतिमा वाला मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनु-मोदनासे दिनको स्त्री सेवनका त्यागी होता है। इससे कोई ऐसा न समझ ले कि पांचवीं प्रतिमा वाला दिनको स्त्री सेवन करता होगा, नहीं ! यहां तक इस सम्बन्धी कोई सूक्ष्म-अतीचाररूप दूषण लगते थे, यहां उनका भी त्याग हुआ (किसन. क्रि. को.)॥ सागारधर्मामृतमें स्पष्ट कहा है कि इस प्रतिमा वाला स्त्रीके ऋतु-मती होने पर चतुर्थ-स्नानके पीछे, संतानोत्पत्तिके निमित्त रात्रिको कदाचित् ही सेवन करता है यह अत्यन्त विरक्त, काम-इन्द्रिय दमन करने वाला होता है ॥

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीकामें यह भी कहा है कि इस प्रतिमा वाला रात्रिको गृहसम्बन्धी व्यापार, लैन-दैन वाणिज्य-व्यवहार व गृहस्थीसम्बन्धी चूल्हा, चक्की आदि षट्-कर्मोंका आरम्भ न करे अर्थात् सावद्य (पापके) व्यापारों को छोड़े। दौलत-क्रियाकोषमें रात्रिको मौन करना भी कहा है। सो उसका भाव ऐसा भासता है कि भोजन-व्यापारादि संबंधी विकथा न करे, धर्मचर्चाका निषेध नहीं। समाधितंत्रमें कहा है कि रात्रिको गमन न करे। सो यहां भी धर्मकार्यके लिये यत्ना-

चारपूर्वक गमनका निषेध न जानना, अन्य सांसारिक कार्योंके लिये गमनागमनका निषेध जानना ॥

लाभ—जो पुरुष इस प्रकार निरतिचार रात्रिभोजनत्याग करता है, उसको रात्रिभोजनसम्बन्धी सम्पूर्ण पापास्रव रुक जाते और संयमरूप रहनेसे पुण्यका बन्ध होता है, पुनः दिनको काम-सेवन सम्बन्धी दोषोंके निवारण करनेसे शारीरिक बल तेज, कान्ति बढ़ती और वीर्यान्तरायका विशेष क्षयोपशम होकर ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करनेमें सहायता पहुंचता है ॥

सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा ॥

जो ज्ञानी पुरुष, स्त्रीके शरीर को मलका बीजभूत, मलको उत्पन्न करनेवाला, मलप्रवाही दुर्गन्धयुक्त, लज्जाजनक निश्चय करता हुआ सर्व प्रकारकी स्त्रियों में मन-वचन-काय कृत कारित अनुमोदनासे काम सेवन तथा तत्सम्बन्धी अतिचारोंका त्याग करता और ब्रह्मचर्यकी दीक्षामें आरूढ़ होता है सोही ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यप्रतिमाधारी कहलाता है।

ब्रह्मचारीके चेतन-अचेतन सर्वप्रकारकी स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए मैथुनके दोषोंके त्यागसे नीचे लिखे अनुसार शीलके अठारह हजार भेद होते हैं। यद्यपि इन दोषोंका त्याग पाक्षिक अवस्थासे ही आरम्भहो जाता है, तथापि स्त्री सेवनका सर्वथा त्याग न होनेसे यथार्थ ब्रह्मचर्य नाम नहीं पा सकता, निरतिचार त्याग इसी प्रतिमा में होता है। यहाँ वेद कषायकी इतनी मन्दता हो जाती है कि जिससे काम वेदना सम्बन्धी मूर्छा उत्पन्न ही नहीं होती। यही मन्दता क्रमशः बढ़ते २ नववें गुणस्थानमें वेद कषायका सर्वथा अभाव हो जाता है, जिससे आत्मा वेद कषाय जनित कुशीलकी मलिनतासे रहितहो जाती है।

शील के १८००० भेद॥

देवी-मनुष्यनी-तिर्यंचनी तीन प्रकारकी चेतन स्त्रियोंको मन वचन काय तीनों योगों करके कृत-कारित-अनुमोदना द्वारा स्पर्शन-रसन-घ्राण चक्षु श्रोत्र पंचेन्द्रियोंके वशीभूत होकर आहार-भय मैथुन परिग्रह चार संज्ञाओंसे युक्त, द्रव्य भाव दो प्रकारसे अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषाय करके सेवन करनेसे (३ × ३ × ३ × ५ × ४ × २ × १६) १७२८० भेदरूप दोष चेतन स्त्री-सम्बन्धी कुशीलके होते हैं।

चित्र या लेप मिट्टीकी काष्ठकी पाषाणकी बनी हुई तीन प्रकार की अचेतन स्त्रियोंके मन काय* दो योगों द्वारा कृत-कारित अनुमोदना करके, पंच इन्द्रियोंके वशीभूत, ४ संज्ञायुक्त, द्रव्य-भाव दो प्रकार सेवन करनेसे (३ × २ × ३ × ५ × ४ × २) ७२० भेदरूप दोष अचेतन स्त्री सम्बन्धी कुशीलके होते हैं।

इस प्रकार चेतन-अचेतन दोनों सम्बन्धी अठारह हजार कुशीलके भेद हुए। इन भेदों द्वारा लगते हुए कुशीलके दोषोंका जैसा २ त्याग होता जाता है, वैसे २ ही शीलगुण प्राप्त होते जाते हैं।

यहाँ चेतन स्त्रीसम्बन्धी भेदोंमें प्रश्न उत्पन्न होता है कि देवांगनाका मनुष्यके काय द्वारा सेवन कैसे सम्भव है? उसका समाधान—कोई देवांगना किसी मनुष्यके पास किसी कारण

---

*अष्टपाहुड़के शीलपाहुड़की टीकामें स्पष्ट कहा है कि अचेतन स्त्रीके वचन नहीं होता, इससे कोई कुशील सम्बन्धी वचन नहीं कहता। पुनः चर्चा-समाधानमें अचेतन स्त्री सम्बन्धी भंग इस प्रकारभी कहे हैं। चित्राम काष्ठ पाषाणकी तीन प्रकार स्त्रियोंको, मन करि, कृत-कारित अनुमोदना करि, पंचेन्द्रियके वश, १६ कषाय युक्त होकर विषयकी वांछासे (३ × १ × ३ × ५ × १६) ७२० भेद होते हैं।

विशेषसे आवे जैसा कि रामचन्द्रजीके पास सीताका जीव सीतेन्द्र देवांगनाका रूप धारण कर आया था, या कोई मनुष्य मन्त्रबलसे किसी देवांगनाको वश करे और परिणाम विगड़नेसे आलिंगन करे या पकड़ लेवे तो; धातु उपधातु रहित वैक्रियक शरीर और औदारिक शरीरका सम्भोग असम्भव होते हुए भी स्पर्शन मात्रसे काय सम्बन्धी कुशीलका दोष सम्भव हो सकता है।

यहां दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अचेतन स्त्री सम्बन्धी भेदोंमें चित्राम काष्ठ पाषाणकी स्त्रियोंका त्याग कराया, सो इनसे कुशीलसेवन कैसे सम्भव हो सकता है? उसका समाधान—केवल स्त्री सेवन करना ही कुशील नहीं है किन्तु मूर्छापूर्वक मन-वचन-कायकी कुशील सेवनरूप प्रवृत्ति होनेसे भी कुशीलका दोष आता है॥

शीलव्रतकी नव बाड़ी ॥

ब्रह्मचर्यव्रतको निर्दोष पालन करनेके लिये नीचे लिखी हुई शीलकी रक्षक नव बाड़ोंकी रक्षा करना अवश्य है, जैसे बाड़ी खेतकी रक्षा करती, वैसे ही ये नव बाड़ी शीलकी रक्षा करती हैं। अन्यथा इनके भंग करनेसे शीलव्रतका भंग होना सम्भव है॥

कवित्त—तिय थल वास, प्रेम रुचि निरखन, देख रीझ भाखन मधु बैन॥ पूरव भोग केलि रसचिंतन, गरुय अहार लेत चित चैन॥ कर शुचि तन शृङ्गार बनावत, तिय पर्यंक मध्य सुख सैन॥ मन्मथ-कथा, उदर भर भोजन, ये नव बाड़ि जान मत जैन॥ १॥

अर्थ—(१) स्त्रियोंके सहवासमें न रहना (२) स्त्रियोंको प्रेम रुचिसे न देखना (३) स्त्रियोंसे रीझकर मीठे २ वचन

न बोलना (४) पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका चिंतवन न करना (५) गरिष्ठ आहार नहीं करना (६) शृंगार-विलेपन करि शरीर सुन्दर न बनाना (७) स्त्रियोंकी सेज पर न सोना (८) काम-कथा न करना (९) भर पेट भोजन न करना, ये शीलकी रक्षक ९ बाड़ी जैनमतमें कही हैं।

इसी प्रकार श्री ज्ञानार्णवमें भी ब्रह्मचारीको नीचे लिखे हुए मैथुनके १० दोष टालनेका उपदेश है। (१) शरीर शृङ्गार करना (२) पुष्ट रस सेवन करना (३) गीत, नृत्य, वादित्र, देखना-सुनना (४) स्त्रियोंकी -संगति करना (५ स्त्रियोंमें किसी प्रकार काम भोगसम्बन्धी संकल्प करना (६) स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको देखना (७) स्त्रीके अंगोंके देखनेका संस्कार हृदय में रखना (८) पूर्वमें किये हुए भोगों का स्मरण करना (९) आगामी काम भोगोंकी वांछा करना (१०) वीर्य पतन करना ॥

ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विशेष बातें ॥

ब्रह्मचारीको शीलकी रक्षा निमित्त नीचे लिखी बातों पर ध्यान देकर वर्तना चाहिये ॥

(१) भूलकरभी स्त्रियोंके सहवासमें न रहे (२) जहाँ स्त्रियां एकत्र होकर रागभावरूप गान करती हों ऐसे मेलोंमें न जावे (३) स्त्रियोंके मनोहर अंग न देखे (४) रागभाव पूर्वक स्त्रियोंसे वार्तालाप न करे। (५) पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण न करे (६) कामोद्दीपक, गरिष्ठ, और भरपेट* भोजन

---

*ब्रह्मचारीको नित्य एकवार भोजन करना योग्य है जलपानका नियम रक्खे। अन्यमतोंमें भी ब्राह्मणको दिनमें एकवार भोजन करना कहा है। उसका अभिप्राय यही है कि "ब्रह्मचारी नित्य एकवार भोजन करे" ॥

न करे (७) शौकीनोंकी भांति मल २ कर न नहावे, साधारण रीतिसे शरीरकी शुद्धतामात्रके लिए नहावे (८) शौकसे कांचमें मुंह आदि न देखे (९) शरीरका साज शृंगार न करे (१०) रागभाव उत्पन्न करनेवाले सुन्दर २ चटकीले-चमकीले, रंगीन, अंगा, पगड़ी आदि वस्त्र तथा आभरण न पहिने सादे-उदासीनता सूचक वस्त्राभरण पहिने (११) शौकके वास्ते कपड़ेके भी जूते न पहिने, छतरी न लगावे* (१२) सुगंध, तेल, फुलेल, अतर, विलेपनादि कामोत्तेजक पदार्थोंके सूंघने-लगानेका त्याग करे (१३) चेहरे पर सुन्दरता लानेके लिये रुचिपूर्वक सम्हाल २ कर बाल न बनावे, यत्नाचार पूर्वक साधारण रीतिसे क्षौर करावे, गृहत्यागी हो तो सम्पूर्ण डाढी, मूंछ, माथेके बालोंका मुंडन करावे केवल चोटीमात्र रक्खे (१४) स्त्रियोंकी सेजपर न बैठे (१५) स्त्रियोंके नृत्य-गायनादि न देखे-सुने (१६) काम-कथा तथा रागभाव पूर्वक स्त्रियों सम्बन्धी चर्चा न करे (१७) मनमें कामविकार चेष्टा न करे (१८) वचनमे कामविकाररूप वार्ता न कहे (१९) कायसे कामविकार चेष्टा न करे (२०) किसी-की हँसी दिल्लगी न करे (२१) शृंगार, हास्य, कामरूप कथा कहानी न कहे और न ऐसे काव्य-नाटक-उपन्यासादि पढे-सुने (२२) पलंगपर या कोमल विस्तरपर न सोवे, साधारण वस्त्र-भूमि-चटाई आदि सामान्य-विस्तर पर सोवे (२३) आराम कुरसी-गद्दे तकिये आदि कोमल, आराम देनेवाले आसनपर न बैठे (२४) अपने विस्तरपर अन्य किसीको न सुलावे, अकेला ही सोवे (२५) ताम्बूल केशरादि कामोद्दीपक वस्तुयें न खावे

---

*चमड़े के जूते पहिननेका त्याग तो दूसरी प्रतिमामें होगया था। यहां कपडेके जूतेभी शौकसे न पहिने, अगर पहिने तो उदासीनरूप पहिने ॥ और अष्टमी प्रतिमामें जूता छतरीका सर्वथा त्याग करे ॥

(२६) उदासीनतापूर्वक अल्पारंभ रक्खे (२७) स्त्रीश्रावक सवारी हथिनी, घोड़ी, ऊंटनी आदिपर न बैठे (२८) वस्त्र अपने हाथसे धो लेवे और बहुत मलीन होनेपर उन्हें अलगकर दूसरे ग्रहण करे (२६) पाखानेपर पाखाना तथा मूत्रपर मूत्र न करे जहां-तक संभव हो व्रत-प्रतिमा ही से इसे तजे और गृहत्यागी व्रती तो अवश्य ही तजे (३०) काष्ठादिकी दतोन न करे सामान्य रीतिसे कुरला करे (धर्मसं. श्रा.) (३१) दांतोंमें मिस्सी, आंखोंमें अंजन शौकसे न लगावे, औषधिरूप त्याग नहीं है ॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्य प्रतिमावाला बाह्य विरागरूप रहे और अंतरंग विकार भावोंको तजे ॥

सागारधर्मामृत तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रंथोंमें नीचे लिखे अनुसार पांच प्रकारके ब्रह्मचारी कहे हैं, इनमेंसे सप्तम प्रतिमावाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी जानना। क्योंकि यह ब्रह्मचर्यको धारणकर फिर त्यागता नहीं तथा ऊपरकी प्रतिमाओंके धारण करनेका इच्छुक रहता है। शेष चार प्रकारके ब्रह्मचारी, नियमित-काल (विद्या पढ़ने) तक ही ब्रह्मचारी रहकर पीछे उसे त्याग गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं ॥

(१) उपनयन ब्रह्मचारी जो यज्ञोपवीत लेकर ब्रह्मचर्य युक्त हो, विद्याध्ययन करे, शास्त्रपाठी होकर पश्चात् गृहस्थाश्रम धारण करे। इसका विशेष वर्णन श्री आदिपुराणमें इस प्रकार है ॥ जिनभाषित क्रियाके समूहकर, अंतरंगकी शुद्धतापूर्वक यज्ञोपवीत धारे। भलीभांति पढ़ा है जिनसूत्र जाने। यज्ञोपवीत धारणके भेष और व्रत-दीक्षाका देव-गुरुकी साक्षीसे विधिवत् प्रतिपालक होय। भेष-शुक्ल वस्त्र और यज्ञोपवीत। देवपूजादि-षटकर्म ये व्रत और शास्त्रोक्त श्रावकके व्रत सो दीक्षा है। इससे ज्ञात होता है कि दर्शनप्रतिमाके नियमोंको धारण करनेवाला ही यज्ञोपवीतका अधिकारी है। जबतक पढे, सिर नंगा, चोटीमें

गांठ, गलेमें जनेऊ, कटिमें तीन तागेका डोरा, पवित्र उज्ज्वल धोती पहिरे तथा १ दुपट्टा ओढ़े, इसके सिवाय और कोई वस्त्राभूषण न पहिने, पढने पीछे गृहस्थ बने ॥

(२) अदीक्षित ब्रह्मचारी—जो किसी भेषको धारण किये बिना ही ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करे, पश्चात् गृहस्थ बने ॥

(३) अवलम्ब ब्रह्मचारी—जो क्षुल्लक सरीखा रूप धारण करनेके विद्याभ्यास करे, पश्चात् गृहस्थाश्रमी हो। इससे मालूम होता है कि किसीको क्षुल्लक विद्वान्के पास रहकर विद्या पढना हो, तो उसी सरीखा भेष बनाकरभी पढ सकता है और पढ़ने पीछे गृहस्थाश्रमी हो सकता है ॥

(४) गूढ़ ब्रह्मचारी—जो बाल्यावस्थामें मुनि भेष धारणकर मुनियोंके पास पढे पश्चात् माता, पिता, बंधुओंके आग्रहसे व कठिन क्षुधा, तृषादि परिषहोंके न सहसकनेके कारण स्वयमेव व राजादिके द्वारा प्रेरित होकर गृहस्थाश्रमी बने। इससे मालूम होता है कि किसीको मुनियोंके संघमें रहकर विद्या पढना हो, तो उन सरीखा भेष बनाकरभी पढ सकता है और पढने पीछे गृहस्थाश्रमी हो सकता है ॥

(५) नैष्ठिक ब्रह्मचारी—जिसने आजन्म ब्रह्मचर्य अंगीकार किया हो, जो चोटी यज्ञोपवीत युक्त श्वेत या लाल वस्त्र धारण करे, कटिमें कोपीन रक्खे, देवपूजादि धर्मध्यानमें निरंतर सावधान रहे। ये भिक्षावृत्ति, अभिक्षावृत्तिसे दो प्रकारके होते है (सा. ध.)। यहा ऐसा जान पडता है कि गृहवासी-ब्रह्मचारी भिक्षावृत्ति नहीं करते जो गृहत्यागी हैं, वे ही भिक्षावृत्तिपूर्वक आहार ग्रहण करते हैं ॥

वर्तमानमें जोगी—कनफड़ा-ब्रह्मदंडी आदि अन्यमतके भेषी लाल (गेरुवां) वस्त्र धारणकर भेष बनाते हैं, इससे जैनधर्मके ब्रह्मचारीको ऐसा भेष धारण करना सन्देहजनक होता

है। सिवाय इसके आदिपुराणमें सफेद वस्त्र धारण करना भी तो लिखा है, अतएव सफेद वस्त्र धारण करना ही श्रेष्ठ है ॥

सागारधर्मामृतमें नैष्ठिक ब्रह्मचारीको चोटीमात्र रखना, एक वस्त्रको ओढना तथा लँगोटी लगाना कहा है। पार्श्वनाथ पुराणमें डाढी-मूछ माथेका मुंडन क्षुल्लक करावे, ऐसा कहा है। समाधितंत्रमें परिग्रह त्यागीको सादे वस्त्र पहिरनेकी और अनुमति त्यागीको धोती-दुपट्टा तथा पोत्या रखनेकी आज्ञा है। इन सब उपर्युक्त बातोंपर सूक्ष्मरीतिपूर्वक विचार करनेसे स्पष्ट होता है, कि गृहत्यागी-ब्रह्मचारी चोटी मात्र रक्खे, लँगोटी लगावे तथा एक वस्त्र ओढ़नेका नियम पालन करे और गृहवासी ब्रह्मचारी जब अष्टमी, नवमी दशवीं प्रतिमामें गृहत्यागी हो अथवा क्षुल्लक हो, तब इस प्रकारका भेष धारण करे। परन्तु जबतक गृहमें रहे तबतक सादे वस्त्र पहिरे, डाढी-मूंछ-माथेके बाल घुटावे, उदासीन रूप रहे। आदिनाथपुराणमें चोटी रखनेवाले ब्रह्मचारीको भिक्षाभोजी कहा है, इससे भी सिद्ध होता है कि भिक्षाभोजी भेष रक्खे और गृहवासी वैराग्ययुक्त सादे वस्त्र पहिने ॥

लाभ—स्त्रियोंके वशवर्तीपना होनेसे अंतरंगमें दाह और पापकी वृद्धि होती है, सुख-शांतिका नाश होता है। अतएव जो धार्मिक पुरुष, स्त्री सम्बन्धी पराधीनता छोड़ दुर्जय कामको जीत ब्रह्मचर्य पालते हैं, वही सच्चे साहसी सुभट हैं। युद्धमें प्राण विसर्जन करने वाले शूर उनके सामने तुच्छ हैं; क्योंकि ऐसे युद्ध-शूर काम द्वारा जीते हुए हैं, अतएव इस जगज्जयी काम सुभटको जिन ब्रह्मचारियोंने जीता, वे ही मोक्षमार्गी महासुभट, धन्य हैं। इस ब्रह्मचर्यके प्रभावसे वीर्यान्तराय कर्मका विशेष क्षयोपशम होकर आत्म-शक्ति बढ़ती, तप उपवासादि परीषह सहज ही जीती जाती, गृहस्थाश्रम संबन्धी आकुलता

घटती, परिग्रहकी तृष्णा घटती, इन्द्रियां वशमें होतीं, यहां तक कि वाक् शक्ति स्फुरायमान हो जाती है। ध्यान करनेमें अडिग चित्त लगता और अतिशय पुण्यबन्धके साथ २ कर्मोंकी निर्जरा विशेष होती, जिससे मोक्षनगर निकट हो जाता है ॥

अष्टम आरंभत्याग प्रतिमा ॥

जो श्रावक हिंसासे अति भयभीत होकर आरंभ*को परिणामोंमें विकलता उत्पन्न करने वाला जान गृहसम्बन्धी सम्पूर्ण आरम्भ स्वयं नहीं करता और न दूसरोंसे कराता है, सो आरम्भत्याग प्रतिमाधारी है। इसके मन-वचन-काय, कृत-कारित से गृहसम्बन्धी पापारम्भका त्याग होता है, अनुमोदना (अनुमति) का त्याग नहीं होता। अनुमोदनाका अर्थ सम्मति सलाह या अभिप्राय देना है, आज्ञा देना नहीं है। यथा:-"यह काम तुमने भला किया या बुरा किया" "इसमें हानि होगी, इसमें लाभ होगा" आदि। यदि पुत्रादि व कुटुम्बी, घरके काम काजकी वा व्यापार सम्बन्धी सलाह पूछे तो सम्मतिरूप उसके हानि लाभ बता देवे, परन्तु उस कामके करनेकी प्रेरणा न करे। यदि भोजन सम्बन्धमें पूछें, तो अपनी त्याग-आखड़ी बता देवे या अनिष्ट हानिकारक वस्तुओंका निषेध कर देवे परन्तु अमुक २ वस्तु बनाना, ऐसी आज्ञा न देवे ॥

आरम्भत्यागी हिंसासे भयभीत हो सन्तोष धारण कर धन-सम्पदासे ममत्व घटाता हुआ सर्व प्रकारके व्यापार-धंधे करना छोड़े तथा गृहारंभ नहीं करे। भावार्थः—गृहसम्बन्धी षट्कर्म अर्थात् पीसना, दलना, कूटना, छड़ना, रसोई बनाना, बुहारना झाड़ना, जल भरना आदि गृहारम्भ तथा व्यापार-धंधे आदि

*जिन क्रियाओंमें षट्कायके जीवोंकी हिंसा हो, सो आरंभ है ॥

आजीवी आरम्भ नहीं करे। उद्यमी-आरम्भी दोनों प्रकारकी हिंसा तजे ॥

यहां यत्नाचारपूर्वक पूजनादि सम्बन्धी अल्पारम्भका त्याग नहीं है (सा. ध.) तथा यह भी कहा है कि ये पूजा आदि धर्म-कार्य हिंसायुक्त न हों; क्योंकि धर्मारंभ प्राणिवधका अंग नहीं है, धर्मारम्भ वही है जहां प्राणिरक्षा संभव हो। भावार्थः-जल भरना, द्रव्य धोना आदि आरम्भ न करे। द्रव्य चढ़ावे-पूजा करे ॥

यहां कोई सन्देह करे कि जब आरम्भ-त्याग प्रतिमामें सेवा-कृषि-वाणिज्यादि आरम्भका त्याग हुआ है तो सप्तम प्रतिमा तक कृषि तथा युद्ध संबंधी आरम्भ करता होगा? उसका समाधानः—यह बात संभव नहीं होती कि सचित्त भक्षणको त्याग, ब्रह्मचर्य धार, उदासीन अवस्था अंगीकार कर स्वयं हल बखरसे खेत जोते बोवे या युद्ध करके सहस्त्रों जीवोंका आंखों देखते घात करे। श्री सर्वार्थसिद्धि टीकामें भाषाटीकाकार पं० जयचन्दजीने कहा है कि कुटुम्बके शामिल रहनेसे यहां तक कुछ अतिचार दोष लगते थे, सो यहां उनका यथावत् त्याग हुआ। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारकका सामान्य गृहस्थोंकी नाईं अन्य व्यापार धंधोंमें भी संलग्न रहना संभव नहीं; क्योंकि जैसी २ कषाय घटती जाती है तदनुसार ही आरम्भ भी घटता जाता है ॥

आरम्भत्यागी अपने हाथसे भोजन बनाता नहीं, और न दूसरोंसे कहकर बनवाता है। अपने घर या पराये घर न्योंता-हुआ जीमनेको जाता है और जिह्वा इन्द्रियके स्वादमें आसक्त न होता हुआ लघु भोजन करता है ॥

आरम्भत्यागीको चाहिये कि अपने गृहमें जो द्रव्य हो, उसमें अपनी इच्छानुसार कुटुम्बका योग्य विभाग करके अपने

योग्य आप ग्रहण करे, अन्य धनसे ममत्व तजे और नया धन उपार्जन नहीं करे, अपने पासके धनको दान-पुण्य-यात्रादि धर्मकार्योंमें लगावे। यदि भाग्य-योगसे अपने पासका धन चोरी चला जाय, नष्ट हो जाय, तो कर्मोदयका ऋण चुका जान संतोष करे, आकुल-व्याकुल न हो॥

यहां कोई प्रश्न करे—कि धन पास रक्खे, तो धंधा करे ही करे अथवा रोटी बनावे-बनवावे ही नहीं, तो धन रखनेसे क्या प्रयोजन? इसका उत्तर-यह जो अल्प धन अपने पास रखता है, वह धर्मानुकूल दान, पुण्य, तीर्थादिमें व्यय करने तथा अपने वस्त्रादि लेनेके लिये रखता है। उस धनको वह हिंसाआरम्भके कार्यों में कदाचित् भी नहीं लगाता; क्योंकि इससे उसकी प्रतिज्ञा भंग होती है॥

फिर कोई प्रश्न करे कि आरम्भत्यागीको घरके या अन्य लोग भोजनको न बुलावें तो वह क्या करे? अथवा कोई साथका त्यागी बीमार हो जाय तो भोजन बनाकर खावे, खिलावे या नहीं? इसका समाधान—प्रथम तो यह बात असंभव है कि सच्चे धर्मात्मा-त्यागीको आहारकी योग्यता न मिले, अवश्य मिले ही मिले। दूसरे त्यागीको भी चाहिये कि जिस क्षेत्रमें धर्मसाधनकी अनुकूलता (सहायता) देखे, वहां श्रावकसमूहके साथ रहे। आगमका भी तो यही उपदेश है कि अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी योग्यता देखकर हर एक व्रत-आखडी-प्रतिज्ञा धारण करे; क्योंकि बिना योग्यताके त्यागी या प्रतिमाधारी होनेसे कुछ भी कल्याण नहीं होता, कषाय, ममत्व भाव तथा इनके बाह्य अवलंबनोंको छोड़ने और विरागताके साधक कारणोंको मिलानेसे ही प्रतिमा धारण करनेका यथार्थ फल हो सकता है॥

सप्तम प्रतिमा तक अपने हाथसे कुल काम अपनी आजिविका संबन्धी कर सकता है। भोजन बनाना, सवारी आदि पर चढ़कर इधर-उधर जाना आदि आरम्भ कर सकता है परन्तु इस प्रतिमामें इन सब आरम्भोंका त्याग हो जाता है इसलिये जिसकी आरम्भ रूप प्रवृत्ति करनेकी इच्छा हो अथवा जो अपनी योग्यता आरम्भ त्याग निभने योग्य न देखे, सो सप्तम प्रतिमारूप ही रहे, जैसे अनुकूलता देखे, वैसा करे। जब देखे कि मैंने सर्व आरम्भका काम पुत्रादिकोंको सौंप दिया, मेरी आरम्भ करने रूप कषाय घट गई, मेरे पुत्र-पुत्रवधू आदि कुटुम्बी हर्षपूर्वक मुझे भोजनादि देकर निर्वाह करेंगे तथा साधर्मी भाई भोजन-पानादि सहायतामें सावधान रहेंगे, तब इस आरम्भत्याग प्रतिमाको धारण करे॥

आरम्भत्यागी घोड़ा, ऊंट, गाड़ी, बग्घी, पालकी आदि सर्व प्रकारकी सवारी तजे, ऐसा सभी शास्त्रोंका* मत है; क्योंकि इससे प्रमाद तथा हिंसाकी उत्पत्ति होती है। इसीमें मोटर, रेल, जहाज आदिका स्वतन्त्र या परतन्त्र सवारियां भी गर्भित हैं। ये सब सवारियाँ आरम्भत्यागीकी स्वतन्त्रता-तथा विरक्तताको मूलसे नाश करने वाली और धर्मका अपमान कराने वाली हैं॥

यद्यपि यहाँ सर्व प्रकारके वाहनोंकी सवारी करनेका निषेध है तथापि नदी पार होनेके लिए नाव पर बैठकर जानेका निषेध न जानना; क्योंकि नदी पार जाना अनिवारित है, इसमें प्रमादजनित दोष नहीं है। केवल हिंसाजनित अल्प दोष है, जिसके लिये प्रतिक्रमण विधानकी परिपाटी है॥

---

*अमितगति श्रावकाचार, गुरूपदेश श्रावकाचार, भगवती आराधना आदि।

आरम्भत्याग सम्बन्धी विशेष बातें ॥

(१) अपने पुत्र-पुत्री आदिकी सगाई, विवाहका आरम्भ आप स्वयं न करे, यदि कुटुम्बी आदि करें और सम्मति माँगें तो देना ठीक ही है। (२) वस्त्रादिक न अपने हाथसे धोवे न दूसरोंसे धुलावे, मलिन होनेपर दूसरे धारण कर लेवे। (३) स्थान-मकान आदि बनाने सम्बन्धी निष्प्रयोजन बहु आरम्भका* निषेधतो व्रतप्रतिमामें ही है, यहाँ अल्पारम्भ भी न करे (४) हलकी कीमतके सादे वस्त्र पहिने ५) दीपक न जलावे* (६) रात्रिको गमन न करे, व्रतप्रतिमा ही से देखकर चलना, रात्रिको कम गमनागमन करना, दीपक यत्याचारसे रखना आदि कार्य यथासम्भव हिंसा बचाकर किये जाते हैं; क्यों कि गृहारम्भ के कारण इन कामोंके किये बिना चल नहीं सकता, अब आरम्भ त्याग होनेसे इन कामोंकी जरूरत भी नहीं रही (७) पंखा न हिलावे (८) स्नान न करे, परन्तु पूजाके लिये अथवा स्पृश्यके छू जाने पर तथा सूतकमें शुद्धता निमित्त सामान्य रीतिसे स्नान करनेका निषेध नहीं (९) वैद्यक, ज्योतिष, धातु, रसादिक नहीं करे (१०) कुएसे जल भरकर या खानसे मिट्टी खोदकर न लावे ॥ (११) चौमासेमें* यहाँ वहाँ ग्रामान्तरमें भ्रमण न

---

*आवश्यकतासे अधिक शौक तथा बड़प्पनके वास्ते मकान न बनवाना ॥

*कोई २ कहते हैं कि स्वाध्यायके वास्ते दीपक और धर्मकार्यके निमित्त प्राशुक भूमि में गमन कर सकता है ॥

*आषाढ़की अष्टान्हिकाके आरम्भसे कार्तिककी अष्टाह्निकाके अन्त तक चौमासा कहलाता है। इसमें वर्षाके कारण त्रस जीवोंकी प्रचुर उत्पत्ति होती है ॥

करे, यद्यपि व्रत प्रतिमा हीसे हिंसाके भयसे बहुधा चौमासेमें यहाँ वहाँ ग्रामान्तरमें भ्रमण न करता हुआ एक ही ग्राममें यत्नाचार पूर्वक धर्म सेवन करताथा, परन्तु गृहारम्भके कारण सर्वथा नियमरूप नहीं था अब आरम्भ त्याग होने पर चौमासे भर एक ही स्थानमें रहकर धर्मध्यान करे। और गृहत्यागी तो व्रत प्रतिमासे ही इसका विचार रक्खे ॥

लाभ—असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, शिल्पादि षट् आजीवी कर्मों और पंचसून सम्बन्धी आरम्भ क्रियाओंके त्याग करनेसे हिंसादि-पापोंका अभाव होता, संयम रूप रहनेसे पुण्यबन्ध होता और सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि आरम्भ सम्बन्धी विकल्पोंके अभावसे आत्मकार्यमें चित्तवृत्ति भली-भांति स्थिर होने लगती है जो परम्परया आत्मकल्याणका कारण है।

नवम परिग्रहत्याग प्रतिमा

जो धार्मिक श्रावक रागद्वेषादि अभ्यन्तर परिग्रहोंकी मन्दता पूर्वक, क्षेत्र-वास्तु आदि दश प्रकारके बाह्य परिग्रहोंमेंसे आवश्यक वस्त्र और पात्रके सिवाय शेष सब परिग्रहोंको त्यागता है और संतोषवृत्ति धारण करता है, वह परिग्रहसे विरागी परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी है ॥

बाह्य परिग्रह दश प्रकारके हैं यथा—(१) क्षेत्र-खेत, बाग-बगीचा आदि (२) वास्तु—घर, महल, हवेली, किला आदि रहनेके स्थान (३) हिरण्य—चाँदीके गहने तथा रुपया आदि मुद्रा (४) सुवर्ण सोनेके गहने तथा मुहर, गिन्नी आदि (सुवर्णमुद्रा) (५) धन-गाय, भैंस, घोड़ा आदि पशु (६) धान्य—चावल, गेहूं आदि अनाज (७) दासी—नौकरानी, हजूरनी (८) दास—नौकर, चाकर, हजूरिया (९) कुप्य—

कपास, सन, रेशम आदि सर्व प्रकारके वस्त्र (१०) भांड—सर्व प्रकारके बर्तन।

इन उपर्युक्त दश प्रकारके बाह्य परिग्रहोंके त्यागनेसे मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद* ये १४ प्रकारके अंतरंग-परिग्रह भी क्रमशः मन्द पड़ने लगते हैं; क्योंकि बाह्य-परिग्रहका त्याग कारण रूप और अन्तरङ्ग परिग्रहकी मन्दता एवं अभाव होना कार्यरूप है॥

बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारका परिग्रह पापोत्पत्ति तथा आकुलताका मूल है ऐसा निश्चय कर बाह्यपरिग्रहको छोड़तेहुए अपने मनमें अति आनन्द माने और ऐसा विचार करे कि आज का दिन धन्य है जब मैं आकुलताओं और बन्धनोंसे छूटा॥

प्रकट रहे कि बाह्य परिग्रहका त्याग अंतरंग मूर्छाके अभावके लिये किया जाता है। यदि किसीके पास बाह्य परिग्रह कुछ भी न हो और अंतरंगमें मूर्छा विशेष हो, तो वह परिग्रही है; क्योंकि यथार्थमें मूर्छा ही परिग्रह है। अतएव भेदविज्ञानके बलसे अंतरंग मूर्छाको मन्द करते हुए बाह्य-परिग्रह छोड़ना चाहिये, तभी परिग्रहत्यागजनित निराकुलित-सुखकी प्राप्ति होसकती है॥

परिग्रहत्याग प्रतिमावाला केवल शीत-उष्णकी वेदना दूर करनेके निमित्त अल्प मूल्यके सादे वस्त्र अन्य सब धन धान्यादि परिग्रह मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदनासे त्यागे। छोटे पना (अर्ज)की ६ हाथ लम्बी (समाधितन्त्र) धोती पहिननेको रक्खे, एक धोती तथा पछेवड़ी ओढ़नेको रक्खे, शिर पर बाँधने को एक अंगोछा (पोत्या) तथा नरम पूँजणी या एक छोटा

---

*किसी २ ग्रन्थमें एक ही वेद कहकर शेष दो वेदोंके स्थानमें राग, द्वेष कहे हैं॥

सफेद रुमाल (अलफी) पृथ्वी परके आगन्तुक जीवोंकी रक्षा (अलग करने)के निमित्त रक्खे ॥ बिस्तर न रक्खे, चटाईपर सोवे । अल्पमूल्यका तांबे या पीतलका जलपात्र तथा एक भोजनपात्र रक्खे (भगवती आराधना) ॥ घरका भार पंचोंकी साक्षीपूर्वक पुत्र-भाई-भतीजे आदिको, जो गृहस्थी चलाने योग्य हों, सौंपे । जो दान-पुण्य करना हो, करे और सबसे क्षमाभाव-पूर्वक धर्मसाधनकी आज्ञा लेवे ॥ और ऐसा निश्चय करे कि मेरा इनका कुछ भी सांसारिक सम्बन्ध नहीं रहा, अन्य साधर्मियों सरीखे इनको भी समझे, अपना पराया घर एकसा समझे, भोजन अपने या पराये घर न्योंताहुआ जाकर करे ॥

परिग्रहत्याग प्रतिमा सम्बन्धी विशेष बातें ॥

परिग्रहत्यागीको इन बातोंपर भी ध्यान देना चाहिये । (१) स्त्री-पुत्रादि औषधि, आहार-पान आदि देवें, वस्त्रादि धोवें तथा शारीरिक सेवा-टहल करें तो ठीक; न करें तो आप उनपर दबाव न डाले और न अप्रसन्न हो ॥ (२) जो गृहत्यागी हो तो कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि हानिका सूआ सूतक न माने, परन्तु जो गृहवासी हो तो गृहस्थीमें शामिल होनेके कारण सूआ सूतक माने* (३) अव्रतीसे+टहल न करावे (४) लौकिक वचन न कहे (५) रागादियुक्त मकान-मठ आदिमें न रहे (६) नौकर-चाकर न रक्खे (७) परिग्रहत्यागीको द्रव्यपूजनकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि द्रव्यपूजनमें 'मुख्यता त्यागधर्मकी है सो अब धनादि परिग्रहका सर्वथा त्याग होगया, अतएव भावपूजन ही करे (८) जिस प्रकार अशुद्धता और अमर्यादपूर्वक वर्तमान

---

*जान पडता है कि व्रत प्रतिमासे लेकर किसी भी प्रतिमामें गृह-त्यागी होनेपर उसके कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि-हानिका सूआ सूतक नहीं माना जाता; क्योंकि अब उसके कुटुंब नहीं रहा ॥

+जिसके अष्ट-मूल गुणोंका धारण न हो, सो अव्रती जानना ॥

बड़ी २ जेंवनारोंमें रसोई बनती है ऐसी रसोई प्रथम प्रतिमावाला भी न जीमे, क्योंकि उसमें पंच उदम्बर, तीन मकारका दोष आता है हां! यदि मर्याद और शुद्धतापूर्वक बने, तो नवम प्रतिमावाला तक न्योंता हुआ जाकर जीम सकता है (६) बाली, अँगूठी आदि सर्वप्रकारका गहना तजे। (१०) बिना दिया जल, मिट्टीभी न लेवे (अष्टमी प्र० में हिंसा-आरंभके कारण लेनेका त्याग था, यहां परिग्रह अपेक्षा निषेध है)॥

लाभ—परिग्रहसे आरंभ, चिन्ता, शोक, मदादि पाप उपजते हैं, मूर्छा (चित्तकी मलिनताका) कारण है। अतएव सन्तोष निमित्त मूर्छाको घटाना और परिग्रह त्याग करना आवश्यक है। परिग्रहत्याग प्रतिमाके धारण करनेसे गृहस्थाश्रम सम्बन्धी सर्व भार उतरजाता है, जिससे निराकुलताका सुखानुभव होने लगता है॥

दशवीं अनुमति-त्याग प्रतिमा॥

जो पुरुष आरंभ-परिग्रहकी अर्थात् सांसारिक सावद्य-कर्म विवाहादिक तथा गृह बनवाने, वनिज, सेवा आदि कामोंके करनेकी सम्मति व उपदेश नहीं देता, अनुमोदना नहीं करता, समबुद्धि है। वह श्रावक अनुमतित्याग प्रतिमाधारी कहलाता है॥

नवमी प्रतिमा तक स्त्री-पुत्रादिको गृहस्थी सम्बन्धी पंच सूनों, षट आजीवी कर्मों, मिष्ट भोजन व विवाहादि करनेकी सम्मति देता था, अनुमोदन करता था, सो अब नहीं देवे और न उनके किये हुए कामोंकी "भला किया या बुरा किया" आदि अनुमोदना करे॥

उदासीनता पूर्वक स्त्री-पुत्रादिसे अलग निज घर, चैत्यालय अथवा मठ-मंडपादिमें रहकर धर्मध्यान करे, कुटुम्बी अथवा अन्य श्रावकोंके घर जीमनेके समय बुलानेपर भोजन कर आवें,

न्योंता न माने, अपने अंतराय कर्मके क्षयोपशमके अनुसार कडुवा, खारा, खट्टा, अलूणा जैसा भोजन प्राप्त हो, उसीमें सन्तोष करे। राग द्वेष न करे। भला बुरा न कहे॥

किसीके पुत्रजन्म, द्रव्यलाभ, विवाह आदि शुभकार्योंका अथवा मारना, पीडा देना, बांधना आदि अशुभ कार्योंका चितवन न करे। लौकिक (पाप) कार्योंका उपदेश वा आदेश न करे। ईर्यासमितिपूर्वक गमन करे भाषासमितिसहित वचन बोले। यद्यपि पांचों समितियोंका विचार व्रत प्रतिमासे ही यथायोग्य रक्खा जाता है तथापि यहांसे इन दो समितियोंपर और भी विशेषरूपसे ध्यान देवे॥

गृहत्यागी ब्रह्मचारी गृह त्यागनेपर और गृहवासी, दशवीं प्रतिमा धारण करनेपर कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धिहानिका सूआ-सूतक न माने; क्योंकि वह अब गृहस्थपनेसे अलग होगया॥

प्रगट रहे कि ऐलक-क्षुल्लक कहीं भी जावे तो सदा पीछी, कमंडल साथ रक्खे; क्योंकि ये उसका चिन्ह (बाह्य मुद्रा) है। उसी प्रकार दशवीं प्रतिमावाला जीवोंकी रक्षा निमित्त नरम पूंछणी या रूमाल और शौच निमित्त जलपात्र रक्खे। पहिरने वा ओढनेके लिये छह २ हाथ वस्त्र रखनेकी आज्ञा है। चटाई पर सोवे॥

ग्यारहवीं प्रतिमामें उद्दिष्ट त्याग होनेके कारण तथा अचानक ही आहार (भिक्षाके) लिये निकलनेके कारण इनकी भिक्षुक संज्ञा कई ग्रंथोंमें कही गई है। सागारधर्मामृत और धर्म-संग्रह श्रावकाचारमें भोजनमें अनुमति त्याग होनेके कारण दशवीं प्रतिमावालेको भी भिक्षुक संज्ञा कही है। वह ठीक ही है; परन्तु यथार्थमें सच्चे भिक्षुक मुनि ही हैं॥

लाभ—गृहबारा सम्बन्धी आरंभकी अनुमोदना करनेसे भी पापका संचय और आकुलताकी उत्पत्ति होती है, अतएव

अनुमति-त्याग होनेसे पंच-पापका नव-कोटिसे त्याग होकर पापास्रव-क्रियाएँ सर्वथा रुकजाती हैं। पुनः आकुलताके अभाव होनेसे चित्तकी विकलता दूर होती, जिससे मन वश होकर इच्छानुसार धर्मध्यानमें शीघ्र स्थिर होने लगता है॥

ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा॥

जो (गृहवासी) अनुमतित्यागी श्रावक, चरित्रमोहके मन्द होजानेसे उत्कृष्ट चारित्र अर्थात् दर्शनाचार-ज्ञानाचार-चारित्राचार-तपाचार और वीर्याचार इन पंचाचारोंकी प्राप्ति एवं रत्नत्रयकी शुद्धता निमित्त, पिता-माता भाई-स्त्री-पुत्रादि परिजनसे क्षमा कराकर, वनमें जानेकी आज्ञा ले गुरुके निकट जाकर उद्दिष्टत्याग प्रतिमा (प्रतिज्ञा) धारण करता है, वह उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारक कहलाता है॥

यदि कालदोषसे निर्ग्रंथ-गुरुका समागम न मिले तो श्रीजिनेन्द्रिदेवकी प्रतिमाके सम्मुख साधर्मियोंकी साक्षीपूर्वक प्रतिज्ञा लेवे। इसी प्रकार जो पुरुष दशवीं-प्रतिमातक गृहवासी रहा हो, वह ऊपर कहे अनुसार कुटुम्बियोंसे भी आज्ञा लेवे और जिसने पहिले ही गृहत्याग कर दिया हो, उसे कुटुम्बियोंसे क्षमा कराने वा आज्ञा लेनेकी आवश्यकता नहीं। सिवाय इसके ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि आपको वैराग्य उत्पन्न हो और कुटुम्बी आज्ञा न दें तो उद्दिष्ट-त्याग या मुनिव्रत अंगीकार न कर सके, किन्तु आज्ञा मांगने और उनको भी संसार-शरीर-भोगोंकी अनित्यता बताने और उनसे राग घटानेकी पद्धति है, सो जैसा देखे वैसा करे॥

उद्दिष्ट आहार त्यागी मन-वचन-काय, कृत-कारित अनुमोदना सम्बन्धी दोष रहित, भिक्षाचरणपूर्वक, याचना रहित आहार

ग्रहण करे। अपने निमित्त* बनाया हुआ, अभक्ष्य, सचित्त तथा सदोष आहार न ले। यमरूप हरी तथा रसादिकके त्यागका परिपालन करे। पानी बरसतेमें आहारको नहीं निकले, क्योंकि इससे ईर्यापथ शुद्धि नहीं पलती तथा आहारमें अतिगृद्धता सूचित होती है। आहारको जावे तब न तो जल्दी २ चले, न धीरे २। समभावसे चले। इधर-उधर न देखे, नीची दृष्टिसे जीव-जन्तुओं की रक्षा करता हुआ मौन-सहित, ईर्या समिति पालता हुआ जावे॥

यद्यपि सागारधर्मामृतमें उत्कृष्ट श्रावक होनेकी अपेक्षा अनुमतित्यागीको भी अतिथि कहा है। तथापि उत्कृष्ट श्रावक एवं उद्दिष्टत्यागी एलक-क्षुल्लकसेही यथार्थमें अतिथिपना आरम्भहोता है। क्योंकि इनके आहार तथा गमनागमनकी तिथि नियत नहीं रहती। ये उद्दंड आहार-विहार करते हैं, इसीलिये अचानकही भोजनके लिये निकलते हैं। यथार्थमें उत्कृष्ट अतिथि मुनिही हैं क्योंकि अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्वोंमें प्रोषधोपवासका भी उनके नियम नहीं, इसलिये वे सार्थक नामधारक अतिथि हैं॥

उद्दिष्टत्यागी जब आहारके निमित्त निकले और द्वारापेक्षण करता हुआ श्रावक यथायोग्य नवधाभक्ति एवं विधिपूर्वक पडगाहे तो उद्दिष्टत्यागीका उचित हैकि दाताका उत्साह वा योग्य भक्तिभाव देखकर योग्य क्षेत्र-कालमें-शुद्ध लघु भोजन शान्तभावपूर्वक करे॥

जल—भोजन एक ही बार लेवे, दांतौन कुरला भी न करे,

---

*यदि मालूम पड़जाय कि गृहस्थने यह भोजन मेरे ही निमित्त बनाया है तो ग्रहण न करे और अन्तराय माने। इसी प्रकार पीछी, कमंडल, वसतिका भी अपने निमित्त बनाई हुई जाने, तो ग्रहण नहीं करे॥

जो अंतराय होजायतो उस दिन उपवास करे। मुनि संघमें या अपने समान त्यागियोंके संघमें रहे, अकेला भ्रमण न करे, क्यों कि दूसरे संयमीकी सहायताके बिना व्रत दूषित होजाना संभव है। सांसारिक विषय-कषायोंके कारणोंसे अलग वन-मठ-मण्डप-वस्तिकादि एकान्तस्थानमें रहे। वस्तीमें न रहे। रात्रिको एकान्त-स्थानमें ध्यान धरे॥

शौचके निमित्त अल्प-मूल्य का तथा चौड़े मुंहका कमंडल रक्खे, जिसमें धोने, साफ करनेके लिये हाथ अच्छी तरह जा-सके। भोजन-पात्र साधारण रक्खे, जिसमें न शौकीनी मालूम पड़े न बिलकुल लघुता। भूमि, शरीर, संस्तर पुस्तकादिको शोधने तथा जीवोंकी रक्षा निमित्त पिच्छिका (पीछी) और पढ़नेके लिये आवश्यकीय शास्त्र-पुस्तकादि रक्खे॥

माथा उघाड़ा रक्खे। सोनेके लिये चटाई, बिछौना आदि न रक्खे क्योंकि ये पदार्थ द्रव्य-साध्य हैं; प्रमाद, भय, आकुलता तथा हीनताके उत्पन्न करनेवाले हैं। प्राशुक भूमि, काष्ठके पटिये या पाषाणकी शिला पर अर्धरात्रि पीछे अल्प निद्रा ले। बीमारी आदिमें अन्य कोई चटाई बिछा देवे, या पियारका संस्तर कर देवे, तो उसपर लेटे॥

श्रावक दशामें प्रतिमायोग अर्थात् नग्न होकर ध्यान धरना वर्जित है, इसी प्रकार पीयूष वर्ष श्रावकाचारमें वीरचर्या अर्थात् कठिन कठिन आखण्डी लेनेका भी निषेध किया गया है। रात्रिको एकान्तस्थानमें प्रतिमा योग धार ध्यान कर सकता है (वसुनन्दि श्रा०)॥

इस उद्दिष्टत्याग प्रतिमाके दो भेद हैं (१) क्षुल्लक (२) ऐलक या एलक। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

क्षुल्लक

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा स्पर्श-शूद्रक-क्षुल्लकवृत्ति धारण करनेके पात्र हैं। शूद्र-क्षुल्लक लोहेका और उच्चवर्णका क्षुल्लक पीतलका पात्र रक्खे*। यहाँ कोई कहे कि शूद्र-क्षुल्लक लोहेका पात्र रक्खेसो ठीक है, परन्तु उच्च कुलवालेको पीतलके पात्र रखनेकी क्या आवश्यकता है? उसका समाधान–प्रथम तो इस प्रकारके पात्र रखना द्विजवर्ण और शूद्रवर्णकी पहिचानके चिन्ह हैं। दूसरे यदि उत्तम वर्णवाला पात्र न रक्खे और दातार के बर्तनमें ही भोजन करे और बर्तन झूठा छोड़ आवे, तो वह बर्तन मंजनेके लिए जब चाहे तबतक पड़ा रहे; जिससे त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होना सम्भव है। इसलिये वह अपने पात्रमें ही भोजन करके अपने हाथसे ही तत्काल माँजकर लेता आवे, दूसरोंसे न मंजावे। ऐसा सागारधर्मामृतादि श्रावकाचारोंमें कहा है॥ इससे दोनों प्रकारके क्षुल्लकोंकी पात्र रखना आवश्यक है॥

सफेद वस्त्रकी लंगोटी लगावे, खंडवस्त्र अर्थात् एक पन्ने की ३ हाथ लम्बी पिछोड़ी ओढ़नेको रक्खे, जिससे शिर ढंके तो पाँव उघड़े रहें और पाँव ढंके तो शिर उघड़ा रहे। लंगोटी बाँधनेके लिये डोरेकी करधनी (कणगती) कमरमें रक्खे। कमंडल, पीछी और पठन-पाठनके लिये शास्त्र रखना योग्य ही है॥

केश दूसरे, तीसरे, चौथे महीने उस्तरा (छुरा) से मुडावे

---

*इस प्रतिमामें उत्तमवर्ण और शूद्रकी पहिचानके लिये लोह पात्र तथा पीतल-पात्रका चिन्ह होनेसे प्रगट होता है कि यहाँ द्विज क्षुल्लक यज्ञोपवीत नहीं रखता होगा, दशवीं प्रतिमा तक पहिचानता होगा। इसी कारण यहाँ यज्ञोपवीतके चिन्हके अभावमें पात्रका चिन्ह कहा गया है।

या कतरनी से कतरावे, अथवा लोंच करे। डाढ़ी, मूँछ नहीं रक्खे। कांख तथा नीचेके बाल न कतरावे न बनवावे (वसुनन्दि श्रा०) ॥

सागारधर्मामृतादि श्रावकाचारोंमें क्षुल्लकके आहारके दो भेद किये है (१) एक भिक्षानियम जो एक ही घर भोजन करना ॥ (२) अनेक भिक्षानियम—जो ५ घर या अधिक घरों-से भिक्षापात्रमें। भिक्षा लेकर जब उपर भरने योग्य हो जाय, तब आखिरी घर प्राशुक जल लेकर भोजन कर लेना और पात्र माँज लेकर चले आना। सो ठीक ही है, क्षुल्लक उच्चकुली व स्पर्श शूद्र दोनों प्रकारके होते हैं। उच्चकुलवाला एक ही घर भोजन करे और शूद्र कुलवाला पाँच या अधिक घरका भोजन पात्रमें ले, एक जगह कर सकता है, ऐसा ज्ञानानन्द श्रावकाचार में कहा है और यह बात वर्तमान कालकी मर्यादाके अनुकूल भी है।

सात मुहूर्त दिन चढ़े आहारको जावे—मार्गमें खड़ा न रहे, न अति शीघ्रतासे चले न अति मन्दता से। प्रगट रहे कि मुहूर्त २ घड़ी अर्थात् ४८ मिनिटका होता है इसलिये इस हिसाब से ७ मुहूर्त के ५॥ घण्टे होते हैं। सुबहसे ५॥ घण्टे बाद अर्थात् ११॥ बजे आहारको जाना असम्भव है, क्योंकि ये उनकी मध्यान्हकी सामायिकका काल है। आहारको सामायिकके पेश्तर या पीछे जाना योग्य है। इसलिये इस दोषको दूर करनेके लिये यदि वहाँ मुहूर्तका प्रयोजन घड़ी लिया जाय तो ठीक हो सकता है अर्थात् ९ बजेके लगभग देव वन्दना करके आहारको जावे, १० बजे तक पहुंचे और १०॥ या ११ बजे तक लौट आकर मध्यान्हकी सामायिक करे।

यहाँ कोई कहे कि सात मुहूर्त दिन चढ़े का अभिप्राय दो पहरकी सामायिकके पीछे आहारको जानेका है, तो यह प्रश्न

उत्पन्न होता है कि यदि ऐसा होता तो शास्त्रोंमें सुबह से ९-१० मुहूर्त पीछे आहारको जानेका स्पष्ट उल्लेख होता, सो ऐसा कहींभी नहीं कहा। जहां तहां मध्यान्ह की देवबंदना करके जाना कहा है सो मध्यान्हकाल ९ बजे से ३ बजे तक कहलाता है। इसप्रकार ७ मुहूर्त दिन चढे आहारको जाना किसी तरह भी संभव नहीं होता। सिवाय इसके गृहस्थोंके आहारका समय भी तो प्रातःकाल १०-११ बजेके बीच है। उसी समय धर्मात्मा गृहस्थ पात्र-प्राप्तिके लिये द्वारापेक्षण करते हैं। इसलिये गृहस्थोंके भोजनके पूर्वही पात्रदान होना संभव है। भोजन किये पीछे तो गृहस्थ लोग प्रायः काम-धंधों में लग जाया करते हैं॥

कई ग्रंथोंमें अपरान्हकाल अर्थात् दो पहरके पीछे चार बजेभी आहार लेनेको जानेकी आज्ञा है, सो गृहस्थोंके ब्यालू अर्थात् अपरान्हकालके भोजनके पूर्व संभव है। भावार्थ—जो प्रातःकाल भिक्षानिमित्त न गया हो तो अपरान्ह कालमें जावे॥

भिक्षाको जावे तब गृहस्थके आंगने तक जावे, जहांतक सब लोग बिना रोक-टोक जा सकते हों, दरवाजा बन्द हो तो खोले नहीं। दाता देखलेवे और पडगाहेतो ठीक; नहींतो तत्काल दूसरे घर चला जाय। भोजन निमित्त किसी प्रकार का इशारा या प्रार्थना न करे, दीनता न दिखावे। यदि अंतराय हो जाय तो उस दिन उपवास करे॥

श्रावक विधिपूर्वक पडगाहे तो गृहमें जाकर हाथ-पांवसे शुद्ध हो, यथास्थान बैठ निज पात्रमें एषणा समिति पूर्वक अंतराय* टाल भोजन करे। पात्र मांज, लेकर अपने स्थान आवे और लगे हुए दोषों की गुरूके निकट आलोचना करे॥

---

* अंतराय बिना थालीमें अन्न न छोडे।

चारों पर्वोंमें पूर्व-प्रतिज्ञावत् प्रोषधोपवास अवश्य करे (सागारधर्मामृत.)। यहां शंका होती है कि अतिथिका लक्षण ऐसा कहा है कि जिसके पर्वमें प्रोषधोपवास करनेका नियम न हो, आहार विहारकी तिथि नियत न हो, वह अतिथि है (धर्मसंग्रह श्रा.)। फिर अनुमतित्यागी तथा क्षुल्लक, ऐलकको अतिथि कहते हुए भी पर्वमें प्रोषधोपवास की अवश्यकता बताई है सो यह पूर्वापर विरोध कैसा? उसका समाधान—यथार्थमें उत्कृष्ट अतिथि मुनि ही हैं, उनके वृत्तिपरिसंख्यान आदि कठिन २ तप होते हैं, इसलिये वे अष्टमी चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करनेके लिये बाध्य नहीं; परन्तु आरम्भिक अतिथि उद्दिष्टत्यागीको कठिन २ आखडी लेने व तप करनेकी आज्ञा नहीं है इसलिये ये प्रोषधोपवास करनेके लिये बाध्य हैं॥

षट्आवश्यक नित्य अवश्यक पाले। ईर्या समिति रूप चले। भाषा समिति रूप बोले। विकथा न करे, धर्मोपदेश देवे, शास्त्र पढे अथवा मौन रक्खे, आत्मचिंतवन करे, शक्तिके अनुसार तप करे। अपने बैठने आदिके स्थानको कोमल उपकरणसे प्रतिलेखन करे। नहावे-धोवे नहीं। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ इन दश प्रकारके ऋषियोंकी वैयावृत्ति करे॥

ऐलक॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों द्विज (उत्तम) वर्ण ही ऐलकवृत्ति एवं मुनिपद धारण करनेके अधिकारी हैं। शूद्रवृत्ति धारण नहीं कर सकते; क्योंकि उनके ऐसे उत्कृष्ट परिणाम नहीं हो सकते। शास्त्रों में ऐलकका दूसरा नाम आर्य भी कहा है, और आर्य उत्तम वर्णको कहते हैं, इससे भी सिद्ध होता है कि

उत्तम तीनवर्ण ही ऐलक पद धारण कर सकते हैं। ऐलक सदा मुनिपद धारण करनेका अभिलाषी रहता है।

ऐलक कोपीन (लंगोटी) लगावे, उसके बाँधनेको कमरमें डोरा (कणगती) रक्खे, दयानिमित्त पीछी और शौच निमित्त कमण्डलु सदा साथ रक्खे। बैठकर कर-पात्रसे अथवा एक हाथ में गृहस्थ (दाता) भोजन रखता जाय और बैठा हुआ ऐलक दूसरे हाथ से उठा २ कर भोजन करता जाय, खड़े होकर भोजन न करे; क्योंकि खड़े-भोजन करनेकी विधि मुनियोंके लिये है, श्रावकके लिये नहीं है॥

डाढ़ी, मूंछ तथा माथेके बालोंका उत्कृष्ट दो माह, मध्यम तीन माह और जघन्य चार माहमें लौंच करे, इससे अधिक दिनोंके लिये शास्त्राज्ञा नहीं है।

आहारको जाय, तब ईर्यापथ-शुद्धि पूर्वक जाय, गृहस्थके आंगनमें जाय "अक्षयदान" कहे (ज्ञाना. श्राव.)। गृहस्थ पडगाहे तो ठीक, नहीं तो अन्य गृह चला जाय* यदि अन्तराय हो जाय तो उस दिन उपवास करे। ऐलक एक ही घरका आहार ले (समाधि-शतक, प्रश्नो. श्रा.)। इससे भी सिद्ध होता है कि द्विजवर्णको एक-भिक्षा-नियम अर्थात् एक ही घरका भोजन लेना योग्य है॥

चारों पर्वोंमें उपवास करे। दिवसमें प्रतिमायोग अर्थात् नग्न होकर ध्यान न करे। रात्रिको नियम पूर्वक प्रतिमायोग धारण करे॥

सागारधर्मामृत तथा पीयूषवर्ष श्रावकाचारमें इनको भी वीरचर्या करनेका निषेध किया है अर्थात् जान-बूझकर कठिन २

*किसनसिंह-क्रियाकोषमें कहा है कि ऐलक-क्षुल्लक पाँच घरसे अधिक गोचरीके लिये नहीं जाय॥

परीषह उपसर्गके सामने न जावे । सन्मुख आये उपसर्ग-परीषहको जीते। त्रिकाल-योग न धरे अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा, शीत ऋतुकी परीषह जीतनेके सन्मुख न हो और न कठिन २ आखडी करे॥

सदा आत्मध्यानमें तत्पर मुनि-संघमें रहे। उद्दिष्ट-त्यागीको शास्त्रोंमें मुनिका लघुभाई कहा है। अतएव ग्यारहवीं प्रतिमाका अभ्यासकर अवश्यमेव मुनिव्रत अंगीकार करना योग्य है॥

लाभ—उद्दिष्टत्याग करनेसे पांचों पाप तथा परतन्त्रताका सर्वथा अभाव हो जाता है, इस प्रतिमाके अन्तमें अणुव्रत, महाव्रतोंको स्पर्शने लगते हैं। व्रत प्रतिमासे जिस प्रकार इन्द्रिय-में मूर्छा मन्द होती जाती और आरम्भ-परिग्रह घटते जाते हैं, वैसा २ साम्यभाव बढ़ता हुआ यही उत्कर्ष अवस्थाको प्राप्त होकर मानो सामायिक-संयमके स्पर्शनेको हाथ फैलाता है। निराकुलता-जनित स्वानुभवका आनन्द आने लगता है। इस प्रकार श्रावकधर्मके पालक जीव नियमसे सोलहवें स्वर्ग तक जाकर महर्द्धिक देव अथवा इन्द्रादिका उच्चपद पाते हैं, क्योंकि जिस जीवके देवायु-सिवाय अन्य आयुका बन्ध हो जाता है उसके परिणामोंमें श्रावकव्रत धारण करने योग्य निर्मलता होती ही नहीं और जो श्रावकधर्मके धारक होते हैं, उनके नियमसे देवायुका ही बन्ध होता है। अतएव व्रती श्रावक निश्चयसे देव पर्याय पाकर वहाँसे चय, मध्यलोकमें चक्रवर्ती, मण्डलीक आदि उत्कृष्ट विभवयुक्त होकर मुनिव्रत धारणकर मोक्षको प्राप्त होता है॥

(नोट) बहुधा देखा जाता है कि कितने ही भोले भाई अंतरंगमें आत्मकल्याणकी इच्छा रखते हुए भी बिना तत्त्वज्ञान प्राप्त किये, दूसरोंकी देखादेखी श्रावकधर्मकी ग्यारह-प्रतिमाओं

में कही हुई प्रतिज्ञाओंमेंसे कोई दो, चार प्रतिज्ञायें अपनी इच्छानुसार नीची-ऊंची, यद्वा-तद्वा धारणकर त्यागी बन बैठते हैं और मनमानी स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं जिससे स्व-पर-कल्याण की बात तो दूर ही रहे, उल्टी धर्मकी बड़ीभारी हंसी व हानि होती है। ऐसे लोग "आप डुबंते पांडे, लै डूबें यजमान" की कहावत के अनुसार स्वतः धर्म-विरुद्ध प्रवृत्तिकर अपना अकल्याण करते और दूसरोंको भी ऐसा ही उपदेश दे उनका अकल्याण कराते हैं। अतएव आत्म-कल्याणेच्छु-सुज्ञ पुरुषोंको उचित है कि पहले देव-गुरु-धर्मका स्वरूप अच्छी तरह जानें। पंच-परमेष्ठीका स्वरूप पहिचानें। छः द्रव्य, सात तत्त्वोंके नाम, स्वरूपको भली-भांति समझें। आत्माके विभाव स्वभावोंको जानें। विभाव तजने और स्वभावकी प्राप्तिके लिये कारणरूप श्रावक तथा मुनिव्रतकी साधक बाह्य-अन्तरङ्ग क्रियाएँ वा उनके फलको जानें, पीछे यथाशक्य चारित्र अंगीकार करें। भावार्थ—श्रावकधर्मकी ११ कक्षाओं (प्रतिमाओं)का अभ्यास करके पीछे मुनिव्रत धारण कर कर्मोंका नाश करें और परमात्मा न स्वरूपानन्दमें मग्न हों॥

साधक—श्रावक वर्णन

व्रती श्रावक (नैष्ठिक) सदा सल्लेखना (समाधि) मरण करनेके उत्साही व अभिलाषी रहते हैं, इसलिये विषयोंकी मूर्छा तथा कषायोंकी वासना मन्द करते हुए यथा सम्भव पूर्णरीतिसे भली-भांति व्रत पालन करते हैं। वहां जो संसार-शरीर-भोगोंसे विरक्त होते हुए इन्द्रियोंके विषय तथा कषाय तजकर मन-वचन-कायसे निज-स्वरूपको साधते हुए मरण करते हैं वे साधक श्रावक कहलाते हैं॥

प्रगट रहे कि मरण पाँच प्रकारके हैं। (१) पंडित-पंडित

मरण—जो केवली भगवानके होता है अर्थात् जिस मरणके होने पर फिर जन्म-धारण नहीं करना पड़ता। (२) पंडित मरण—जो मरण मुनियोंके होता अर्थात् जिस मरणके होने पर दो-तीन भवमें मोक्षकी प्राप्ति होती है। (३) बाल-पंडित मरण —जो देशसंयमी (श्रावक)के होता है और जिसके होने पर सोलहवें स्वर्ग तककी प्राप्ति होती है। (४) बालमरण—जो अविरत सम्यग्दृष्टिके होता और बहुधा स्वर्गकी प्राप्ति कराता है। (५) बालबाल मरण—जो मिथ्यादृष्टीके होता है और चतुर्गति भ्रमणका कारण है ॥

हम कह चुके हैं कि ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे हर कोई भी प्रतिमाधारी समाधिमरण कर सकता है उसका मरण बालपंडित मरण कहाता है। यहां साधक-श्रावकका वर्णन है इसी कारण इस बालपंडित मरणका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है ॥

सल्लेखनामरण, समाधिमरण, सन्यासमरण, ये तीनों एकार्थवाची हैं। भले प्रकार काय-कषायके कृश करनेको सल्लेखना कहते हैं। चित्तको शांत अर्थात् रागद्वेषकी मन्दतायुक्त करना समाधि कहलाती है। अपनी आत्मासे पर-पदार्थोंको भले प्रकार त्यागना सो सन्यास कहलाता है। अतएव काय-कषायको कृश करते हुए, स्व-स्वरूपका ध्यान करते हुए, शांतचित्तयुक्त शरीर-रूपी गृहको त्यागना ही सुमरण है। इस प्रकार सुमरण करने वाले भव्य पुरुष ही अपने साधे हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्मको साथ लेजाते हैं और अधिकसे अधिक सात-आठ भवमें मुक्ति प्राप्तकर लेते हैं। इसके विपरीत जो पुरुष ऐसी उत्तम सर्व योग्यताको पाकर समाधिमरण नहीं करते, वे मृत्युरूपी कल्पवृक्षको पाकर भी असावधान रह संसार-सागरमें डूबते हैं ॥

जब तक शरीर सर्व प्रकार धर्मसाधनके योग्य रहे, तब तक योग्य आहार-विहारादि द्वारा उसे नीरोग रखते हुए उससे धर्म-साधनमें सहायता लेता रहे, कदाचित् कर्मोदयसे कभी कोई रोग आजाय, तो योग्य औषधि सेवन करे, परन्तु शरीरकी रक्षाके निमित्त अन्याय, अभक्ष्य रूप एवं पदस्थ के अयोग्य उपचार कदापि न करें, क्योंकि इससे अपने रत्नत्रयात्मक आत्मिकगुणों की हानि होती है। जब देखे कि ऐसा कोई असाध्य-रोग होगया है, जो धर्मसाधनका बाधक एवं नष्ट करनेवाला है, तो शरीरको अपकारी नौकरकी तरह समझ, निर्ममत्व होता हुआ उसे छोड़ने के लिए तत्पर हो। नाश होने योग्य, अपवित्र शरीरके निमित्त अपने धर्मको हानि कदापि न पहुँचावे और सावधानी पूर्वक समाधिमरण करे। क्योंकि शरीर तो फिर भी मिल सकता है परन्तु नष्ट हुआ रत्नत्रय-धर्म फिर मिलना दुर्लभ है॥ जो आत्म-हितैषी रत्नत्रयधर्मकी रक्षाके लिए शरीरकी कुछ परवा नहीं करते; उनका समाधिमरण स्तुति योग्य है। क्योंकि जो फल बड़े २ कठिन व्रत-तप करनेसे प्राप्त होता है, वही समाधि-मरण करनेसे सहजमें प्राप्त हो जाता है॥

कोई २ अज्ञानी पुरुष समाधिमरणका अभिप्राय अच्छी तरह समझे बिना धर्मसाधनके योग्य शरीर होते हुए और भले प्रकार धर्मसाधन होते हुए भी अज्ञान या कषायवश विष, शस्त्रघातादि से मरते, अग्निमें पड़ते, पर्वतसे गिरते, जीते हुए जमीनमें गढ़कर समाधि लेते, झंझापात करते, स्त्रियां सती होतीं अर्थात् मरे हुए पतिके साथ जीतो जलतीं इत्यादि अनेक प्रकार अनुचित रीतिसे प्राण त्यागनेमें धर्म समझते हैं। इस प्रकार आत्मघात करना निंद्य और नरकादि कुगतिका ले जानेवाला है। हां! जो ज्ञानी-पुरुष मरणको सन्मुख होते हुए या चारित्र-भ्रष्ट होनेके कारण प्राप्त होते हुए निःकषाय भावपूर्वक शरीर त्याग करते हैं उनका

ऐसा सुमरण अज्ञान रागादि कषायोंके अभावसे आत्मघात नहीं है किन्तु ज्ञानपूर्वक मन्द कषायसहित होनेसे वर्तमानमें सुखका और परम्परया मोक्षप्राप्तिका कारण है ॥

समाधिमरण दो प्रकारसे होता है। सविचारपूर्वक और अविचारपूर्वक ॥

(१) सविचार समाधिमरण—जब शरीर अति वृद्ध होजाय अर्थात् चारित्रको हानि पहुंचानेवाला बुढ़ापा आजाय, दृष्टिअति मन्द हो जाय, पांवसे चला न जाय। ऐसा असाध्यरोग होजाय, जिसका इलाज होना असम्भव हो। मरणकाल अति निकट आ जाय। ऐसी दशाओंमें काय-कषायको कृश करते हुए अन्तमें चार प्रकार आहार त्याग धर्म-ध्यानसहित मरण करना, सो सविचार समाधिमरण कहलाता है ॥

(२) अविचार समाधिमरण—जब बिना जाने अचानकही देव, मनुष्य, तिर्यंच अथवा अचेतन कृत उपसर्ग आजाय। घर में आग लग जाय, निकलनेका कोई उपाय न रहे। बीच समुद्रमें जहाज डूबने लगे, सांप काटखाय, इलाजका कोई अवसर न हो। महावनमें मार्ग भूल जाय, जहांसे बाहिर निकलना असम्भव हो। चारित्र-नाशक शत्रु या प्राणघातक डाकू घेर लें, बचनेका कोई उपाय न रहे। अचानक दुर्भिक्ष आजाय, अन्न-पान न मिले। ऐसे अचानक कारणोंके आने पर अपने शरीरको तेल-रहित दीपकके समान स्वयमेव विनाशके सम्मुख आया जान सन्यास धारण करे। चार आहारका त्याग कर पंचपरमेष्ठीके स्वरूपमें तथा आत्मध्यानमें लवलीन हो। यदि मरणमें किसी प्रकारका सन्देह जाने, तो नियमरूप ऐसी प्रतिज्ञा करे कि "इस रोग-उपसर्ग-अग्नि आदिसे जो मृत्यु हो, तो मेरे चार प्रकार आहारका तथा आत्मासिवाय अन्य सर्व पदार्थोंसे ममत्वभाव का त्याग है, यदि इतने काल तक बचूंगा या इस दुखसे बचूंगा

इस प्रकार घटाकर ग्रहण करूंगा।" इस प्रकार एकाएक कायसे ममत्व छोड़, शांत-परिणामों युक्त चार प्रकार आहारका त्याग कर समाधिमरण करना, सो अविचार-समाधिमरण कहलाता है ॥

अविचारसमाधिमरण करने वालेको जैसा कुछ द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव कर्मयोगसे मिलजाय, उसीमें परिणामोंकी स्थिरता पूर्वक आत्म-हित करना योग्य है परन्तु सविचारसमाधिमरण करने वालेको तो समाधिमरणके योग्य द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव मिलाना आवश्यक है। अतएव यहां चारोंका संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है ॥

द्रव्य—यद्यपि अविरत-सम्यग्दृष्टी तथा व्यवहार-सम्यग्दृष्टी भी अपनी योग्यतानुसार समाधिमरण कर सकते हैं। तथापि साधक-श्रावकके प्रकरणमें व्रतधारकको ही समाधिमरण करनेका अधिकारी आचार्योंने बताया है ॥

क्षेत्र—जिस क्षेत्रमें समाधिमरण करानेमें तथा वैयावृत्ति करनेमें प्रवीण धर्मात्माओंका समागम हो। समाधिमरण करने के विरोधी राजा-मन्त्री आदि न हों। सर्व प्रकारकी अनुकूलता हो, विशेष मोह ममत्वका कारण तथा स्त्री, नपुंसक, पशु आदि का संघट्ट वा कोलाहल न हो। जिस जगह विशेष शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि बाधक कारण न हों, तथा क्षेत्र अपवित्र, असुहावना और दुर्गंधित न हो ॥

काल—अपना शरीर बहुत वृद्ध तथा इन्द्रियां शिथिल होती जान अधिकसे अधिक १२ वर्ष पेश्तरसे समाधिमरण करने योग्य सामग्रीका समागम मिलावे। समाधिमरणके लिये शीत ऋतु बहुत अनुकूल होती है। जिस समय उस क्षेत्रमें अकाल, मरी आदि चित्त-विक्षेपके कारण उपस्थित हों, उस समय समाधिमरण न मांडे; क्योंकि ऐसे समय समाधिमरण

कराने वालोंका समागम मिलना व चित्त स्थिर रहना कठिन हो जाता है ॥

भाव—समाधिमरण करने वालेके परिणाम शोक-भय-चिन्ता मोह-ममत्व रहित संसार-शरीर-भोगोंमे विरक्त, मन्द-कषाययुक्त धर्ममें उत्साहवान् तथा आत्मकल्याणकी इच्छा रूप हों ॥

यहाँ कोई प्रश्न करे कि—वचपनसे ही धर्मसाधन करने तथा युवा-अवस्थासे ही समाधिमरणके अभ्यास करनेकी क्या आवश्यकता है? जब मरणकाल समीप आवे, तभी धर्मसाधन या समाधिमरण करना योग्य है। उसका समाधान—जो पुरुष बचपन तथा जवानीमें धर्म-कर्म तथा समाधिमरणके स्वरूपसे अज्ञ रहते हैं, वे अन्तसमय धर्मध्यानपूर्वक शरीर छोड़नेको समर्थ नहीं हो सकते। जिस प्रकार युद्धक्रिया का न जाननेवाला एवं अभ्यासरहित पुरुष युद्धके समय शत्रुके शस्त्रोंका प्रहार देखकर तथा मार २ के भयंकर शब्द सुनकर युद्धस्थलमें नहीं ठहर सकता और न शत्रका सामना करके जय पा सकता है, उसी प्रकार जिसने पहिलेसे ही धर्मज्ञानकी प्राप्ति तथा धर्म-साधन न किया हो, समाधिमरण करने योग्य परिणामोंकी निर्मलता- निर्ममत्व का अभ्यास न किया हो, समाधिमरणकी क्रिया देखी-सुनी न हो, वह अन्त समय समाधिमरण नहीं कर सकता। जैसे मलिन वस्तु पर अच्छा रंग नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार उसको अन्तसमय समाधिमरण करनेमें रुचि उत्पन्न होना असम्भव है ॥

भगवती आराधनासारमें कहा है कि "जहां तक संभव हो, समाधिमरण करनेवाला अंतसमय मुनिव्रत धारण करे। सर्व परिग्रह तजे। देहसे निर्ममत्व हो शिर, डाढ़ी, मूंछके केश लौंच करे, मयूरपिच्छिका धारण करे।" उत्कृष्ट प्रतिज्ञाधारकोंको

(दशवीं, ग्यारहवीं प्रतिमा वालोंको) मुनिव्रत धारण करना सहज है, इसलिये उनको मुनिव्रत धारणपूर्वक ही समाधिमरण करना चाहिये। यदि कोई श्रावक उपसर्ग, परीषह सहनेको असमर्थ हो या ऐसा सुअवसर तथा योग्यता उसे न मिले, तो अपने गृहमें अथवा गृहस्थअवस्थामें ही एकान्तस्थानमें दो-चार धर्मात्माओंको पास रखकर अपना कार्य सुधारे ॥

प्रथम ही अपने कुटुम्बी आदिको इस प्रकार सम्बोधन कर ममत्व छुड़ावे, "हे इस शरीरके माता-पिता-स्त्री-पुत्रादि ! अब यह शरीर मरण अर्थात् नाशके सम्मुख हुआ है, तुम्हारा अब इससे कुछ भी प्रयोजन सधने वाला नहीं है। हमारा तुम्हारा इतना ही संयोग था सो पूरा हुआ। संयोग, वियोगकी यही दशा एक २ दिन सब पर बीतने वाली है। एक २ दिन सबको कर्म जनित शरीरादि सामग्री छोड़ परलोक जाना है। इसलिये मुझसे मोह-ममत्व छोड़कर शान्तभाव धारण करो और मेरे कल्याणके सहायक बनो" इस प्रकार उन्हें समझाकर निर्ममत्व हो, पुत्रादिकको गृहस्थीका भार सौंप, जिसको जो कुछ देना लेना हो; देवे लेवे। दान पुण्य करना हो, करे। पीछे निःशल्य होकर अपने आत्मकार्यमें लगे ॥

समाधिमरण करनेवाला सुहावने तथा स्वच्छ स्थानमें शुद्ध संस्तर*पर पूर्व या उत्तरको मुंह करके बैठे (भगवती आरा०) संपूर्ण परिग्रहसे निर्ममत्व हो, पंच-परमेष्ठीके प्रति अपने पूर्व-कृत दुष्कर्मोंकी आलोचना करे, पश्चात् इसप्रकार द्वादशा-नुप्रेक्षाका चिंतवन करेः—

हे जीव ! इस संसारमें किसी भी वस्तुका संयोग स्थिर

---

*स्वच्छ पवित्र पृथ्वीतल पर योग्यतानुसार पियार या घास का बिछौना हो अथवा उस पर ऊपरसे एक स्वच्छ वस्त्र या चटाई हो ॥

नहीं है। राजा-राणा-चक्रवर्ती तथा साधारण पुरुष सभी अपनी २ आयु पूरी करके पर्यायान्तरको प्राप्त होते हैं। तेरी आयु भी क्षण २ घट रही है। यौवन, शरीर, धन, पुत्र, स्त्री, आदिका संयोग जलबुद्बुद्वत् क्षण भंगुर है, संसारकी ऐसी अस्थिरता जान फिर तू निश्चिन्त क्यों हो रहा है ? अपना आत्महित शीघ्र कर। (अनित्य भावना ॥

हे जीव ! इस संसारमें तेरा कोई भी सहाई नहीं है, तेरे ही किये हुए पुण्य-पापके अनुसार तुझे सुख-दुख प्राप्त होता है। देवी, देवता, माता, पिता, कुटुम्बी आदि कोई भी तेरी रक्षा करनेको, तेरे, दुख मिटानेको, समर्थ नहीं हैं। सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति खर्चने पर भी एक क्षण आयु नहीं बढ़ सकती, अतएव संसारकी इस प्रकार अशरण अवस्था जान तू अपनी सम्भाल शीघ्र कर। (अशरण भावना) ॥

हे आत्मन् ! यह जन्म-जरा-मरणरूप संसार अनादि निधन अनन्त दुःखोंका सागर और कल्याणरहित, नित्य पंच-परिवर्तन रूप है चारों गति मरण, शोक, भय, तृष्णामय हैं। संसारमें एक आत्माके सिवाय सब परपदार्थ हैं अतएव सबसे ममत्व छोड़कर निजमें ममत्व जोड़ना ही आत्महित है। (संसार-भावना) ॥

पंचपरिवर्तनका स्वरूप ॥

जन्म-मरण प्रारम्भ करके बार २ पूर्ण करनेको परिभ्रमण, परिवर्तन या संसार कहते हैं, वह पांच भेद रूप है। यथाः-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। यहाँ प्रसंगानुसार इनका संक्षिप्त एवं स्थूल स्वरूप कहा जाता है, विशेष स्वरूप श्री गोमटसार से जानना ॥

द्रव्यपरिवर्तन—इसका दूसरा नाम पुद्गलपरिवर्तन भी है। इसके दो भेद हैं। नोकर्म-परिवर्तन और कर्म परिवर्तन॥

नोकर्मपरिवर्तन—औदारिक, वैक्रियक, आहारक तीन शरीर सम्बन्धी छः पर्याप्ति होनेके योग्य पुद्गल-वर्गणाओंको नोकर्मवर्गणा कहते हैं। किसी जीवने किसी समय जिन नोकर्म-वर्गणाओंको स्पर्श, रस गंध वर्णादि करि तीव्र, मध्यम, मन्द भाव लिये हुए यथासम्भव ग्रहण किये। पश्चात् समयोंमें तिन वर्गणाओंकी निर्जरा होती रहती है। इस प्रकार अनन्तवार अग्रहीतके॰ समय-प्रबद्धोंको ग्रहण कर२ छोड़े, अनंतवार मिश्र॰ को ग्रहण कर२छोड़े तथा अनन्तवार ग्रहीत॰ वर्गणाओंके समय-प्रबद्धको भी ग्रहण कर २ छोड़े। ऐसा करते हुए जिस समय, उन्हीं प्रथम समयमें ग्रहणकी हुई नोकर्म वर्गणाओंको गणनामें उतनी ही तथा वैसे ही स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादिको लिए हुए ग्रहण करे। ऐसी क्रिया होनेके समुदायरूप सम्पूर्ण कालको एक नोकर्म-परिवर्तन काल कहते हैं॥

कर्मपरिवर्तन—ज्ञानावरणादि अष्टकर्म रूप होने योग्य पुद्गल वर्गणाओंको कर्मवर्गणा कहते हैं। किसी जीवने किसी समय आठ प्रकार कर्मरूप होने योग्य कार्माण-वर्गणा ग्रहणकी,

---

॰जो परमाणु पहिले कभी ग्रहण न किये हों, प्रथम ही नये ग्रहण किये जायं सो अग्रहीत, जो पहिले ग्रहण किये जाकर फिर ग्रहण किये जायं सो ग्रहीत तथा कुछ नये, कुछ पूर्वमें ग्रहण किये हुए मिलकर ग्रहण किये जाय सो मिश्र कहलाते हैं॥ प्रकट रहे कि अनादिकालसे एक२ जीवने अनन्त २ पुद्गल, समय २ ग्रहण किये, तो भी, लोकमें बहुतसे अग्रहीत परमाणु अब भी मौजूद हैं। अथवा जब नया परिवर्तन शुरू होता है तब पूर्व-परिवर्तनमें ग्रहण किये हुए परिमाणु भी अग्रहीत कहलाने लगते हैं॥

समय अधिक आवलीमात्र आबाधा-काल व्यतीत होने पर उनकी निर्जरा होने लगती है। इसके अनन्तर जैसा अनुक्रम नोकर्म-परिवर्तनमें कहा है, वैसे ही अग्रहीत, मिश्र तथा ग्रहीतके समय-प्रबद्धको अनन्त २ बार ग्रहण कर २ छोड़े, इस प्रकार करते हुए वह जीव जिस समय प्रथमवार ग्रहणकी हुई कर्म-वर्गणाओंको उतने ही प्रमाण ग्रहण करि कर्मत्वभावको प्राप्त करे, उस बीच के सम्पूर्णकालको एक कर्मपरिवर्तन काल जानो ॥

(२) क्षेत्रपरिवर्तन—यह भी दो प्रकारका है। स्वक्षेत्रपरिवर्तन और परक्षेत्रपरिवर्तन ॥

स्वक्षेत्रपरिवर्तन—कोई जीव प्रथम समय जघन्य अवगाहनायुक्त सूक्ष्म लब्धि-अपर्याप्तक निगोदियाका शरीर धारण करे, पश्चात् उससे एक प्रदेश बढ़ाती अवगाहनाको धरे। इस प्रकार क्रमसे एक २ प्रदेश बढ़ाता हुआ महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त शरीर धारण करे, बीचमें जो क्रमरहित अवगाहनायुक्त शरीर धारण करे, सो गिन्तीमें नहीं। ऐसा करते हुए जितना समय लगे, सो सब एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन काल जानो ॥

परक्षेत्रपरिवर्तन—कोई सूक्ष्म-लब्धि-अपर्याप्तक निगोदिया जीव जघन्य अवगाहनाके शरीरको धारणकर मेरुके नीचे, लोकके मध्यभागमें इस प्रकार जन्म ले, कि उस जीवके मध्यके ८ प्रदेश, लोकके मध्यके आठ प्रदेशोंपर आजायँ*। पश्चात्

---

*सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्त निगोदियाके शरीरकी अवगाहना असंख्यात प्रदेश प्रमाण होती है इसलिए लोकके मध्यके ८ प्रदेशोंको अपने आठ रुचिक (मध्यके) प्रदेशोंसे दाबता तथा और भी आसपासके क्षेत्रको रोकता है ॥

आयुपूर्ण होनेपर मरकर संसारभ्रमण करता हुआ फिर किसी कालमें उतने ही प्रदेश प्रमाण अवगाहनाका शरीर धारणकर उसी क्षेत्रमें जन्म ले, इसी भांति शरीरकी अवगाहनाके बराबर असंख्यात प्रदेश-प्रमाण वार उसी क्षेत्रमें उसी प्रकार जन्म ले, पश्चात् एक प्रदेश प्रमाण अधिक क्षेत्रको बढाकर+ जन्म ले, ऐसे क्रमसे श्रेणीबद्ध एक २ प्रदेश बढताहुआ लोकाकाशके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें जन्म ले । क्रम-रहित प्रदेशोंमें जन्म लेना गिन्तीमें नहीं, इस प्रकार लोकाकाशके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें जन्म तथा मरण करनेमें जितना काल लगे वह सब एक परक्षेत्रपरिवर्तन काल जानो ॥

(३) कालपरिवर्तन-कोई जीव उत्सर्पिणीकालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ, मरकर संसारमें भ्रमण करता २ फिर किसी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें उत्पन्न हो, इसी प्रकार तृतीयादि समयोंमें क्रमसे जन्म ले २ कर उत्सर्पिणीके दश कोडाकोडी सागर व अवसर्पिणीके दस कोडा-कोडी सागर इस प्रकार २० कोडा-कोडी सागर (कल्प कालके) समयोंको क्रमपूर्वक जन्म ले २ कर पूर्ण करे, क्रमरहित गिन्तीमें नहीं ऐसा करनेमें जितना काल व्यतीत हो, वह सब कालपरिवर्तन जानो ॥

(४) भवपरिवर्तन-कोई जीव प्रथम नरकमें दश हजार वर्षकी जघन्य-आयु पाकर जन्मा, आयु पूर्ण होनेपर मरा, पीछे संसार भ्रमण करते २ फिर किसी कालमें उतनी ही आयुका धारक हुआ, इस प्रकार दश हजार वर्षके जितने समय होते हैं, उतने बार दश २ हजार वर्षकी आयुका ही धारक होकर, पीछे क्रमसे

+प्रदेश आगे बढ़ानेका मतलब ऐसा नहीं है कि पहले प्रदेशोंको भी शामिल करके उतना बड़ा शरीर करे । किन्तु आगे एक २ प्रदेश क्रमसे बढाता जाय, पीछेके प्रदेश चाहे छूटते जायं ॥

एक २ समय अधिक, आयु धारण कर नरकायुका उत्कृष्ट ३३ सागर प्रमाण काल पूर्ण करे। इसी प्रकार देवायुको जघन्य-स्थिति दश हजार वर्षसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति ३१ सागर* तक तथा मनुष्यायु-तिर्यंचायुकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्तसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य पर्यंत क्रम पूर्वक एक २ समय बढाता हुआ पूर्ण करे। क्रम रहित गिनतीमें नहीं। ऐसा करते हुए चारों आयुके पूर्ण करनेमें जितना काल लगे, वह सब एक भव परि-वर्तन काल जानो॥

(५) भावपरिवर्तन—योगस्थान, अनुभाग—अध्यवसाय-स्थान, कषाय-अध्यवसायस्थान, स्थिति-स्थान इन चारोंका परिवर्तन क्रमपूर्वक पूर्ण होना, सो एक भाव परिवर्तन काल है अर्थात् किसी जीवके जिस समय जघन्य स्थिति स्थान, जघन्य कषाय अध्यवसायस्थान, जघन्य अनुभागअध्यवसायस्थान और जघन्य ही योग स्थान हो, तब भाव परिवर्तनका आरंभ जानो। वहां योगस्थानके तो एक २ स्थान क्रमसे पलटकर उत्कृष्ट पर्यन्त असंख्यात स्थान पूर्ण हों और शेष तीनों ज्योंके त्यों जघन्य रूप ही रहें। इस प्रकार जब योगस्थान पूर्ण हो चुकें, तब अनुभाग अध्यवसाय स्थान पलटकर दूसरा हो, शेष दो का जघन्य स्थानही रहे। इसप्रकार योगस्थानोंकी पलटन पूर्वक असंख्यात-लोक-प्रमाण अनुभाग अध्यवसाय स्थान क्रम से पलट २ कर पूर्ण हो चुकें, तब कषाय अध्यवसायका दूसरा स्थान हो। इस प्रकार योगस्थान, अनुभागअध्यवसायस्थान पूर्वक, कषायाध्यवसायस्थान क्रम २ से पलटते हुए असंख्यात

*देवायुमें ३१ सागरसे अधिक आयुका धारक नियमसे सम्यक्ती मोक्षमार्गी ही होता है अतएव उसे परिवर्तन नहीं करना पड़ता, इसीलिये यहां ३१ सागर कहा है॥

लोकप्रमाण पूर्ण हों तब स्थिति स्थान जघन्यसे पलटकर दूसरा अर्थात् एक समय अधिक हों, इस प्रकार सब कर्मोंकी मूल उत्तर प्राकृतियोंके स्थिति-स्थानोंके इसी क्रम पूर्वक पलटनेमें जितना समय लगे, वह सब भावपरिवर्तन काल जानो।

भावार्थ—द्रव्य परिवर्तन काल अनंत है, उससे अनंतगुणा क्षेत्र-परिवर्तनका, उससे अनंतगुणा काल-परिवर्तनका, उससे अनन्तगुणा भव-परिवर्तनका और उससे अनन्तगुणा भाव-परिवर्तनका काल है। इन पांचों परिवर्तनोंके काल का समूह एक परिवर्तन कहलाता है। जीव मिथ्यात्ववश अनादिकालसे अपने शुभाशुभ परिणामोंके अनुसार सुख-दुख भोगता हुआ ऐसे अनंत परिवर्तन करचुका है इसलिये अब भवभ्रमणके दुःखसे छूटने का प्रयत्न करना अवश्य है।

हे जीव! तीनों लोकोंमें तू अकेला है, तेरा कोई भी साथी नहीं, अकेला ही जन्मता और अकेला ही मरता है, अकेलाही अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल (सुख-दुख) भोगता है। स्त्री पुत्रादि कोईभी साथी नहीं होते। केवल आत्मीक गुण (रत्नत्रय) ही तेरे साथी, तेरे स्वभावरूप हैं। उन्हींके प्रभाव से तू मोक्ष-सुख पासक्ता है, इसलिए उन्हींके बढानेका यत्न कर (एकत्व भावना)।

हे आत्मन्! तू इन कर्म-शरीरादि पुद्गलोंसे प्रथक् है, केवल भ्रमबुद्धिने इनको अपने मानरहा है। तू सर्वाङ्गचेतन और ये शरीरादि जड़ हैं। फिर इनमें तथा घर, सम्पत्ति, परिवारमें एकता कैसी? और इनका भरोसा कैसा? व्यर्थही तू इनका भरोसा करता और इनके लिये पाप करके दुर्गतिका पात्र बनता है। (अन्यत्व भावना)।

हे आत्मन्! यह शरीर अशुचि माताके रज और पिताके वीर्यसे उत्पन्न हाड, मांस, मल, मूत्रका समूह है। इसमें रहते

हुए तुझे क्या ग्लानि नहीं आती ? क्या तुझे चमड़े से लिपटा हुआ घिनावनी वस्तुओंका समूह यह शरीर सुहावना लगता है ? जो तू इसे अपना रहा है। भला ! विचार तो सही, संसार में जितनी अपवित्र वस्तुएं हैं वे सब एक शरीरके सम्बन्धसे ही अपवित्र हुई हैं। इतना होने पर भी यह शरीर स्थिर नहीं है, अतएव ऐसे अपवित्र शरीरसे ममत्व तजना और आत्माके पवित्र होनेका प्रयत्न करनाही श्रेष्ठ है। (अशुचिभावना)।

हे जीव ! मिथ्यात्व, अविरत, कषायके वशीभूत होकर मन-वचन काय की प्रवृत्ति करनेसे पुद्गल-कर्मोंका आस्रव होकर आत्मासे बंध होता है, जिससे आत्माके ज्ञानदर्शनादि गुणोंका घात होता है, अतएव आत्म-गुणोंकी रक्षाके लिये इन मोहादि भावोंको त्यागना योग्य है। (आस्रवभावना)।

हे आत्मन् ! मोहके मन्द पड़ने अथवा सर्वथा अभाव हो-जानेसे सम्यक्त्व, संयम तथा निष्कषाय भाव उत्पन्न होवे और योगोंका निरोध होकर, नूतन कर्मोंका आना रुक जाता है, अतएव आत्महितके लिये जिस तिस प्रकार इस संवर अवस्था की प्राप्ति करना आवश्यक है (संवर भावना)।

हे आत्मन् ! शुभाशुभ कर्मोंके उदयानुसार सुख दुखकी सामग्रीके समागम होने पर समताभाव धारण करनेसे सत्ता-स्थित कर्मोंका स्थिति अनुभाग घटना और विना रस दियेही (कर्मत्व शक्ति रहित होकर) निर्जरा होती है, इसप्रकार संवर पूर्वक कर्मोंका एकदेश अभाव होना सो (अविपाक) निर्जरा और सर्वदेश कर्मोंका अभाव हो जाना सो मोक्ष है। अतएव मुक्ति प्राप्तिके लिये शुद्धोपयोगकी वृद्धि करनाही उचित है। (निर्जराभावना)॥

हे आत्मन् ! यह अनादि, अनंत, अकृत्रिम, षट्-द्रव्योंसे भराहुआ लोक १४ राजू ऊंचा, उत्तर-दक्षिण ७ राजू चौड़ा,

पूर्व-पश्चिम नीचे ७ राजू, मध्यमें १ राजू, पांचवें स्वर्गके अंत में ५ राजू, और ऊपर लोकके अंतमें १ राजू मोटा है। यह पुरुषाकार ३४३ घन राजू प्रमाण घनाकार है। अधोलोकमें ७ नरक पृथ्वी, मध्यलोकमे असंख्यात द्वीप-समुद्र, ऊर्ध्वलोकमें १६ स्वर्ग, नव ग्रैवेयिक, नव अनुत्तर, पंच पंचोत्तर हैं, उससे ऊपर अष्टमी प्राग्भार-पृथ्वी है, जिसमें अंगूठीमें नगीनेकी नांई ४५ लाख योजन व्यासयुक्त सिद्धशिला जड़ीहुई है, सबसे ऊपर लोकके अंतमें मुक्तजीवोंका स्थान (सिद्धालय) है। जीव अनादि-कालसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्राप्तिके विना इस लोकमें सर्वत्र जन्म मरण कर रहा है, अतएव संसारभ्रमणसे बचनेके लिये आत्म-गुणोंकी एकताको प्राप्त करना ही परम कर्तव्य है। (लोकभावना)॥

हे आत्मन् इस संसार भ्रमणमें प्रथम तो नित्य निगोदसे निकलनाही महा कठिन है, फिर बे-इन्द्री, तेइन्द्री चौइन्द्री, पंचे-न्द्रियका होना क्रमशःदुर्लभ है। पुनः सैनी-पंचेन्द्रिय, मनुष्य-पना, उच्चकुल, नीरोगता, आयुकी पूर्णता पाना अति दुर्लभ है। तिसपर क्षयोपशमादि पंचलब्धियोंका प्राप्त होकर सम्यक्त्वा और चारित्रका उत्पन्न होना महा कठिन है। अब यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ है अतएव ऐसे दुर्लभ संयोगको पाकर अनन्त-काल-स्थाई स्वस्थान (मोक्ष) की प्राप्तिका यत्न करना योग्य है। (बोधिदुर्लभभावना)॥

हे आत्मन्! धर्म आत्माका स्वभाव है, वह निश्चयनयसे यद्यपि अकथनीय है तथापि व्यवहारनयसे रत्नत्रय, दशलक्षण, जीवदया रूप है। इस निज-स्वभाव रूप आत्म-धर्मको प्राप्त करनाही जीवका परम हित है, इस निज सम्पत्तिको पाकरही यहजीव सच्चा सुखी होसक्ता है अतएव इसको धारण करनाही श्रेष्ठ है। (धर्म-भावना)॥

ये द्वादश-भावना वैराग्यकी माता, संवेग-निर्वेदकी उत्पादक हैं, इनके चिंतवन करनेसे संसारसे विरक्तता होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-भावनाओंमें गाढ़-रुचि उत्पन्न होती है अतएव समाधिमरण करनेवाला इन भावनाओं-आराधनाओं युक्त पंच-परमेष्ठीके गुणोंका तथा आत्मगुणोंका चिंतवन करे। निकटवर्ती साधर्मी भाइयोंको भी चाहिये कि समाधिमरण करनेवाले का उत्साह हरसमय बढ़ाते रहें, धर्मध्यानमें सावधान करते रहें। वैयावृत्य करते हुए सदुपदेश देवें और रत्नत्रयमें उपयोग स्थिर करावें॥

अब समाधिमरण करनेवाला अन्त समयमें किस प्रकार आहारादिको घटावे तथा क्या चिंतवन करे वह लिखते हैं। प्रथमही अन्नके बदले क्रम २ से दूध पीनेका अभ्यास डाले पीछे छांछ और उसके बाद प्राशुक जलही रक्खे, जब देखे कि आयु दो-चार प्रहर, या १ दिन की ही शेष रही जान पड़ती है, तब शक्ति-अनुसार चार प्रकार आहारका त्याग करे। योग्यता तथा आवश्कतानुसार ओढ़ने-पहिरने मात्र अल्प वस्त्र परिग्रह रक्खे, यदि शक्ति और सर्व प्रकारकी योग्यता हो तो वस्त्रादिक सब परिग्रह त्याग, मुनिव्रत धार तृणके संस्तर पर पद्मासन या पर्यंकासनसे बैठ जाय, यदि बैठनेकी शक्ति न हो, तो लेट जाय और मन, वचन, कायको स्थिरकर धीरे २ समाधिमरणमें दृढ़ करने वाले पाठ पढ़े अथवा साधर्मीजनोंके बोले हुए पाठोंको रुचिपूर्वक सुने, जब बिलकुल शक्ति घट जाय तो केवल णमोकार मंत्र ही जपे, पंचपरमेष्ठीका ध्यान मात्र करे, जब यह शक्ति भी न रहे, तब निकटवर्ती धर्मात्मा पुरुष धीरे २ मीठे स्वरसे उसे सावधान करते हुए, केवल अर्हंत-सिद्ध या सिद्ध नाममात्र सुनावें। यह बात ध्यानमें रहे कि समाधिमरण करने वालेके पास कुटम्बी या कोई दूसरे आदमी सांसारिक वार्तालाप न

करें, कोई रोवें और गावें नहीं, कोलाहल न करें ; क्योंकि ऐसा होनेसे समाधिमरण करने वालेका मन उद्वेग रूप हो जाता है। अतएव हर एक सज्जनको यही उचित है कि उसके निकट संसार शरीर, भोगोंसे विरक्त करने वाली चर्चा वार्ता करे, तथा आगे जो बड़े २ सुकुमाल आदि सत्पुरुषोंने भारी २ परीषह-उपसर्ग सहकर समभावोंपूर्वक समाधिमरण साधा, उनकी कथा कहे, जिससे समाधिमरण करने वालेके चित्तमें उत्साह और स्थिरता उत्पन्न हो। इस प्रकार समतासहित, ममतारहित शरीरका त्याग करना समाधिमरण कहलाता है॥

समाधिमरणके नीचे लिखे पंच अतीचार त्यागने योग्य हैं। क्योंकि इनके लगनेसे समाधिमरण दूषित हो जाता है।

(१) जीवित-आशंका—ऐसी वांछा करना कि यदि मैं अच्छा हो जाऊं और कुछ काल और भी जीऊं तो अच्छा है॥

(२) मरण-आशंसा—ऐसी वांछा करना कि दुःख बहुत हो रहा है, यदि शीघ्र मरजाऊं तो अच्छा है॥

(३) मित्रानुराग—माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र आदिकी प्रीतिका स्मरण तथा मिलनेकी इच्छा करना॥

(४) सुखानुबंध—पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना॥

(५) निदान—परभवमें सांसारिक विषय भोगोंकी प्राप्तिकी वांछा करना॥

लाभ—जो अणुव्रती सत्पुरुष अतीचाररहित सन्यासमरण करते हैं, वे अपने किये हुए व्रत रूपी मन्दिर पर मानों कलश चढ़ाते हुए स्वर्गमें महर्द्धिक देव होते हैं, दो चार भवमें ही सच्चे आत्मिक निराकुलित स्वरूपानन्दको प्राप्त होते हैं। क्योंकि समाधिमरणके भले प्रकार साधनेसे अगले जन्ममें इसकी वासना चली जाती है, जिससे वह जीव वहां विराग-रुचि होकर

निर्ग्रन्थपना धारनेका उत्साही होता और शीघ्र ही मुनिव्रत धारण कर, शुद्धस्वरूपको साध, मोक्ष प्राप्त कर सकता है ॥

अभिवन्दन प्रकरण ॥

(भद्रबाहु संहितानुसार ❀)

अव्रती, व्रती, ब्रह्मचारी, उत्तम, श्रावक तथा निर्ग्रंथगुरु आदिके, एक दूसरेसे अभिवन्दन करनेकी पद्धति ॥

(१) गुरु मुनिके लिए श्रावक 'नमोऽस्तु' कहे ॥

(२) गुरु (मुनि) बदलेमें उत्तम त्रिवर्ण-श्रावकोंको 'धर्मवृद्धि', साधारण (सामान्य) पुरुषको 'धर्मलाभ' और शूद्रोंको 'पापं क्षयतु' कहे ॥

(३) ब्रह्मचारीको श्रावक 'वन्दना' कहे ॥

(४) ब्रह्मचारी बदलेमें श्रावकको 'पुण्यवृद्धि' अथवा 'दर्शन-विशुद्धि' कहें ॥

(५) श्रावक आर्यिकाको 'वन्दामि' कहे ॥+

(६) आर्यिका भी श्रावकको धर्मवृद्धि और सामान्य पुरुषों-को 'धर्मलाभ' कहे ॥

(७) व्रती श्रावक अर्थात् सहधर्मी आपसमें 'इच्छाकार' करें तथा विरक्त उदासीन श्रावकसे भी 'इच्छाकार' करें ॥

(८) शेष जैसी मात्र आपसमें जुहार (जुहारु) या जय-जिनेन्द्र करें ॥

❀अन्य ग्रंथोंमें यह विषय देखनेमें नहीं आया ॥

❀अन्य ग्रन्थोंमें यह विषय देखनेमें नहीं आया ॥

+यह किसी ग्रन्थमें नहीं मिला कि श्राविका, आर्यिकाके प्रति क्या कहे और आर्यिका बदलेमें श्राविकासे क्या कहे, परन्तु बुद्धिमें आता है कि श्रावककी नाईं श्राविका भी आर्यिकाके प्रति वंदामि कहे और आर्यिका श्रावककी नाईं श्राविकाको धर्मवृद्धि कहे ॥

(९) गृहस्थ अपने लौकिक व्यवहारमें जेठों, बड़ोंको नमस्कार करें ×॥

(१०) इनके सिवाय और पुरुषोंके प्रति भी उनकी योग्यतानुसार यथायोग्य विनय करना चाहिये॥

(११) विद्या, तप, और गुणोंसे श्रेष्ठ पुरुष, अवस्थामें कम होते हुए भी ज्येष्ठ (बड़ा) माना जाता है॥

(१२) सूत्रपाहुडमें दशवीं-ग्यारहवीं प्रतिमा वाले उत्कृष्ट-श्रावकोंको 'इच्छाकार' करना लिखा है, अर्थात् मैं आप सरीखे होनेकी इच्छा करता हूँ॥

(१३) ग्यारहवीं प्रतिमा वाले आपसमें 'इच्छामि' करें, (सागारधर्मामृत और धर्मसंग्रह श्रा.)

(नोट) यहां पर व्रती स्त्री-पुरुषोंको श्रावक और शेष सबको सामान्य गृहस्थ समझना चाहिये॥

सूतक प्रकरण॥

सूतकमें देव-गुरु शास्त्रका पूजन-स्पर्शन, मन्दिरके वस्त्र पात्रका स्पर्शन तथा पात्रदान वर्जित है॥ सूतक काल पूर्ण होने पर प्रथम दिवस पूजन-प्रक्षाल तथा पात्रदान करके पवित्र होवे॥ सूतकका विधान इस प्रकार है: —

(१) वृद्धि अर्थात् जन्मका सूतक [सुआ] १० दिनका माना जाता है॥

(२) स्त्रीका गर्भ-जितने माहका पतन हो, उतने दिनका सूतक मानना चाहिये, यदि ३ माहसे कमका हो, तो तीन दिनका सूतक मानना चाहिये॥

× जेठे-बड़े अपनेसे छोटोंको बदलेमें क्या कहें ! ऐसा कहीं देखनेमें नहीं आया, परन्तु बुद्धिमें आता है कि "सुखी होओ" आदि आशीर्वादात्मयक-वचन कहें।

(३) प्रसूता-स्त्रीको ४५ दिनका* सूतक होता है, इसके पश्चात् वह स्नान-दर्शन करके पवित्र होवे ॥

(४) प्रसूतिस्थानको १ माहका सूतक अर्थात् अशुद्धता कही है ॥

(५) रजस्वला (ऋतुवती) स्त्रीकी पांचवें दिन शुद्धता होती है ॥

(६) व्यभिचारिणी स्त्री कभी भी शुद्ध नहीं होती, उसके सदा ही सूतक है ॥

(७) मृत्युका सूतक १२ दिनका माना जाता है ॥

(८) तीन पीढ़ी तक १२ दिन, चौथी पीढ़ीमें १० दिन, पांचवीं पीढ़ीमें ६ दिन, छठी पीढ़ीमें ४ दिन, सातवीं पीढ़ीमें ३ दिन, आठवीं पीढ़ीमें १ दिनरात, नवमी पीढ़ीमें दो प्रहर और दशवीं पीढ़ीमें स्नानमात्रसे शुद्धता कही है ॥

(९) ८ वर्ष तकके बालककी मृत्युका ३ दिनका और तीन दिन के बालकका १ दिनका सूतक है ॥

(१०) अपने कुलका कोई गृहत्यागी अर्थात् दीक्षित हुआ हो उसका सन्यास मरण अथवा किसी कुटुम्बीका संग्राममें मरण हो जाय, तो एक दिनका सूतक होता है। यदि अपने कुलका देशान्तरमें मरण करे और १२ दिन पूरे होनेके पहिले मालूम हो, तो शेष दिनोंका सूतक मानना चाहिये, यदि दिन पूरे होगये हों, तो स्नानमात्र सूतक है ॥

(११) घोड़ी, भैंस, गौ आदि पशु तथा दासी अपने आंगन (गृह)में जने, तो १ दिनका सूतक होता है, यदि गृह बाहिर जने तो सूतक नहीं होता ॥

---

*कहीं २ चालीस दिनका भी माना जाता है ॥

(१२) दासी-दास तथा पुत्रीके प्रसूति हो या मरे, तो ३ दिनका सूतक होता है। यदि गृह बाहिर हो तो सूतक नहीं होता। यहाँ पर मृत्युकी मुख्यतासे ३ दिनका कहा है, प्रसूतिका १ ही दिनका है॥

(१३) जने पीछे भैंसका दूध १५ दिन तक गायका १० दिन तक और बकरीका ८ दिन तक अशुद्ध है, पश्चात् खाने योग्य है॥

प्रगट रहे कि कहीं २ देश भेदसे सूतक विधानमें भी भेद होता है, इसलिए देशपद्धति तथा शास्त्रपद्धतिका मिलान कर पालन करना चाहिए॥

स्त्री-चारित्र ॥

(१) सूत्रपाहुड़में कहा है कि स्त्री 'क्षुल्लिका' भी हो सकती है। पुनः यह भी कहा है कि उनकी योनिमें, स्तनकी बीटियोंमें, नाभिमें तथा कांखोंमें लब्धि-अपर्याप्तक मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसी दशामें उनको महाव्रतकी दीक्षा कैसे हो सकती है? क्योंकि उनसे सर्व प्रकारकी हिंसाका त्याग नहीं हो सकता। जो स्त्री सम्यक्त्वसे शुद्ध है वह मोक्षमार्ग संयुक्त कही है; परन्तु ऊंचा (अपनी शक्ति भर) चारित्र धारण करने पर भी उसके महाव्रतकी दीक्षा नहीं होती॥

(२) दौलतक्रियाकोषके दानप्रकरणमें कहा है कि कि "तीन उत्तम वर्णोंकी स्त्रियां ही आर्यिका हो सकती हैं। आर्यिका एक सफेद साड़ी, पीछी, कमण्डल, शास्त्र रक्खे, बैठकर करपात्र

(३) श्री मूलाचारमें नीचे लिखे अनुसार कहा है। "आर्यिकाओंके वृक्ष-मूलादि योग नहीं होता है अर्थात् वृक्षादि आहार करे, केश लौंच करे।

के कोटरमें एकान्त रहकर तप करनेकी आज्ञा नहीं है। आर्यिका परस्पर अनुकूल रहे, परस्पर मत्सर, ईर्षाभाव न रक्खे, आपसमें रक्षण, प्रतिपालनमें तत्पर रहे, क्रोध, बैर, कलह, कुटिलता रहित हो, न्यायमार्गमें प्रवर्तनेवाली, मर्यादावान्, लोकापवादसे भयभीत, लज्जायुक्त तथा दोनों कुल [सासरा और पीहरके) योग्य जिनका आचरण हो अर्थात् मर्यादावान्, लज्जा-वान् और क्रियावान् हों॥

पढे हुए शास्त्रों का पठन-स्वाध्याय-पाठ, शास्त्रश्रवण, अपने जाने हुए शास्त्रोंका व्याख्यान, श्रुतका चिंतवन, द्वादशानुप्रेक्षाका चिंतवन, बारह प्रकार तप, इन्द्रियनिरोध विनय इन शुभ क्रियाओंमें आर्यिकाएं सदा उद्यमी रहें। विकाररहित वस्त्र (सफेद साढो) पहिरें (रंगीले और शौकीनी वस्त्र न पहिरे) विकार तथा संस्काररहित शरीर रहें तथा स्नानादि रहित हो* धर्मयुक्त, दीक्षायुक्त, शीलवान् विशुद्ध हों, संक्लेश रहित हों॥

आर्यिका नगरके न अति निकट रहें न अति दूर रहें। जहां असंयमी तथा गृहस्थ न रहते हों, जहां परदारालम्पट, चोर, ठग, दुष्ट-तियचादि न रहते हों तथा मुनियोंका संचार जहां न हो, जहां मलमूत्रादि उत्सर्ग करनेका स्थान गुप्त हो, ऐसे स्थानमें रहें। दो आर्यिकाओंसे कम न रहें अर्थात् अकेली कभी न रहें, अधिक हो तो उत्तम है॥

आर्यिका बिना प्रयोजन गृहस्थके घर न जावे अथवा जहां मुनि बैठे हों, वहां न जाय। गृहस्थोंके घर (भिक्षा-कालमें) अथवा आचार्यके निकट (प्रतिक्रमणके समय) गणिनी (श्रेष्ठ

---

*आर्यिका मासिकधर्मके समय तो श्राविकों द्वारा उचित स्नानादि शौच करे, इन दिनोंमें उपवास या नीरस आहार करे, चौथे दिन प्राशुक-जलसे स्नान कर आहार करे॥

आर्यिकाकी) आज्ञा लेकर अन्य-आर्यिका अथवा गणिनीके साथ जाय।

आर्यिकाको आश्रममें तथा पर घर जाकर इतने काम न करना चाहिए। रुदन अर्थात् दुःखसे पीडित होकर आंसू काढ़ना, स्नपन अर्थात् बालकादिको स्नान कराना, किसीके बालकादिको भोजन कराना, पानी पिलाना, रसोई करना, सूत कातना, सीना, कसीदा काढ़ना आदि। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्पकर्म, लेखकर्म, ये षट्-कर्म-जीवघातके कारण हैं, सो न करे। संयमियोंके पगोंका प्रक्षालन, रागभावपूर्वक गाना आदि और भी अपवादके कारण अयोग्य क्रिया न करे॥

आर्यिका आचार्यादिकी वंदनाके लिए जाय, तो आचार्यको ५ हाथ दूरसे, उपाध्यायको ६ हाथ दूरसे और साधुको ७ हाथ दूरसे वंदना करके उनके पिछाड़ी जाकर बैठे, अगाडी न बैठे। इसी प्रकार आलोचना, अध्ययन, स्तुति भी इतनी ही दूरसे करे और जैसे गौ बैठती है उसी तरह गौआसनसे वंदना करे।

(४) श्रीभगवतीआराधनासारमें कहा है कि "आर्यिका" समाधिमरणके अवसरमें अन्य-आर्यिका या गणिनीकी सहायतासे अन्तसमय नग्न-दिगम्बर मुद्रा भी धारण कर सकती है, जो पुरुषोंके दृष्टिगोचर न हो।

उपर्युक्त आगमवाक्योंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्त्रियां भी पुरुषोंके समान सब प्रतिमाओंकी धारक तथा आर्यिका होसकती हैं। एल्लकवृत्ति तथा मुनिव्रत धारण करना इनके लिये अशक्य है। इनके उत्तम संहननके अभावसे शुद्धोपयोग रूप परिणाम, नग्न दिगम्बर मुद्रा तथा प्रमत्तादि ऊपरले गुणस्थान नहीं हो सकते, इनके वस्त्रत्याग अशक्यानुष्ठान रूप होनेसे तत्सम्बन्धी निराकुलता एवं चित्तकी दृढ़ता नहीं होसकती। ये हिंसादि सावद्ययोगका त्याग नवकोटि अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-

कारित-अनुमोदनसे नहीं कर सकतीं, न इनके सामायिक चारित्रकी प्राप्ति हो सकती है, इसीसे आगममें इनके उपचारसे महाव्रत कहा है। यद्यपि ये अपने पुरुषार्थकी हदको पहुंच चुकी हैं तथापि भाव यथार्थमें पंचम गुणस्थानरूप ही होते हैं॥

गृहस्थिनी-श्राविका, ब्रह्मचारिणी क्षुल्लिका तथा आर्यिका के बाह्यभेष और क्रियाओंमें मेरी समझसे इतना ही भेद जान पड़ता है कि श्राविकाके पति संसर्ग तथा परिग्रह-प्रमाण और भोगोपभोग-प्रमाण व्रतके अनुसार वस्त्र वा परिग्रह रहता है और पहिनाव सामान्य गृहस्थों सरीखा होता है। ब्रह्मचारिणीके पतिसंसर्गका अभाव, वैराग्य-सूचक सादे-सफेद वस्त्रोंका पहि-नाव तथा अल्प-परिग्रह रहता है। क्षुल्लिका एक सफेद धोती तथा एक सफेद दुपट्टा रखतीं और आरंभ-परिग्रह रहित रहतीं तथा आर्यिका आरंभ-परिग्रह रहित केवल एक सफेद साड़ी पहिनतीं, पीछी, कमंडल साथ रखती हैं।

भावार्थ—स्त्रियां भी तत्त्वज्ञानपूर्वक श्रावक-धर्मका साधन (जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है) ग्यारहवीं प्रतिमा (क्षुल्लिका) तक करती हुई आर्यिका तक हो सकतीं और अपनी शक्ति एवं योग्यतानुसार धर्मसाधन करती हुई आत्मकल्याण कर सकती हैं। जिससे परंपरासे स्त्रीलिंगका अभाव करके पुरुष पर्याय, उत्तम सुख-समृद्धि पाकर, महाव्रत धारणकर मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं। अतएव स्त्रियोंको उचित है कि पढ़ें, लिखें, धर्म विद्या का अभ्यास करें, तत्त्वबोधको प्राप्त हों और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको देख योग्यतानुसार ब्रह्मचर्यादि प्रतिमा अथवा आर्यिकाके व्रत धारण करें।

मुनि-धर्म* ॥

जब जीवके लोक-स्थित जीव-पुद्गलादि षट् द्रव्योंके यथार्थ स्वरूप पूर्वक शुद्ध आत्मद्रव्यकी स्वाभाविक पर्यायों और पुगद्ल जनित वैभाविक-पर्यायोंके जाननेसे मिथ्याबुद्धि दूर होकर सम्य-श्रद्धान और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होजाती है, तब वह आत्मिक स्वभावकी प्राप्तिके लिये उसके साधक-कारणोंको मिलता और बाधक कारणोंको दूर करता है, इसी क्रियाको सम्यक्चारित्र कहते हैं।

चारित्रकी आरंभिक श्रेणीमें हिंसादि पंच-पापोंका स्थूलपने त्याग होता है जिसे श्रावकधर्म या अणुव्रत कहते हैं। तहां राज्य-दंड, पंच-दंड, लोकमें निन्दा हो; ऐसी हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रम्ह एवं अतितृष्णा का त्याग होता है, पुनः इनके रक्षणार्थ तथा महाव्रतोंकी आरंभिक क्रियायोंके शिक्षणार्थ दिग्विरतादि सप्त शीलोंका पालन किया जाता है। जिसका फल यह होता है कि अणुव्रत, महाव्रतोंको स्पर्शने लगते हैं और इनका पालक पुरुष महाव्रत धारण करनेका अधिकारी हो जाता है।

चारित्रकी उत्तरश्रेणीमें हिंसादि पंचपापोंका सम्पूर्णपने त्याग होता है, इसे मुनिधर्म या महाव्रत कहते हैं। इसके निर्वाहार्थ तथा रक्षणार्थ पंच-समिति, तीन गुप्ति (अष्टप्रवचनमात्रिका) भी पालनकी जाती हैं। जिसका फल यह होता है कि महाव्रत, यथाख्यात चारित्रको प्राप्त होते हैं।

यह श्रावकधर्म और मुनिधर्म किसी २ ग्रन्थमें चार आश्रमों में विभक्त करके वर्णन किया गया है। यथा चारित्रासारमें:—

---

*यहां श्री मूलाचार, भगवतीआराधनासार तथा विद्वज्जनबोधकके अनुसार दिग्दर्शनमात्र संक्षिप्तरूपसे मुनिधर्मको वर्णन किया है। जो सज्जन विशेष रूपसे जानना चाहें, वे इन ग्रंथोंका अवलोकन करें।

ब्रह्मचर्याश्रम—जब तक पुत्र-पुत्रियोंका विवाह न हो, तब तक वे ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करें, यह ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता है ॥

(२) गृहस्थाश्रम—ब्रह्मचर्याश्रमी पुत्र-पुत्री विवाह होने पर गृहस्थ कहलाते हैं और इस समय वे नीचे लिखे षट्कर्म करते हैं ॥ (१) इज्या अर्थात् पूजन करना (२) असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और शिल्प; इन आजीवी-षट्कर्मोंमेंसे जो उद्योग अपने वर्णानुसार योग्य हो, उसके द्वारा न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जन करना (३) दत्ति अर्थात् चार प्रकार दान देना, सब जीवोंसे मैत्रीभाव रखना, पात्रोंकी भक्तिपूर्वक सेवा करना. दीनोंको दयापूर्वक दान देना, समानता वालोंको समदत्ति अर्थात् योग्य सहायता देना (४) स्वाध्याय करना (५) संयम पालना (६) यथा सम्भव तप करना ॥

(३) वानप्रस्थाश्रम—सप्तम प्रतिमाधारक नैष्ठिक ब्रह्मचारीतथा अष्टमी, नवमीं, दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमावाले (गृहस्थाश्रमके त्यागी) सन्यासाश्रममें प्रविष्ट होनेके अभ्यासी वानप्रस्थ कहलाते हैं। इनमें उत्कृष्ट-वानप्रस्थ खण्ड-वस्त्र धारक क्षुल्लक, ऐल्लक हैं ॥

(४) सन्यासाश्रम—सर्व परिग्रहके त्यागी, आत्मध्यानी निर्ग्रंथ साधु हैं, जो आत्मस्वरूपको साधते हैं ॥

नोट—इन चार आश्रमोंमेंसे आरम्भिक तीन आश्रमोंके उपयोगी श्रावकधर्मका वर्णन तो ऊपर हो चुका, अब आगे साक्षात् मोक्ष-प्राप्ति करानेवाले चतुर्थ सन्यासाश्रम (मुनिधर्म) का संक्षिप्तरूपसे वर्णन किया जाता है ॥

मुनिधर्म धारने योग्य पुरुष ॥

(१) मुनिधर्म धारण करनेवाला पुरुष उत्तम देशका उपजा हो* क्योंकि देश (उत्पत्तिस्थान)का असर कुछ न कुछ अवश्य रहता है। (२) उत्तम त्रिवर्ण यथा; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो, शूद्र न हो; क्योंकि जातिका भी असर रहता है। (३) अंगपूर्ण हो। (४) राजविरुद्ध न हो। (५) लोकविरुद्ध न हो। जिसने कुटुम्बसे दीक्षा लेनेकी आज्ञा माँग ली हो। यद्यपि आज्ञा मांगनेका राजमार्ग है तथापि कारण विशेषसे यदि कुटुम्बी आज्ञा न दें, तो भी दीक्षा ले सकता है; परन्तु प्रेमभावपूर्वक सबसे क्षमा-भाव होना उचित है। (७) मोह रहित हो। कुष्ट, मृगी आदि बड़े रोगोंसे रहित हो। (९) संघमें कुशलता और धर्मकी वृद्धि का कारणहो ॥

यद्यपि सामान्यरीतिसे सर्व ही मुनि नग्न, दिगम्बर, अट्ठाईस मूल गुणधारी, आभरण-स्नान-गंध-लेपनादि संस्कार-रहित शान्ति-मुद्रायुक्त होते हैं, इसलिए अभेद हैं, तथापि किसी २ विशेषगुणकी मुख्यता अपेक्षा इनके अनगार साधु, ऋषि, मुनि, यति आदि भेदरूप नाम भी कहे जाते हैं। सो ही श्रीमूलाचार में कहा है "ये ही महाव्रती गृहवास, स्त्री पुत्रादि परिग्रह तज निर्ग्रन्थ होनेकी अपेक्षा अनगार कहलाते हैं। आत्मस्वरूप (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र)को एकीभावपूर्वक साधनेकी अपेक्षा साधु कहलाते हैं। मौन धारण करने, मन-वचन-कायकी गुप्तियुक्त आत्मध्यानमें तत्पर होनेकी अपेक्षा मुनि कहलाते हैं। आत्म-ध्यानके बलसे अनेक प्रकारकी मनःपर्यय, अक्षीण-महानस,

---

*म्लेछखण्डका उपजा पुरुष चक्रवर्ती आदिके साथ आर्यखण्डमें आकर महाव्रत धारण कर सकता है (लब्धिसार जी) ॥

चारण आदि ऋद्धियां प्राप्त करनेकी अपेक्षा ऋषि कहलाते हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय-कषायोंको जीतनेकी अपेक्षा संयत और तेरह प्रकार चारित्र पालनेके लिए यत्न करनेकी अपेक्षा यति कहलाते हैं"॥ तथा चारित्रसारमें ऐसा कहा है कि "सामान्यपने निज गुणके साधक अनगार, उपशम-क्षपक श्रेणीमें आरूढ़ यति, अवधिज्ञानी मनःपर्यय-ज्ञानी मुनि और जो ऋद्धियुक्त होते हैं सो ऋषि कहे जाते हैं"॥

पुन. मुनियोंके पदस्थ अपेक्षा आचार्य, उपाध्याय, साधु तीन भेद होते हैं। इन्हींसे संघका निर्वाह तथा उत्तरोत्तर ज्ञान ध्यानकी वृद्धि होती है। इनका स्वरूप इस प्रकार है: –

आचार्य—जो स्वतः ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, वीर्याचार, तपाचार इन पंचाचार रूप प्रवर्तते तथा संघके सब मुनिसमूहको प्रवर्ताते और दीक्षा-प्रायश्चित्तादि देते हैं। जिस प्रकार राजा, प्रजाकी कुशलताकी वृद्धि तथा रक्षा करता है उसी प्रकार ये अपने संघके आचार और रत्नत्रयादिकी रक्षा और वृद्धि करते हैं॥ उपाध्याय—जिस प्रकार अध्यापक शिष्योंको पठन-पाठन द्वारा ज्ञानकी वृद्धि कराता और स्वयं ज्ञान की वृद्धि केलिए पठन-पाठन करता है, उसी प्रकार उपाध्याय सर्व संघ को अंग-पूर्वादि शास्त्रोंका ज्ञान कराते और स्वयं पठन-पाठन करते हैं॥ साधु--जो आत्मस्वरूपको साधते और आचार्यकी आज्ञानुसार आचरण करते तथा उपाध्यायकी इच्छानुसार पढ़ते हैं। इस प्रकार पदस्थ अपेक्षा भेद होते हुए भी आत्म-स्वरूपका साधन तीनों प्रकारके मुनियोंमें सामान्यरीतिसे एक सा ही होता है, इसलिए सभी साधु हैं॥

सामान्यरीतिसे यद्यपि सब ही साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं महाव्रतोंयुक्त, नग्नदिगंबर (निर्ग्रन्थ) २८ मूलगुणोंके धारी होनेसे एक ही प्रकारके होते हैं, तो भी चारित्र-परिणाम

की हानि वृद्धि अपेक्षा इनके पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, और स्नातक ये पांच भेद हैं।

(१) पुलाक—जिनका मन उत्तरगुणोंकी भावना रहित हो, जो किसी क्षेत्र-काल के आश्रय व्रतोंमें कदाचित दोष होने से परिपूर्णताको नहीं प्राप्त होते हुए अविशुद्ध (बिना धोये हुए तंदुलके समान) हों। भावार्थ--जिनके परवश तथा बरा-जोरीसे कोई मूलगुण सदोष हो ॥ ये सामायिक, छेदोपस्थापना संयमके धारक और पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभलेश्यायुक्त होते हैं। मरने पर बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

(२) बकुश—जिनके महाव्रत अखंडित होते हों। सराग संयमकी विशेषतावश धर्मभावनाके निमित्त जिनके शरीर तथा पीछी, कमंडलादि उपकरणोंकी सुन्दरताकी इच्छारूप ऐसे भाव होते हों, कि हमारे संयमादिके संस्कारसे शरीर ऐसा सुन्दर हो, जिसके देखनेसे देवोंके सम्यक्त्व हो जाय, मनुष्योंके संयम हो जाय। इसी प्रकार ये वीतरागतासूचक धर्मोपकरण रखते और उन्हें इस प्रकार सुधारते-सम्हालते हैं, जिनके देखनेसे दूसरों के वीतरागता प्रगट हो जाय। इनका चारित्र चित्रवर्ण कहा है; क्योंकि वीतराग होते हुए, विविध विषयोंके ग्राहक शिष्य-समूह-युक्त होते हैं, शिष्यशाखामें राग होता है। ये सामायिक-छेदोपस्थापना संयमके धारक होते हैं। छहों लेश्यायुक्त होते हैं, मरकर सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

(३) कुशील—इनके दो भेद हैं। (१) प्रतिसेवना कुशील-जिनके शिष्य-शाखादि अप्रगट हैं। यद्यपि मूलगुणों, उत्तर-गुणोंमें परिपूर्णता है तथापि कोई कारण-विशेष वश उत्तर-गुणोंकी विराधना होती है। सामायिक, छेदोपस्थापना संयमके धारक होते, छहों लेश्यायुक्त होते, मरकर सोलहवें स्वर्ग तक

जाते हैं। (२) कषाय कुशील—जो संज्वलन कषाययुक्त होते, शेष कषायोंको जिनसे वश किया है, प्रमाद रहित होते। परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय संयमके धारक होते। सामायिक, छेदोपस्थापना संयम भी होता है। परिहारविशुद्धि वालेके कापोत-पीत-पद्म-शुक्ल चार लेश्या होतीं हैं। सूक्ष्मसांपराय संयमी के एक शुक्ल लेश्या ही होती है। मरकर सर्वार्थसिद्धि तक जाते हैं।

(४) निर्ग्रन्थ—जिनके जलमें लहर अथवा दंडकी लीक के समान कर्मका उदय प्रगट नहीं है। मोहनीय कर्म का अभाव हुआ है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मका उदय है। जिनके उपयोगकी गति मन्द होगई है, व्यक्त (अनुभवगोचर) नहीं हैं। जिनके अंतर्मुहूर्त पीछे केवल ज्ञान उपजने वाला है। ये यथाख्यात-संयमके धारक होते, शुक्ल-लेश्यायुक्त होते. मरकर सर्वार्थसिद्धि पर्यंत जाते हैं।

(५) स्नातक—चारों घातिया कर्मोंके सर्वथा अभाव-युक्त केवली सयोगी-अयोगी दो भेदरूप होते हैं। ये यथाख्यात-संयमके धारक होते। शुक्ललेश्यायुक्त होते हैं। मोक्षके पात्र होते हैं।

मुनियोंके उत्सर्ग-अपवाद दो मार्ग कहे गये हैं। (१) उत्सर्गमार्ग—जहां शुद्धोपयोगरूप परम-वीतराग संयम होता है। (२) अपवादवर्ग—जहां शुद्धोपयोग के बाह्य-साधन आहार-विहार-निहार, कमंडल-पीछी, शिष्य-शास्त्रादिके ग्रहण-त्यागयुक्त शुभोपयोग रूप सरागसंयम होता है। इनमें अपवाद-मार्ग, उत्सर्गमार्गका साधक होता है।

साधुके २८ मूलगुण

आगममें साधु (मुनि) का लक्षण इस प्रकार कहा है—
"जो पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त. आरम्भ-परिग्रह रहित और ज्ञान ध्यान-तपमें लवलीन हो, सो ही साधु है।"
भावार्थ—आत्मस्वरूपमें लवलीन होनेका बाधक कारण आरंभ-परिग्रह और इन्द्रिय-विषयोंकी लोलुपता है। इन्हींके निमित्तसे जीवके कषायोंकी उत्पत्ति होती और आत्मध्यानमें चित्तवृत्ति स्थिर नहीं रहसकती, अतएव इनको त्याग आत्म-ज्ञानपूर्वक ध्यान में लवलीन रहना ही साधुका कर्तव्य है। इस इष्टसिद्धिके लिये साधुको नीचे लिखे शास्त्रोक्त २८ मूलगुण धारण करना चाहिये। यथा: पंच महाव्रत, पंच समिति, पंच इन्द्रियों का दमन, सामायिकादि षटकर्म. केशलौंच, आचेलक्य, अस्नान, भूमि-शयन, अदन्तघर्षण, खड़े खड़े भोजन और एक भुक्ति। इन मूलगुणोंके भली भांति पालनेसे आत्मा के ८४ लाख उत्तरगुणों-की उत्पत्ति होती है, जिनका वर्णन आगे किया गया है॥ जिस प्रकार मूल बिना वृक्ष नही ठहर सकता और न विस्तृत व हरा भरा हो सकता है उसी प्रकार मूलगुणोंके समुचित पालन किये बिना न तो मुनिधर्मका ही साधन हो सकता, और न उत्तरगुणोंकी उत्पत्तिही होसकती है। अतएव मुनिधर्म धारणकर आत्म स्वरूप साध, परमात्मा होनेके इच्छुक भाग्य-वानों को ये २८ मूलगुण यथार्थ रीति से पालन करना अत्या-वश्यक है।

पंचमहाव्रत

जिनका आचरण पूर्णरूपेण सावद्यकी निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्तिके लिए किया जाय, सो महाव्रत हैं। अथवा जिनका आचरण महाशक्तिवान्. पुण्यवान् पुरुष ही कर सकें सो

महाव्रत हैं। अथवा जो इन महाव्रतों को धारण करे, सो महान् हो जाता है ऐसे ये स्वयंही महान् हैं, इसलिए महाव्रत हैं। इस प्रकार हिंसादि पंच पापोंके सर्वथा त्यागरूप सकलसंयम (चारित्र) के साधक महाव्रत पांच प्रकार हैं।

(१) अहिंसामहाव्रत—षट्कायके जीवोंकी हिंसा नहीं करना अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति कायिक (स्थावर जीव) तथा दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय. पचेन्द्रिय (त्रस जीव) इन सबको जीवत्वकी अपेक्षा समान जान. इन की हिंसा न करनी, रक्षा करना-दयाभाव रखना सो द्रव्य हिंसाविरति और रागद्वेषका त्याग सो भाव हिंसाविरति है। भावार्थ—प्रमत्तयोगपूर्वक द्रव्य और भाव प्राणोंके घातका सर्वथा त्याग सो अहिंसा महाव्रत है।

(२) सत्यमहाव्रत-- प्रमत्तयोगपूर्वक असत्यवचनका सर्वथा त्याग सो सत्यमहाव्रत है।

(३) अचौर्यमहाव्रत—प्रमत्तयोगपूर्वक बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करनेका सर्वथा त्याग सो अचौर्यमहाव्रत है॥ यद्यपि अचौर्यका अभिप्राय अदत्तग्रहणका त्याग मात्र है अर्थात् किसी का पड़ा हुआ, भूला हुआ, रक्खा हुआ, बिना दिया हुआ पदार्थ न लेवें। तथापि मुनि. धर्मोपकरण तथा भोजनके सिवाय अन्य कोई वस्तु दी हुई भी न लेवें,यदि लेवें तो अचौर्य महाव्रत नष्ट हो जाता है; क्योंकि साधु सर्वथा सर्व प्रकार परिग्रहके त्यागी हैं।

(४) ब्रह्मचर्यमहाव्रत—वेदके उदय जनित मैथुन सम्बंधी सम्पूर्ण क्रियाओंका सर्वथा त्याग सो ब्रह्मचर्यमहाव्रत है। वहां सर्व प्रकारकी स्त्रियोंमें विकार भावका अभाव सो द्रव्य-ब्रह्मचर्य और स्वात्मस्वरूपमें स्थिति सो निश्चय ब्रह्मचर्य है।

(५) परिग्रहत्यागमहाव्रत—परद्रव्य एवं तत्सन्बन्धी मूर्छा-का अभाव सो परिग्रहत्यागमहाव्रत हैं। वहां चेतन, अचेतन

दोनों प्रकारके परिग्रहका अथवा १ खेत (जमीन) २ वास्तु (मकानात) ३ चांदी ४ सोना ५ पशु ६ अनाज ७ नौकर ८ नौकरानी ९ वस्त्र १० बर्तन इन दश प्रकार बाह्य-परिग्रहोंका तथा १ क्रोध २ मान ३ माया ४ लोभ ५ हास्य ६ रति ७ अरति ८ शोक ९ भय १० जुगुप्सा (घृणा) ११ स्त्रीवेद १२ पुरुषवेद १३ नपुंसकवेद १४ मिथ्यात्व इन चौदह प्रकार अंतरंगपरिग्रहोंका त्याग सो परिग्रहविरति है यद्यपि यहां संज्वलन कषाय का सर्वथा अभाव नहीं हुआ तथापि अभाव करनेके सन्मुख हैं।

प्रगट रहे कि श्री तत्वार्थसूत्रमें अहिंसादि पांचों व्रतोंकी पांच २ भावना कही गई हैं जिनके यथायोग्य चिंतवन करनेसे अणुव्रतों-महाव्रतोंकी रक्षा होती तथा उनमें दृढ़ता पहुंचती है, इसलिये वे व्रती पुरुषोंके वार २ चिंतवन करनेके योग्य हैं। यहां प्रकरणानुसार महाव्रतोंकी भावनायें कही जाती हैं।

१ अहिंसामहाव्रतकी पांच भावना-- १ वचनगुप्ति, २ मनोगुप्ति, ३ ईर्यासमिति, ४ आदान-निक्षेपणसमिति, ५ एषणासमिति।

सत्यमहाव्रतकी पांच भावना—१ क्रोधका त्याग, २ लोभका त्याग, ३ भय का त्याग, ४ हास्य का त्याग ५ सूत्रके अनुसार वचन बोलना।

अचौर्यमहाव्रतकी पांच भावना—१ सूने घर में वास, करना (२) दूसरोंकी छोड़ी हुई जगहमें रहना (३) दूसरोंको वस्तिकामें आनेसे न रोकना, या किसीके रोके हुए स्थानमें न जाना (४) शास्त्रोक्त रीतिसे ४६ दोष, ३२ अंतराय १४ मलदोष टाल आहार ग्रहण करना (५) धर्मात्माओंसे कलहविसम्वाद न करना।

ब्रह्मचर्यमहाव्रतकी पांच भावना—(१) स्त्रियोंमें राग

उत्पन्न करनेवाली कथा-वार्ता सुननेका त्याग करना (२) स्त्रियोंके मनोहर अंग देखनेका त्याग करना (३) महाव्रत धारण करनेके पूर्व भोगे हुए भोगोंका स्मरण न करना (४) पुष्ट-कामोत्तेजक आहार न करना (५) शरीरका स्नानादि संस्कार न करना।

परिग्रहत्याग महाव्रतकी पांच भावना—पांचों इन्द्रियोंके भले-बुरे विषयोंमें राग-द्वेष न करना।

पांच समिति

सम् अर्थात् भलेप्रकार, सम्यक्, शास्त्रोक्त, इति कहिये गमनादिमें प्रवृत्ति सो समिति है। इसमें समीचीन चेष्टा सहित आचरण होता है इसलिये ये व्रतोंकी रक्षक और पोषक हैं। ये पांच हैं, यथाः—

(१) ईर्यासमिति—जो मार्ग मनुष्य-पशु आदिके गमनागमनसे खुँदगया हो, सूर्यके आतापसे तप्त होगया हो, हल-बखर आदिसे जोता गया हो तथा मसानभूमि हो, ऐसे प्राशुकमार्गसे प्रमाद रहित होकर, दिनके प्रकाशमें चार हाथ प्रमाण भलीभांति निरखते हुए प्राणियोंको न विराधते हुए, शास्त्रश्रवण, तीर्थयात्रा, गुरु-दर्शन आदि धर्म-कार्यों तथा आहार-विहार-निहारादि आवश्यक कार्योंके निमित्त गमन करना सो ईर्यासमिति कहलाती है।

इसके अतीचार*—गमन करते समय भूमिका भलीभांति अवलोकन नहीं करना। पर्वत, वन, वृक्ष, नगर, बाजार, तिर्यंच मनुष्यादिको अवलोकन करते हुए चलना।

(२) भाषासमिति—सर्व प्राणियोंके हितकारी, सुख उप-

---

*श्री मूलाचारके अनुसार ये अतीचार लिखे गये हैं॥

जानेवाले, प्रामाणिक, शास्त्रोक्त, विकथा वर्जित वचन बोलना। लौकिक, कर्कश, हास्यरूप, परनिन्दक, स्वात्मप्रशंसक प्राणियोंको संक्लेश-दुःख हानि उपजानेवाले वचन न बोलना, सो भाषा-समिति कहलाती है।

इसके अतीचार—देशकालके योग्यायोग्यविचार किये बिना बोलना, बिना पूछे बोलना, पूरा सुने जाने बिना बोलना॥

(३) एषणा समिति—आहार ग्रहणकी प्रवृत्तिको एषणा कहते हैं। सो ४६ दोष, ३२ अन्तराय, १४ मल दोष टालकर उत्तम त्रिकुल अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके घर तपचारित्र बढ़ानेके लिये शीत-उष्ण, खट्टे मीठेमें समभावसहित, शरीर-पुष्टि और सुन्दरताके प्रयोजनरहित मन-वचन-काय, कृत-कारित अनुमोदना रूप नव कोटिसे शुद्ध, अपने निमित्त न किया हुआ ऐसा अनुद्दिष्ट आहार लेना, सो एषणासमिति कहलाती है।

इसके अतीचार—उद्गमादि दोषोंमेसे कोई दोष लगाकर भोजन करना। अतिरसकी लम्पटतासे प्रमाणाधिक भोजन करना।

सूचना—आहार सम्बन्धी ४६ दोषोंका वर्णन अतिथि-संविभाग व्रतमें हो चुका है तथा आगे मुनिके आहारके वर्णनमें भी आवेगा, वहां देखकर श्रावकों तथा उद्दिष्टत्यागी आदि पात्रोंको दाता-पात्र-और आहारके आश्रय उत्पन्न होनेवाले दोषोंसे बचना चाहिये, अन्यथा शिथिल होनेसे चारित्रमें दूषण आता है।

(४) आदान-निक्षेपणसमिति—रक्खी हुई वस्तु उठानेको आदान और ग्रहणकी हुई वस्तु रखनेको निक्षेपण कहते हैं। जिससे किसी जीवको बाधा न पहुंचे, उस प्रकार ज्ञानके उपकरण कमण्डल तथा संस्तरादिको यत्नपूर्वक उठाना, रखना सो आदान-निक्षेपणसमिति है।

इनके अतीचार—भूमि-शरीर तथा उपकरणोंको शीघ्रतासे उठाना-धरना, अच्छी तरह नेत्रोंसे नहीं देखना, वा मयूर-पिच्छिकासे अच्छी तरह प्रतिलेखन नहीं करना, उतावलीसे प्रतिलेखन करना।

(५) प्रतिष्ठापनासमिति—जीव-जन्तु रहित तथा एकान्त (जहां असंयमी पुरुषोंका प्रचार न हो) अचित्त (हरित-कायादि रहित) दूर, छिपे हुए। (गुप्त) विशाल (बिल, छिद्र रहित) अविरोध (जहां रोक-टोक न हो) ऐसे मलमूत्ररहित निर्दोषस्थानमें मल-मूत्र-कफादि क्षेपण करना, सो प्रतिष्ठापना-समिति कहलाती है।

इसके अतीचार—अशुद्ध, बिना-शोधी भूमिमें मल-मूत्र-कफादि क्षेपना।

पंचेन्द्रिय-निरोध

स्पर्शनादि पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें लोलुपता होनेसे असंयम तथा कषायोंकी वृद्धि होकर चित्तमें मलिनता तथा चंचलता होती है, इसलिये जिनको चित्त निर्मल तथा आत्मस्वरूपमें स्थिर करना है, आत्मस्वरूपको साधना है, ऐसे साधु-मुनियोंको कषायों के उत्पन्न न होने देनेके लिये पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे सर्वथा विरक्त होना चाहिये। इसी प्रकार इन पंचेद्रियोंको कुमार्गमें गमन कराने वाले चंचल मनको भी वश करना अत्यावश्यक है। यद्यपि मन किसी रसादि विषयको ग्रहण नहीं करता, तथापि इन्द्रियोंको विषयोंकी तरह झुकाता है॥ इस तरह इन्द्रियों तथा मनके विषयों में राग-द्वेषरहित होना इन्द्रिय-निरोध कहलाता है। इनका पृथक् पृथक् स्वरूप इस प्रकार है।

(१) स्पर्शन इन्द्रिय निरोध—चेतन-पदार्थ स्त्री, पुत्रादि, अचेतन-पदार्थ वस्त्र, शय्यादि सम्बन्धी स्पर्शनइन्द्रीके विषयभूत

कठोर-कोमल, शीत-उष्ण, हलके-भारी, चिकने-रूखे पदार्थोंमें रागद्वेष न करना।

(२) रसना-इन्द्रिय निरोध—अशन-पान, खाद्य-स्वाद्य चार प्रकार इष्ट-अनिष्ट आहार तीखे, कडुवे, कषायले, खट्टे, मीठे पंच रसरूप आहारमें रागद्वेष नहीं करना।

(३) घ्राण इन्द्रिय निरोध—सुख-दुखके कारणरूप सुगंधित, दुर्गन्धित पदार्थोंमें रागद्वेष न करना।

(४) चक्षु इन्द्रिय निरोध—कुरूप सुरूप, सुहावने-भयावने, रागद्वेषके उत्पादक पदार्थोंको तथा लाल, पीले, हरित, रक्त, सफेद आदि रंगोंको देखकर रागद्वेष न करना।

(५) श्रोत्र इन्द्रिय निरोध—चेतन स्त्री, पुरुष, पशु आदि, अचेतन मेघ-बिजली आदि और मिश्र तबला-सारंगी आदिसे उत्पन्न शुभअशुभ, प्रशंसा-निन्दा आदिके शब्द सुनकर राग-द्वेष न करना॥

षट्आवश्यक

अवश्य करने योग्यको आवश्यक कहते हैं, मुनियोंके ये षट्आवश्यक समस्त कर्मोंके नाश करनेको समर्थ हैं। यद्यपि मुनिराज नित्य ही ये षट्कर्म करते हैं, तथापि ध्यान-स्वाध्यायकी इनके मुख्यता है। ये षट्कर्म इस प्रकार हैं:—

(१) समता अर्थात् सामायिक—भेदज्ञानपूर्वक समस्त सांसारिक पदार्थोंको अपने आत्मासे पृथक जान तथा आत्म-स्वभावको रागद्वेषरहित जान जीवन-मरण, लाभ-अलाभ संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दुखमें समानभाव रखना तथा कर्मोंके शुभा-शुभ उदयमें रागद्वेष न करना।

(नोट)—मुनि इस प्रकार समता रूप सामायिक चारित्रके धारक होते हुए भी नित्य त्रिकाल-सामायिक करते हैं इसलिये

यहां प्रकरणवश इनके सामायिक सम्बन्धी ३२ दोष कहे जाते हैं।

सामायिक के ३२ दोष

(१) अनादर दोष—सामायिकका क्रियाकर्म निरादरपूर्वक वा अल्पभावसे करना॥ (२) तप्तदोष—विद्या आदि गर्वसंयुक्त उद्धततापूर्वक सामायिक करना (३) प्रविष्टदोष—अति असंतुष्टतापूर्वक पंचपरमेष्ठीका ध्यान करना॥ (४) परिपीड़ित दोष-दोनों गोड़ोंके प्रदेशोंको स्पर्शना-पीड़ना (मसकाना)॥ (५) दोलायतदोष—आपको चंचल करके संशयसहित सामायिक करना॥ (६) अंकुशदोष—हाथकी अंगुलियोंको अंकुशके सदृश ललाटसे लगाकर वन्दना करना॥ (७) कच्छपदोष—कटिभाग-को कछुएकी तरह ऊंचा करके सामायिक करना॥ (८) मत्स्य-दोष—मछलीकी तरह कमरको नीची ऊंची अगल बगलको पलटना (९) मनोदुष्टदोष—हृदयको दुष्टरूप, क्लेश रूप करके सामायिक करना (१०) वेदिकाबद्ध दोष—अपने हाथोंसे अपने दोनों घुटनोंको बांधकर मसकना॥ (११) भयदोष—मरणा-दिकके भयसहित सामायिक करना। (१२) विभतिदोष—परमार्थको जाने बिना गुरुके भयसे सामायिक करना। (१३) ऋद्धिगौरवदोष—अपने संघके गौरवकी इच्छा कर सामायिक करना। (१४) गौरवदोष—सुखके निमित्त आसनआदिकर अपना गौरव प्रकट करना। (१५) स्तेनितदोष—गुरुसे तथा अन्यसे छिपकर सामायिक करना, (१६) प्रतिनीकदोष—देव, गुरुसे प्रतिकूल होकर सामायिक करना। (१७) प्रदुष्टदोष—अन्य सामायिक करे उससे द्वेष, वैर, कलह करके सामायिक करना। (१८) वर्जितदोष—अन्यको भय उपजाकर सामायिक करना। (१९) शब्ददोष—मौनको छोड़ बातें करते हुए सामायिक करना।

(२०) हीलतदोष–आचार्य तथा अन्य साधुओंका अपमान करते हुए सामायिक करना। (२१) त्रिबलिदोष––ललाटकी तीन रेखा चढ़ाकर सामायिक करना। (२२) संकुचितदोष—दोनों हाथोंसे माथा पकड़कर संकोच रूप होना॥ (२३) दृष्टिदोष––अपनी इच्छापूर्वक दशों दिशाओंमें अवलोकन करना। (२४) अदृष्टदोष–आचार्यादिकसे छिपकर और अनेक जनोंके सम्मुख प्रतिलेखन करना। (२५) करमोचनदोष–संघके रंजन निमित्त तिनकी भक्ति वांछारहित सामायिक करना। (२६) आलब्धदोष—जो उपकरण मिल जाय तो सामायिक करना। (२७) अनालब्धदोष–उपकरणादिकी वांछायुक्त सामायिक करना। (२८) चंदन-चूलिकादोष—थोड़े ही कालमें जल्दीसे सामायिक कर लेना। (२९) उत्तरचूलिकादोष—आलोचनामें अधिक काल लगाकर सामायिकको थोड़े ही कालमें पूर्ण करना। (३०) मूक-दोषके समान मुख मटकाके, हुंकारा आदि करके अंगुली आदिकी समस्या बताना। (३१) दर्दुरदोष-अपने शब्द, परके शब्द विषै मिलाते, रोकते, बड़े गले करके सामायिक करना (३२) चुचूलतदोष—एक ही जगह बैठकर सबकी वन्दना पंचम-स्वर (अति उच्च स्वर)से करना।

(२) वन्दना—चौबीस तीर्थकरोंमेंसे एक तीर्थकी वा पंच-परमेष्ठीमें एककी मुख्यता करके स्तुति करना तथा अर्हन्तप्रतिमा, सिद्धप्रतिमा, तपोगुरु, श्रुतगुरु, दीक्षागुरु, दीक्षाधिकगुरुको प्रणाम तथा उनकी मन-वचन कायकी शुद्धतापूर्वक स्तुति करना।

(३) स्तुति या स्तवन—चौबीस तीर्थकारोंकी स्तुति करना॥

(४) प्रतिक्रमण—आहार, शरीर, शयन, आसन, गमनागमन और चित्तके व्यापारसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके आश्रय

अतीतकालमें लगे हुए व्रत-सम्बन्धी अपराधोंका शोधना, निन्दा-गर्हायुक्त अपने अशुभ योगोंसे निवृत्त होना अर्थात् अशुभ परिणामपूर्वक किये हुए दोषोंका परित्याग करना सो प्रतिक्रमण है। वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ईर्यापथिक, उत्तमार्थ भेदसे सात प्रकारका होता है। इसी भांति वर्तमानमें लगे हुए दोषोंका निराकरण सो प्रायश्चित्त तथा भविष्यमें ऐसे अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा सो प्रत्याख्यान कहलाता है।

(५) कायोत्सर्ग—शरीरसे ममत्व छोड़ खड़े होकर या बैठकर शुद्धात्मचिंतन करना, सम्यक्त्वादि रत्नत्रयगुणोंकी भावना सहित होकर शरीरसे निर्ममत्व होना ॥

(६) स्वाध्याय—वांचना, पृच्छनादि पंच प्रकारसे शास्त्रोंका अध्ययन अथवा आत्मचिंतन करना।

केशलौंच*

अपने हाथसे शिर, डाढ़ी, मूछोंके केशोंका उखाड़ डालना, सो केशलौंच कहलाता है।

यह क्रिया उत्कृष्ट २ माहमें, मध्यम ३ माहमें, जघन्य चार माहमेंकी जाती है। लौंचके दिन प्रतिक्रमणसहित उपवास करना चाहिये।

लौंचसे लाभ—सम्मूर्छन जीवोंकी हिंसाका परिहार, शरीर से निर्ममत्व, वैराग्य,वीर्यशक्ति तथा मुनिलिंगके गुण निर्ग्रंथपने

---

*शास्त्रोंमें 'पंचमुष्टी लौंच कीनों' ऐसा कहा है उसका भाव वृद्ध विद्वानों द्वारा ऐसा सुना गया है कि दीक्षासमय, शरीरसे निर्ममता प्रगट करनेको पहिले नेगमात्र दो मूठी मूंछोंकी, दो दाढ़ीकी और १ शिरकी लौंच करते, पीछे शेष सबका लौंच कर डालते हैं।

की प्रगटताके लिये केशलौंच किया जाता। इससे आत्मा वशीभूत होता, शरीरसम्बन्धी सुखमें आसक्तता नहीं होती; स्वाधीनता नष्ट नहीं होती, संयम नहीं बिगड़ता, धर्ममें श्रद्धा, प्रतीति होती तथा कायक्लेश तप होता है।

आचेलक्य

चेल, वस्त्रको कहते हैं। निरवद्य मुनिधर्मके विराधक-कपास रेशम; सन, टाट आदि वनस्पतिके वस्त्रों तथा मृग व्याघ्र आदिसे उत्पन्न मृगछालादि चर्म व वृक्षोंके पत्र-छाल आदि द्वारा शरीरको आच्छादित नहीं करना और उन्हें मन-वचन-कायसे त्यागना, सो आचेलक्य गुण है।

यद्यपि परिग्रह-त्यागमें ही यह आचलक्य-गुणगर्भित होता है तथापि अन्यमतोंमें वस्त्रको परिग्रह नहीं गिना, इसलिये अथवा आर्यिकाको वस्त्र धारण करनेके कारण उपचारसे महाव्रत ग्रंथोमें कहा हैं इसलिये यथार्थ महाव्रतीके लिये परिग्रह-त्यागसे प्रथक ही वस्त्रत्याग मूलगुण कहा है।

निर्ग्रंथ लिंगसे लाभ—इससे कामविकारका अभाव होता, शरीरमें निर्ममता होती, संयमके विनाशका अभाव होता, हिंसादि पापोत्पत्तिका अभाव होता, ध्यान में विघ्नका अभाव होता, -जगतमें प्रतीति होती, अपनी आत्मामें स्थिति होती, गृहस्थपनेसे पृथकता प्रकट होती, परिग्रहमें मूर्छा नहीं होती, बहुत शोधना नहीं पड़ता, भय नहीं होता, जीवोंकी उत्पत्ति वा हिंसा नहीं होती। याचना, सींना, प्रक्षालना, सुखाना आदि ध्यान—स्वाध्यायमें विघ्नके कारण उत्पन्न नहीं होते। शीत-उष्णादि परीषहोंका जय, उपस्थइन्द्रीका वशीकरण होता है। यह मुद्रा जिनेन्द्रमुद्राका प्रतिबिम्ब है।

अस्नान

जल्ल (सर्व अंग पर जो मल हो, जैसे धूल-पसेव आदि) तथा मल (जो एक ही अंगमें लगा हो, जैसे पांवमें कीचड़ लगजाना आदि)युक्त शरीर होने पर भी स्नान, विलेपन, जल-सिंचन आदि शरीरसंस्कार न करनेको अस्नातगुण कहते हैं॥ परन्तु साधुको मल-मूत्रादि सम्बधी शुद्धता, षट् आवश्यक आदिके निमित्त करना आवश्यक है।

अस्नानगुणसे लाभ—कषयानिग्रह, इन्द्रियनिग्रह तथा इन्द्रियसंयमके निमित्त अस्नान मूलगुण हैं, इससे मल-परिषह-काजीतना भी होता है।

क्षितिशयन

जीवादि रहित प्राशुकभूमिमें संस्तररहित अथवा जिससे संयमका घात न हो, ऐसे अल्पमात्र तृण-काष्ठके पटिये (फलक) पर या शिलामय संस्तर पर (जो आपके द्वारा या अन्य महाव्रतीके द्वारा किया गया हो, हिलता न हो, कोमल तथा सुन्दर न हो) एकान्तस्थानमें प्रछन्न औंधे अथवा सीधे रहित एक पसवाडे दंड अथवा धनुषके समान शयन करना, सो क्षितिशयन गुण कहलाता है।

क्षितिशयनसे लाभ—शरीरसे निर्ममत्व, तपकी भावना, संयमकी दृढता, निषद्या-शय्या-तृणस्पर्श आदि परिषहोंका जीतना, शरीरके सुखियापने तथा प्रमादका अभाव होता है॥

अदन्तधावन

हाथकी अंगुली, नख, दतौन, तीक्ष्ण कंकर, वृक्षकी छाल आदि द्वारा दांतोंका शोधन न करना,सो अदन्तधावन कहलाता है।

अदन्तधावनसे लाभ--इन्द्रिसंयमकी रक्षा होती, वीतरागता प्रकट होती और सर्वज्ञकी आज्ञाका पालन होता है।

स्थितभोजन

भींत आदिके आश्रय विना, दोनों पांवोंमें चार अंगुलका अन्तर रखकर, समपाद खडे होकर, ४६ दोष, ३२अंतराय, १४ मलदोष टालकर, पाणिपात्र आहार लेनेको स्थिति-भोजन गुण कहते हैं। खड़े भोजन लेनेका प्रयोजन यह है कि जबतक हाथ पांव चलें और धर्मध्यान सधे, तबतक शरीरको आहार देना। बैठकर, दूसरे के हाथसे या बर्तनद्वारा आहार नहीं करना पाणिपात्रसे ही करना, जिससे अंतराय होने पर हाथका ग्रासमात्र भोजन छोड़ना पड़े, अधिक नहीं।

स्थितभोजनसे लाभ—हिंसादि दोषोंकी निवृत्ति होती, इन्द्रियसंयम तथा प्राणसंयमका प्रतिपालन होता है।

एकभुक्ति

तीन घडी दिन चढे पीछे, तीन घडी दिन रहे पहिले, मध्यमें १, २, ३, मुहूर्त कालके भीतर २ दिवसमें केवल एक बार ही अल्प आहार लेनेको एक भुक्ति गुण कहते हैं।

एकभुक्तिसे लाभ—इन्द्रियोंके जीतने तथा आकांक्षाकी निवृत्तिके लिये एकभुक्ति व्रत है॥

(नोट) इन उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणोंके विधिपूर्वक पालन करनेसे इन्द्रियसंयम* और प्राणिसंयम* दोनोंकी भलीभांति

---

*पांचों इन्द्रियों, छठा मनके विषयोंसे राग घटजाना या तत्संबन्धी रागका बिलकुल अभाव होजाना सो इन्द्रियसंयम और छहकायके जीवोंकी विराधनाका अभाव अर्थात् योगकी यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति अथवा संवर होजाना सो प्राणिसंयम है।

सिद्धि होती है, स्वाधीनता, निराकुलता बढ़ती, धर्ममें प्रवृत्ति भलीभांति होती, उपयोग स्थिर और निर्मल होता है, यही योग्यता मोक्षप्राप्तिके लिये मूलकारण और मोक्षका स्वरूप है ॥

मुनिके आहार—विहारका विशेष

भोजन करनेके कारण:—(१) क्षुधा वेदनाके उपशमनार्थ (२) षट आवश्यकोंके पालननिमित्त (३) चारित्रपालनार्थ (४) इन्द्रियसंयमनिमित्त (५) प्राण रक्षार्थ उत्तमक्षमादि धर्म-पालननिमित्त। इन छः कारणोंसे साधु आहार लेते हैं।

भोजन न करनेके कारण:—(१) युद्धादिककी शक्ति उत्पन्न होनेको (२) आयुकी वृद्धि होनेको (३) स्वादके लिये (४) शरीर पुष्ट होनेको (५) मोटे (मस्त) होनेको (६) दीप्तिवान होनेको। इन छः प्रयोजनोंसे साधु आहार नहीं लेते।

आहार त्याग करनेके कारणः—(१) अकस्मात् मरणान्त समय एकसी वेदना उपजने पर आहार त्यागे (२) दीक्षाके विनाशके कारण उपसर्ग होनेसे आहार त्यागे। ब्रह्मचर्यकी रक्षामें बाधा होती देखे तो आहार त्यागे। (४) प्राणियोंकी दया निमित्त आहार त्यागे (५) अनशन तप पालनेके निमित्त आहार त्यागे (६) शरीर परिहार अर्थात सन्यास-मरणके निमित्त आहार त्यागे ॥

भिक्षाको जानेकी पद्धतिः—साधु योग्यकालमें भिक्षाके लिये वनसे नगरमें आवे, उसे यह बात जानना जरूर है कि इस देश में भोजनका काल कौनसा है? नगर-ग्रामादिको अग्नि, स्वचक्र, परचक्रके उपद्रव, राजादि महंत पुरुषोंके मरण, धर्ममें उपद्रव आदि चुक जाने या महान् हिंसा होती हो तो भोजनको न जाय। जिस काल चक्की, मूसलादिका शब्द मन्द पड़ जाय, उस समय मल-मूत्र आदिकी बाधा मेट, पीछी, कमंडल ग्रहण

कर गमन करे। मार्गमें किसीसे वार्तालाप न करे, यदि आवश्यकता ही हो, तो खड़े होकर योग्य और थोड़े शब्दोंमें उत्तर दे। दुष्ट मनुष्य-तिर्यंच, पत्र, फल, पुष्प, बीज जल, कीच जिस भूमिमें हों, वहां गमन न करे। दातार तथा भोजनका चिंतवन न करे। अंतराय कर्मके क्षयोपशमके आधीन लाभालाभको विचार धर्मध्यान सहित चार आराधनाको आराधता भिक्षाके निमित्त गमन करे। जाते समय योग्यतानुसार व्रत-परिसंख्यान-प्रतिज्ञा अंगीकार करे। भिक्षाके निमित्त लोकनिंद्य कुलमें न जाय। दानशाला, विवाहस्थान, मृतक सूतकस्थान, नृत्य-गान-वादित्रस्थान, रुदनस्थान, विसंवाद, एवं द्यूतक्रीड़ाके स्थानमें न जाय। जहां अनेक भिक्षुक एकत्र हो रहे हों, किवाड़ लगे हों, मनुष्योंकी भीड़ हो, सकड़ा मार्ग हो, जहां आने-जानेकी कठिनाई हो, ऊंट, घोड़ा, बैल आदि पशु खड़े हों, या बंधे हों, घुटनोंसे ऊंचा चढ़ने तथा ठूठी (टुंडीसे) नीचा माथा करके उतरने योग्य स्थानमें साधु भोजनको न जाय। दीन-अनाथ, निंद्यकर्म द्वारा आजीविका करनेवालोंके गृह न जाय। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन उत्तम कुलवालोंके गृहके आंगने तक जाय, जहांतक किसीके आने-जानेकी रोक न हो। आशीर्वाद, धर्मलाभादि न कहे, इशारा न करे, पेट न बतावे, हुंकारा न करे, भ्रकुटी न चलावे। यदि उत्साहपूर्वक गृहस्थ पड़गाहे तो आकर शुद्ध आहार ले। न पड़गाहे तो तत्काल अन्यगृह चला जाय। किसी गृहको छोड़े पीछे फिर उसमें उस दिन न जाय। अंतराय हो जाय, तो अन्यगृह भी न जाय।

भिक्षाके पंच प्रकार—(१) गोचरी-जैसे गाय घास खाती है, घास डालनेवालेकी तथा उसके वस्त्राभूषणकी सुन्दरता नहीं देखती, वैसे ही मुनि योग्य-शुद्ध भोजन करते हैं, दातारके ऐश्वर्य-सुन्दरतादिको नहीं देखते। (२) अक्षम्रक्षण—जैसे वणिक

गाड़ीको घी, तेलसे औंघकर अपना माल इष्टस्थानको ले जाता है तैसे ही साधु रत्नत्रयकी स्थिरता तथा वृद्धिके निमित्त रस-नीरस आहार लेते हैं। (३) उदराग्नि प्रशमन जैसे प्रज्वलित अग्निको जलसे बुझाते हैं, वैसे ही मुनि-रस-नीरस भोजनसे क्षुधा शान्त करते हैं (४) गर्तपूरण वृत्ति-जैसे गृहस्थ गृह-स्थित गड्ढेको कूड़ा-मिट्टी आदिसे भरकर पूर्ण करता है वैसे ही मुनि रस-नीरस भोजनसे उदर भरते हैं। (५) भ्रामरी-जसे भ्रमर कमलादि पुष्पोंका रस लेता है; परन्तु बाधा नहीं पहुंचाता वैसे दातारको किसी प्रकार कष्ट-बाधा-उद्वेग पहुंचाये बिना आहार मुनि लेते हैं।

आहारसम्बन्धी दोष।

१६ उद्गम दोष--जो दोष दातारके अभिप्रायोंसे आहार तय्यार करनेमें उपजें सो उद्गम दोष कहलाते हैं। यदि पात्रको मालूम हो जाय तो ऐसा आहार ग्रहण न करे। वे १६ हैं यथाः-(१) जो षट्कायके जीवोंके वधसे उपजे सो अधःकर्म नामक दोष है (२) साधुका नाम लेकर भोजन बनाना सो उद्देशिक दोष है (३) संयमीको देख भोजन बनानेका आरंभ करना सो अध्यदि दोष है (४) प्राशुक भोजनमें अप्राशुक भोजन मिलाना सो पूति दोष है। (५) असंयमीके योग्य भोजनका मिलना सो मिश्र दोष है (६) रसोईके स्थानसे अन्यत्र आपके वा परके स्थान में रक्खा हुआ भोजन लाकर गृहस्थ देवे और पात्र लेवे सो स्थापित दोष है (७) यक्ष, नागादिके पूजन निमित्त किया हुआ भोजन, पात्रको देना सो बलि दोष है (८) पात्रको पड़गाहे पीछे, कालकी हानि-वृद्धि अथवा नवधाभक्तिमें शीघ्रता या विलम्ब करना सो प्रावर्तिक दोष है। (६) अंधेरा जान मंड-पादिको प्रकाशरूप करना सो प्राविशकरण दोष है। (१०)

अपने पास जो वस्तु नहीं, दूसरेसे उधार लाकर देना सो प्रामिशिक दोष है (११) अपनी वस्तुके बदले, दूसरे गृहस्थसे कोई वस्तु लाना सो परिवर्तक दोष है (१२) तत्काल देशान्तरसे आई हुई वस्तु देना सो अभिघट दोष है (१३) बंधी वा छांदा लगी हुई वस्तु खोलकर देना सो उद्भिन्न दोष है (१४) रसोईके मकानसे ऊपरके मकानमें रक्खी हुई वस्तु निसैनीपर चढ़कर निकालकर देना सो मालारोहण दोष है (१५) उद्वेग, त्रास, भयको उत्पन्न करनेवाला भोजन देना सो आच्छेद्य दोष है (१६) दातारका असमर्थ होना सो अनिसार्थ दोष है।

१६ उत्पादन दोष—जो आहार प्राप्त करनेमें अभिप्राय सम्बन्धी दोष पात्रके आश्रय लगते हैं। यथा:—(१) गृहस्थको मंजन, मंडन, क्रीडनादि धात्रीकर्मको उपदेश देकर आहार ग्रहण करना सो धात्री दोष है (२) दातारको परदेशके समाचार कहकर आहार ग्रहण करना सो दूत दोष है (३) अष्टांगनिमित्त बताकर आहार ग्रहण करना सो निमित्त दोष है (४) अपना जाति कुल-तपश्चर्यादिक बताकर आहार लेना सो आजीवक दोष है (५) दातारके अनुकूल वचन कहकर आहार लेना सो वनीपक दोष है (६) दातारको औषधि बताकर आहार ग्रहण करना सो चिकित्सा दोष है (७, ८, ९, १०) क्रोध, मान, माया, लोभ से आहार ग्रहण करना सो क्रोध, मान, माया लोभ दोष है. (११) भोजनके पूर्व दातारकी प्रशंसा कर आहार ग्रहण करना सो पूर्वस्तुति दोष है (१२) आहार ग्रहण किये पीछे दातारकी स्तुति करना सो पश्चात्-स्तुति दोष (१३) आकाशगामिनी आदि विद्या बताकर आहार ग्रहण करना सो विद्या दोष है (१४) सर्प-बिच्छू आदिका मंत्र बताकर आहार ग्रहण करना सो मंत्र दोष है (१५) शरीरकी शोभा निमित्त चूर्णादि बता आहार ग्रहण करना सो चूर्ण दोषहै (१६)

अवशको वश करनेकी युक्ति बताकर आहार लेना सो मूलकर्म दोष है।

१४ आहार संबन्धी दोष--जो दोष भोजनके आश्रय लगते है। यथा :— (१) यह भोजन योग्य है या अयोग्य ? खाद्य है या अखाद्य ? ऐसी शंकाका होना सो शंकित दोष है (२) सचिक्कण हाथ या बर्तन पर रक्खा हुआ भोजन ग्रहण करना सो मृक्षित दोष है (३) सचित्त पत्रादि पर रक्खा हुआ भोजन ग्रहण करना सो निक्षिप्त दोष है (४) सचित्त पत्रादिसे ढंका हुआ भोजन करना सो पिहित दोष है (५) दान देनेकी शीघ्रता से भोजनको नहीं देखकर या अपने वस्त्रोंको नहीं संभालकर आहार देना सो सव्यवहरण दोष है (३) सूतक आदि युक्त अशुद्ध आहार ग्रहण करना सो दायक दोष है (७) सचित्तसे से मिला हुआ आहार सो उन्मिश्र दोष है (८) अग्निसे परिपूर्ण नहीं पचा व जलगया अथवा तिल, तंदुल, हरड आदि से स्पर्श-रस-गंध-वर्ण बदले बिना जल ग्रहण करना सो अपरिणत दोष है (९) गेरू हरताल, खड़ी आदि अप्राशुक द्रव्यसे लिप्त हुए पात्र द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करना सो लिप्त दोष है (१०) दातार द्वारा पात्रके हस्तमें स्थापन किया हुआ आहार जो पाणिपात्रमें से गिरता हो, अथवा पाणि-पात्रमें आये हुये आहारको छोड़ और आहार लेय ग्रहण करना सो परित्यजन दोष है (११) शीतल भोजन या जलमें उष्ण, अथवा उष्ण भोजन या जलमें शीतल मिलाना सो संयोजन दोष है (१२) प्रमाणसे अधिक भोजन करना सो अप्रमाण दोष है (१३) अतिगृद्धता सहित आहार लेना सो अंगार दोष है (१४) भोजन प्रकृति विरुद्ध है, ऐसा संक्लेश या ग्लानि करता हुआ आहार लेना सो धूम दोष है।

अपने तईं स्वतः भोजन तथा उसकी सामग्री तय्यार करना सो अधःकर्म दोष कहलाता है, यह ४६ दोषोंके अतिरिक्त महान् दोष है जो मुनिव्रतको मूलसे नष्ट करता है।

बत्तीस अंतराय--अंतराय सिद्धि-भक्ति किये पीछे होनेपर माना जाता है। (१) भोजनको जाते समय ऊपर काकादि पक्षीका बीठ कर देना (२) पगका विष्ठादि मलसे लिप्त हो जाना (३) वमन होजाना (४) भोजनको गमन करते कोई रोक देवे (५) रुधिर-राधिकी धार वह निकले (६) भोजनके समय अश्रुपात होजाय अथवा अन्यके अश्रुपात देखे या विलाप करता देखे (७) भोजनके निमित्त जाते गोड़ों (घुटने) ऊंची पंक्ति चढ़ना पड़े (८) साधुका हाथ गोड़े (घुटने) से नीचे स्पर्श होजाय (९) भोजनके निमित्त नाभिसे नीचा माथा कर द्वारमें से निकलना पड़े (१०) त्यागी हुई वस्तु भोजनमें आजाय (११) भोजन करते हुए अपने सामने किसी प्राणीका वध होजाय (१२) भोजन करते हुए काकादि पक्षी ग्रास ले जाय (१३) भोजन करते हुए पात्रके हस्तमें से ग्रास गिर जाय (१४) कोई त्रसजीव साधुके हस्तमें आकर मर जाय (१५) भोजनके समय मृतक पंचेन्द्रियका कलेवर देखे (१६) भोजनके समय उपसर्ग आजाय (१७) भोजन करते हुए साधुके दोनों पांवोंके मध्यमें से मेंढक, चूहा आदि पंचेन्द्रिय जीव निकल जाय (१८) दातारके हाथमें से भोजन-का पात्र गिर पड़े (१९) भोजन करते समय साधुके शरीरसे मल निकल आवे (२०) मूत्र निकल आवे (२१) भ्रमण करते हुये शूद्रके गृहमें प्रवेश होजाय (२२) साधु भ्रमण करते हुए मूर्छा खाकर गिर पड़े (२३) भोजन करता हुआ साधु रोग वश बैठजाय (२४) श्वानादि पंचेन्द्रिय काट खाय (२५) सिद्धभक्ति किये पीछे हस्तसे भूमिका स्पर्श होजाय (२६)

भोजनके समय कफ, थूकादि गिर पड़े (२७) भोजन समय साधुके उदरसे कृमि निकल आवे (२८) भोजन करते समय साधुके हस्तसे परवस्तुका स्पर्श होजाय (२९) भोजन करते हुए कोई दुष्ट, साधुको या अन्यको खड्ग मारे (३०) भोजन निमित्त जाते हुए गांवमें आग लग जाय (३१) भोजन करते हुए साधुके चरणसे किसी वस्तुका स्पर्श होजाय (३२) भोजन करते हुए भूमि पर पड़ी हुई वस्तुको हाथसे छूले।

विशेषता—औरभी चांडालादि अस्पर्शके स्पर्श होते, किसी से कलह होते, इष्ट गुरु शिष्यादिका व राजादि प्रधान पुरुषोंका मरणहो उसदिन उपवास करे।

चौदह मल दोष—१ नख २ बाल ३ प्राणरहित शरीर ४ हाड़ ५ कण (जव, गेहूँ आदिका बाहरी अवयव) ७ राधि ८ त्वचा (चर्म) ९ बीज (गेहूँ, चना आदि) १० लोहू ११ मांस १२ सचित्तफल (जामुन, आम आदि) १३ कन्द १४ मूल।

विशेषता—(१) रुधिर, मांस, अस्थि, चर्म, राध ये पांच महादोष हैं, इनके देखनेमात्रसे आहार तजे, यदि स्पर्श हुआ हो तो प्रायश्चित भी ले॥ (२) बाल, विकलत्रय प्राणीका शरीर तथा नख निकलेतो आहार तजे और किंचित् प्रायश्चित भी ले॥ (४) कण, कुंड, कंद, बीज, फल, मूल भोजनमें हों तो अलग करदे, न हो सकेंतो भोजन तजे (५) राधि-रुधिर सिद्धभक्ति किये पीछे दातार-पात्र दोनोंमेंसे किसीके निकल* आवे तो भोजन तजे तथा मांसको देखतेही भोजन तजे॥

भोजनमें कितना काल लगे—उत्कृष्ट एक मुहूर्त, मध्यम

---

* किसी-किसी ग्रन्थमें राध-रुधिर चार अंगुल तक बहने पर अंतराय मानना कहा है॥

दो मुहूर्त, जघन्य तीन मुहूर्त काल सिद्धिभक्ति किये पीछे भोजनका कहा है ॥

वास्तिका दोष वर्णन—उपर्युक्त प्रकार आहारके जो ४६ दोष कहे हैं, वे ही दोष वस्तिका सम्बन्धी हैं तथा एक अधःकर्म महान् दोष और भी है, जिसमें वस्तिका तथा उस सम्बन्धी सामग्रीका तय्यार करना जानना ॥

निवास और चर्या—साधु छोटे ग्राममें एक दिन तथा नगर में पांच दिनसे अधिक नहीं ठहरे, चौमासे भर एकथानमें रहे। समाधिमरण आदि विशेष कारणोंसे अधिक दिन भी ठहर सकता है। एक स्थान पर न रहने और विचरते रहनेसे रागद्वेष नहीं बढ़ता और जगह२के भव्यजीवोंका उपकार होता है। गमन करते समय जीवोंके रहनेके स्थान, जीवोंकी उत्पत्ति रूप योनिस्थान तथा जीवोंके आश्रयस्थान जानकर यत्नाचार पूर्वक गमन करे, जिसमें जीवोंको पीड़ा न हो। सूर्यके प्रकाश में नेत्रद्वारा भलीभांति देखता हुआ, ईर्यापथ शोधता हुआ गमन करे। न धीरे२ गमन करे, न शीघ्रतासे। इधर उधर न देखे। नीचे पृथ्वी अवलोकन करता हुआ चले। मनुष्य, पशु आदि जिस मार्ग पर चले हों, प्रातःकालके पवनने जिस मार्गको स्पर्श किया हो, सूर्य-किरणोंका सचार जिस मार्गमें हुआ हो, अंधेरा न हो ऐसे प्राशुकमार्गसे दिनमें गमन करे, रात्रिको गमन न करे।

मुनि इन कारणोंसे गमन करे। प्रसिद्ध सिद्धक्षेत्रों, जिनप्रतिमाओंकी वंदनाके लिये तथा गुरु, आचार्य वा तपमें अधिक मुनियोंकी सेवा-वैयावृत्तिके निमित्त गमन करे॥ साधु अकेला गमन न करे, कमसे कम एक मुनिका साथ अवश्य हो। एकल विहार (अकेला गमन करनेवाले) वही मुनि हो सकता है, जो वज्र-ऋषभ-नाराच वज्र-नाराच अथवा नाराच संहननका धारक

हो, अंग-पूर्व तथा प्रायश्चित्तादि ग्रंथोंका पाठी हो रिद्धिके प्रभावसे जिसके मल-मूत्र न होता हो। यदि इन गुणों करके रहित एकलविहारी हो जाय, तो धर्मकी निन्दा तथा हानि होती है॥

वासस्थान—मुनि, नगरसे दूर वन में, पर्वतकी गुफा, समान-भूमि, सूने घर, वृक्षकी कोटर आदि एकान्त-स्थानोंमें वास करे। विकार, उन्माद तथा चित्तमें व्यग्रता उत्पन्न होनेके कारणरूप स्त्री, नपुंसक, ग्राम्य-पशु आदि युक्त स्थानोंको दूर ही तजे॥

चर्याके अयोग्य स्थान—जो क्षेत्र राजा रहित हो, जिस नगर ग्राम में स्वामी न हो, जहां के लोग स्वेच्छाचारी हों, जहाँ राजा दुष्ट हो, जहां नगर-ग्राम-घरका स्वामी दुष्ट हो, ऐसे धर्म-नीति-रहित स्थानमें मुनि विहार न करें॥

भ्रष्ट मुनियोंकी संगति न करे—भ्रष्टमुनि ५ प्रकारके होते हैं—(१) पार्श्वस्थ-जिन्होंने वस्तिका, मठ मकान बांध रक्खा हो, शरीरसे ममत्व रखते हों, कुमार्गगामी हों, उपकरणोंके एकत्र करनमें उद्यमी हों, भावोंकी विशुद्धता रहित हों, संयमियों से दूर रहते हों, दुष्ट असंयमियोंकी संगतिमें रहते हों, इन्द्रिय कषाय जीतनेको असमर्थ हों। (२) कुशील—जिनका निंद्य स्वभाव हो। जो क्रोधी, व्रत,शील रहित हों। धर्मका अपयश तथा संघका अपवाद करानेवाले हों, उत्तरगुण, मूलगुण रहित हों। (३) संसक्त—जो दुर्बुधि, असंयमियोंके गुणोंमें आसक्त, आहारमें अति लुब्ध हों, वैद्यक-ज्योतिष-यंत्र-मत्र करते हों, राजादिकके सेवक हों। (४) अपगत वा अवसन्न-जो जिनवचनके ज्ञानररित, आचार भ्रष्ट, संसार सुखोंमें आसक्त हों, ध्यानादि शुभोपयोगमें आलसी हों॥ (५) मृगचारी-जो स्वेच्छाचारी, गुरुकुलके त्यागी, जैनमार्गको दूषण-देनेवाले, आचार्यके उपदेशरहित एकाकी भ्रमण करनेवाले,

मृगसमान चरित्र धारनेमें धैर्यरहित तथा तपमार्गसे पराङ्मुख हों।

(नोट) ये पांचों दिगम्बर भेषधारी द्रव्यलिंगी, जिनलिंगसे बाह्य, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररहित होते हैं। ऐसे भेषधारी, भ्रष्ट-मुनि आजकल दिखाई नहीं देते, इनके स्थानापन्न वस्त्र-परिग्रह-धारी, आरंभके अत्यागी भट्टारकोंकी कई गद्दियां दक्षिण-पश्चिम प्रान्तोंमें पाई जाती रही हैं। कुछ काल पूर्व जैनियोंमें धर्म-विद्याकी हीनताके कारण यह मनो-कल्पित भेष सारे देशमें प्रचलित और पूजनीय हो गया था। भट्टारक लोग अपनेको दिगम्बर गुरु मनाते, मानते और तदनुसार ही गृहस्थोंसे पुजवाते थे, मानों भोले-भाले जैनियोंपर राज्य ही करते थे और भावनाके बहाने मनमाना द्रव्य उनसे वसूल कर अपने दिन मजामौज और शौकीनीसे काटते थे। अब कुछ कालसे धर्म-विद्याका प्रचार होनेसे इनकी मान्यता, पूज्यता बहुत कम और अल्प क्षेत्रमें ही रह गई है; क्योंकि सर्व-साधारण जैनीभाई शास्त्रोंका अवलोकन करनेके कारण सच्चे गुरुके लक्षणों-कर्त्तव्यों और इन शिथिलाचारी भट्टारकोंके बनावटी भेष और धर्म-विरुद्ध क्रियाओंसे परिचित होगये हैं। वे भलीभांति जानने लगे हैं कि ये भट्टारक, ब्रह्मचारी-गृहस्थाचार्योंसे भी जघन्य हैं। है। अतएव जैनमतके देव-गुरु-धर्मके स्वरूपके भलीभांति जानने-वाले पुरुषोंको योग्य है कि ऐसे धर्मविरुद्ध भेष एवं आचरणके धारक भेषियोंको गुरु मानकर कदापि न पूजें, बदें, और सच्चे देव-गुरु-धर्मके उपासक बने रहें।

मुनिके धर्मोपकरण

शौचका उपकरण, कमंडल--यह काष्ठ का बनता और श्रावकों द्वारा मुनिको प्राप्त होता है। इसमें श्रावकों द्वारा प्राप्त

उष्ण किया हुआ जल रहता है। मुनि इस जलसे लघुशंका-दीर्घशंका सम्बन्धी अशुचि मेटते अथवा चांडालादि अस्पर्श-शूद्रसे कदाचित् स्पर्श हो जाय तो शास्त्रोक्त शुद्धिके निमित्त कमंडलसे जलकी धारा मस्तकपर इस तरहसे डालते हैं जो मस्तकसे पांवतक बह जाय। इस प्रकार शुद्धिपूर्वक सामायिक, स्वाध्यायादि षटकर्मोंमें प्रवर्तते हैं। यदि लौकिक शुचि न की जाय तो व्यवहारका लोप हो जाय, लोकनिंद्य होवे, अविनय होवे, गृहस्थोंके मनमें उनसे घृणा उत्पन्न होजाय। हां! यदि शरीरकी स्वच्छताके लिये कमंडलके जलसे स्नान किया जाय, मैल उताराजाय, या पीनेमें काम लाया जाय, तो वही कमंडल परिग्रहरूप असंयमका कारण होता है॥

ज्ञानका उपकरण, शास्त्र—साधु ध्यानसे निवृत्त होनेपर ज्ञानकी वृद्धि तथा परिणामोंकी निर्मलताके लिये स्वाध्याय करते हैं। स्वाध्यायके लिये आवश्यकतानुसार श्रावकों द्वारा प्राप्त हुए एक, दो शास्त्र यत्नाचारपूर्वक अपने साथ रखते हैं। जब कोई शास्त्र पूर्ण हो जाता है तो उसे वापिस कर देते या किसी मंदिरमें विराजमान कर देते हैं। यदि वही शास्त्र अपने महत्व बतानेको बहुतसे एकत्र करके साथमें लिये फिरें, तो वे ही परिग्रहरूप असंयमके कारण होते हैं॥

संयमका उपकरण, पिच्छिका— पिच्छिका मयूरके स्वाभाविक रीतिसे छोड़े हुए पंखोंसे बनाई जाती है। मयूरके पंखोंकी पिच्छी बनानेसे यह लाभ है कि इसमें सचित्त-अचित्त रज नहीं लगती, पसेव जलादि प्रवेश नहीं करता, कोमल और कम वजन होती, इसका स्पर्श सुहावना लगता है। साधु, जीव-जन्तुओंकी रक्षा निमित्त जमीनको पीछीसे मार्जन करके उठते-रखते-बैठते तथा हरएक वस्तुको पीछीसे मार्जन करके उठाते रखते हैं। इसी प्रकार शरीरको भी पीछीसे मार्जन करते हैं, संस्तरको

शोधते हैं जिससे किसी जीवजंतुको बाधा न हो। यदि अपने शारीरिक आरामके लिये पीछीसे पृथ्वीपरके कंकरादि झाड़कर सोवें, बैठें तो वही पीछी परिग्रहरूप असंयमकी करनेवाली होती है।

(नोट) जो निकटभव्य सम्यग्ज्ञान द्वारा हेय-उपादेयको भलीभांति जान, महाव्रत धारण करके संवर-निर्जरा पूर्वक उसी पर्यायमें मोक्ष प्राप्ति करना चाहते हैं। वे तीन गुप्ति, पंचसमिति, पंचाचार, दशधर्म, द्वादश तप पालते हुए, बाईस परीषह सहन करते हुए धर्मध्यान-शुक्लध्यानपूर्वक आचरण भी करते हैं; क्योंकि बिना साधनके साध्यकी सिद्धि नहीं होती। यद्यपि तत्वाधिकारमें इन सब बातोंका वर्णन हो चुका है, तथापि यहां मुनिधर्मका प्रकरण होनेसे त्रिगुप्ति-पंचाचार द्वादशतप तथा ध्यानका पुनः विशद रूपसे वर्णन किया जाता है।

तीन गुप्ति

जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र गोपिये अर्थात् रक्षित कीजिये, सो गुप्ति कहलाती है, जैसे कोटद्वारा नगरकी रक्षा होती है, उसी प्रकार गुप्तिद्वारा मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम अथवा शुभाशुभ कर्मोंसे आत्माकी रक्षाकी जाती है। वे तीन हैं। यथा:—

(१) मनोगुप्ति--मनसे रागद्वेषादिका परिहार करना।

(२) वचनगुप्ति—असत् अभिप्रायसे वचनकी निवृत्तिकर, मौनपूर्वक ध्यान-अध्ययन-आत्मचिंतवनादि करना।

(३) कायगुप्ति–हिंसादि पापोंकी निवृत्तिपूर्वक कायोत्सर्ग धारण करना, कायसम्बन्धी चेष्टाकी निवृत्ति करना।

मुनिराज मन-वचन-कायका निरोध करके आत्मध्यानमें ऐसे लवलीन रहते हैं, कि उनकी वीतराग स्थिरमुद्रा देखकर वनके मृगादि पशु, पाषाण या ठूंठ जानकर उनसे खाज खुजाते हैं। ऐसा होते हुए भी वे ध्यानमें ऐसे निमग्न रहते हैं, कि उन्हें इसका कुछ भी भान नहीं होता।

(नोट) इन तीनोंमें मनोगुप्ति सबसे श्रेष्ठ है, मनकी स्थिरता होनेसे वचन-कायगुप्ति सहजमें पल सकती है। इसी कारण आचार्योंने जहां तहां मन वश करनेका उपदेश दिया है। अतएव आत्मकल्याणके इच्छुकोंको आत्मस्वरूप तथा द्रव्यस्वरूपके चिंतवनमें लगाकर क्रमशः मनको वश करनेका अभ्यास करना योग्य है।

अतीचार

मनोगुप्तिके अतीचार--रागादि सहित स्वाध्यायमें प्रवृत्ति व अंतरंगमें अशुभ परिणामोंका होना ॥

वचनगुप्तिके अतीचार—राग तथा गर्वसे मौन धारण करना।

कायगुप्तिके अतीचार—असावधानतापूर्वक कायकी क्रियाका त्याग करना, एक पांवसे खडा होजाना तथा सचित्त भूमिमें बैठना ॥

पंचाचार

सम्यग्दर्शनादि गुणोंमें प्रवृत्ति करना सो आचार कहलाता है। वह पांच प्रकारका है! यथाः—

(१) दर्शनाचार—भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि समस्त परद्रव्योंसे भिन्न, शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा ही उपादेय है, ऐसा श्रद्धान या इसकी उत्पत्तिके कारणभूत षट्द्रव्य, सप्त-तत्त्व अथवा

सुगुरु, सुदेव, सुधर्मका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शनरूप प्रवृत्तिको दर्शनाचार कहते हैं।

(२) ज्ञानाचार—शुद्ध आत्माको स्वसंवेदन भेदज्ञान द्वारा मिथ्यात्व-रागादि परभावोंसे भिन्न, उपाधिरहित जानना अथवा स्वपर-तत्वोंको आगम तथा स्वानुभवसे निर्बाध जानना सो सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यग्ज्ञान रूप प्रवृत्तिको ज्ञानाचार कहते हैं।

(३) चरित्राचार—उपाधिरहित शुद्धात्माके स्वाभाविक सुखास्वादमें निश्चल चित्त करना अथवा हिंसादि पापोंका अभाव करना सो. सम्यग्चारित्र है। इस सम्यग्चारित्ररूप प्रवृत्तिको चारित्राचार कहते हैं।

(४) तपाचार—समस्त परद्रव्योंसे इच्छा रोक प्रायश्चित्त, अनशनादिरूप प्रवर्तना, निजस्वरूपमें प्रतापरूप रहना, सो तप है। इस तपरूप आचरणको तपाचार कहते हैं।

(५) वीर्याचार—इन उपर्युक्त चार प्रकारके आचारोंकी रक्षामें शक्ति न छिपाना अथवा परीषहादि आनेपर भी इनसे नहीं चिगना, सो वीर्य है। इस वीर्यरूप प्रवृत्तिको वीर्याचार कहते हैं।

द्वादश तप

जिससे इन्द्रियां प्रबल होकर मनको चंचल न करने पावें, उस प्रकार चारित्रके अनुकूल कायक्लेशादि तप साधन करना, तथा अविपाक निर्जराके निमित्त अंतरंगमें विषय-कषायोंकी निवृत्ति करना सो तप कहलाता है। यह बाह्याभ्यंतर दो प्रकारका है॥ यथाः—

(१) बाह्य तप—जो कायसल्लेखनाके निमित्त इच्छानिरोध पूर्वक नित्य-नैमित्तिक क्रियाओंका साधन किया जाय और जो

बाहिरसे दूसरोंको प्रत्यक्ष प्रतिभासित होवे। यह बाह्य तप छः भेदरूप है॥ यथा—(१) अनशन—आत्माका इन्द्रिय-मनकी विषय-वासनाओंसे रहित होकर आत्मस्वरूपमें वास करना सो उपवास कहलाता है। भावार्थ —संयमकी सिद्धि, रागके अभाव, कर्मोंके नाश, ध्यान और स्वाध्यायमें प्रवृत्तिके निमित्त इन्द्रियोंका जीतना, इस लोक, परलोक सम्बन्धी विषयोंकी वांछा न करना, मनको आत्मस्वरूप अथवा शास्त्र-स्वाध्यायमें लगाना, क्लेश उत्पन्न न हो उस प्रकार एक दिनकी मर्यादारूप चार प्रकार आहार-का त्याग करना सो अनशन तप है। (२) अवमोदर्य-कीर्ति, माया, कपट, मिष्ट-भोजनके लोभरहित अल्प-आहार लेना सो ऊनोदर तप है। भावार्थः—संयमकी सिद्धि, निद्राके अभाव, वात-पित्त-कफके प्रकोपकी प्रशान्ति, सन्तोष, सुखसे स्वाध्यायके निमित्त एक ग्रास ग्रहण कर शेषका त्याग करना सो उत्कृष्ट ऊनो-दर और एक ग्रासका त्याग ३१ ग्रास पर्यंत आहार लेना सो मध्यम तथा जघन्य ऊनोदर है। (नोट) साधुके लिये उत्कृष्ट आहार ३२ ग्रास प्रमाण शास्त्रोंमें कहा है, और वह एक ग्रास एक हजार चांवल प्रमाण कहा है॥ (३) वृत्तिपरिसंख्यान—भोजन की आशा-तृष्णाको निराश करनेके लिये अटपटी मर्यादा लेना और कर्मयोगसे संकल्पके माफिक प्राप्त होने पर आहार लेना सो वृत्तिपरिसंख्यान तप है। भावार्थः-भिक्षाके लिये अटपटी आखड़ी करके चित्तके संकल्पको रोकना सो वृत्तिपरिसंख्यान तप है। (४) रसपरित्याग—इन्द्रियोंके दमन, दर्पकी हानि संयमके उप-रोध निमित्त घृत, तैलादि छः रस अथवा खारा-खट्टा-मीठा, कडुवा, तीखा, कषायला, इन छहों रसोंका वा एक दो आदिका त्याग करना सो रस परित्याग तप है। (५) विविक्त शय्या-सन —ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यानकी सिद्धिके लिये प्राणियोंकी पीड़ारहित शून्यागार, गिर-गुफा आदि एकान्तस्थानमें शयन,

आसन, ध्यान करना सो विविक्त शय्यासन तप है (६)। कायक्लेश—जिस प्रकार चित्तमें क्लेश-खेद न उपजे, उस प्रकार अपनी शक्तिके अनुसार साम्यभावपूर्वकप्रतिमायोग धार परीषह सहते हुए आत्मस्वरूप में लवलीन रहना सो कायक्लेश तप है। इससे सुखकी अभिलाषा कृश होती, रागका अभाव होता, कष्ट सहनेका अभ्यास होता और प्रभावनाकी वृद्धि होती है।

अभ्यन्तर तप—जो कषायोंकी सल्लेखना अर्थात् मनको निग्रह करनेके लिये क्रियाओंका साधन किया जाय और दूसरों की दृष्टिमें न आवे। यह भी छः प्रकारका । यथा–(१) प्रायश्चित—प्रमादजनित दोषोंको प्रतिक्रमणादि पाठ या तप-व्रतादि द्वारा दूर कर चारित्र शुद्ध करना सो प्रायश्चित तप है। इससे व्रतोंकी शुद्धता, परिणामोंकी निर्मलता मानकषायकी मन्दता होती है। (२) विनय—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचारमें परिणामोंकी विशुद्धता करना सो विनय तप है। भावार्थ–सम्यग्दर्शनमें शंकादि अतीचाररहित परिणाम करना सो दर्शनविनय है। ज्ञानमें संशयादिरहित परिणाम करना तथा अष्टांगरूप अभ्यास करना ज्ञानविनय है। हिंसादि परिणाम-रहित निरतिचार चारित्र पालने रूप परिणाम करना सो चारित्र-विनय है। तपके भेदोंको निर्दोष पालन रूप परिणाम करना सो तपविनय है। रत्नत्रयके धारक मुनियोंके अनुकूल भक्ति तथा तीर्थादिका वंदनारूप आचरण करना सो उपचार विनय है। विनय तपसे ज्ञानादि गुणोंकी प्राप्ति तथा मान कषायका अभाव होता है। (३) वैयावृत्य–जो मुनि, अशुभकर्मके उदय तथा उपसर्गसे पीड़ित हों, उनका दुख, उपसर्ग पूजा-महिमा-लाभकी वांछारहित होकर दूर करना, हाथ-पांव-दाबना, शरीरकी सेवा करना तथा उपदेश व उपकरण देना सो वैयावृत्य है। इससे

गुणानुराग प्रगट होता तथा मान कषाय कृश होती है। (४) स्वाध्याय–ज्ञान भावनाके लिये अथवा कर्मक्षयनिमित्त, आलस्यरहित होकर जैन-सिद्धान्तोंका पढ़ना, अभ्यासकरना, धर्मोपदेश देना, तत्वनिर्णयमें प्रवृत्ति करना सो स्वाध्याय तप है। इस से बुद्धि स्फुरायमान होकर परिणाम उज्ज्वल होते, संवेग होता, धर्मकी वृद्धि होती है। (५) व्युत्सर्ग—अंतरंग तथा बाह्य परिग्रहोंसे त्यागरूप बुद्धि रखना अर्थात् शरीर संस्काररहित, रोगादि इलाजरहित, शरीरसे निरपेक्ष, दुर्जनोंके उपसर्गमें मध्यस्थ, देहसे निर्ममत्व, स्वरूपमें लीन रहना सो व्युत्सर्ग तप है। इससे निःपरिग्रहपना, निर्भयपणा प्रकट होकर मोह क्षीण होता है। (६) ध्यान—समस्त चिंताओंको त्याग, मन्द कषायरूप धर्मध्यान और अति मन्दकषायरूप व कषायरहित शुक्लध्यानमें प्रवृत्ति करना, सो ध्यान तप है। इससे मन वशीभूत होकर अनाकुलताकी प्राप्ति एवं परमानन्दमें मग्नता होती है।

तप से लाभ—बाह्य तपके अभ्याससे शरीर नीरोग रहता, कदाचित् रोगादि कष्ट आ भी जाय तो चित्त चलायमान नहींहोता, सन्तोषवृत्ति रहती है। अंतरंग तपके प्रभावसे आत्मीक विचित्र-विचित्र शक्तियां प्रकट होतीं, अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होतीं, देव, मनुष्य तिर्यंचादि वश होते, यहांतक कि कर्मोंकी अविपाक निर्जरा होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है।

ध्यान

उपयोग (चित्तवृत्ति) को अन्य चिंताओंसे रोककर एक ज्ञेयपर स्थिर करना ध्यान कहलाता है। ध्यानका उत्कृष्टकाल उत्तम संहननके धारक पुरुषोंके अंतर्मुहूर्त कहा है अर्थात् वज्र

ऋषभ-नाराच, वज्र-नाराच, नाराच संहननके धारक पुरुषोंका अधिकसे अधिक एक समय कम दो घड़ीतक (अंतर्मुहूर्त तक) एक ज्ञेयपर उपयोग स्थिर रह सकता है, पीछे दूसरे ज्ञेयपर ध्यान चला जाता है। इसप्रकार बदलता हुआ बहुत कालतकभी ध्यान होसकता है। यह ध्यान अप्रशस्त, प्रशस्त भेदसे दो प्रकारका है।

आर्त्त-रौद्र ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं, इनका फल निकृष्ट है; ये संसार परिभ्रमणके कारण नरक-तिर्यंच गतिके दुखोंके मूल हैं और अनादिकालसे स्वयं ही संसारी जीवोंके बन रहे हैं, इसलिये इनकी वासना ऐसी दृढ़ होरही है कि रोकते २ भी उपयोग इनकी तरफ चला जाता है। सम्यग्ज्ञानी पुरुषही इनसे चित्तको निवृत्त कर सकते हैं।

धर्म-शुक्ल ये दो ध्यान प्रशस्त हैं, इनका फल उत्तम है, ये स्वर्ग-मोक्षके सुखके मूल हैं, ये ध्यान जीवोंके कभी भी नहीं हुए, यदि हुए होते तो फिर संसार-भ्रमण न करना पड़ता, इसलिए इनकी वासना न होनेसे इनमें चित्तका लगना सहज नहीं; किन्तु बहुत ही कठिन है। अतएव जिस तिस प्रकार प्रयत्न करके इन ध्यानोंका अभ्यास बढ़ाना चाहिए और तत्त्व-चिंतवन, आत्म-चिंतवनमें चित्त स्थिर करना चाहिये।

यहां पर चारों ध्यानोंके सोलहों भेदोंका स्पष्ट रूपसे वर्णन किया जाता है जिससे इनका स्वरूप भलीभांति जानकर अप्रशस्त ध्यानों से निवृत्ति और प्रशस्त ध्यानों में प्रवृत्ति हो।

आर्त्तध्यान

दु:खमय परिणामोंका होना सो आर्त्तध्यान है इसके चार भेद हैं। यथा:— **इष्टवियोगज आर्त्तध्यान**—इष्ट-प्रिय स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि तथा धर्मात्मा पुरुषोंके बियोगसे संक्लेशरूप परि-

णाम होना (२) अनिष्टसंयोगज आर्त्तध्यान दुखदाई अप्रिय स्त्री, पुत्र, भाई, पड़ौसी, पशु आदि तथा पापी दुष्ट पुरुषोंके संयोग होनेसे संक्लेशरूप परिणाम होना। (३) पीड़ाचिंतवन आर्त्तध्यान रोगके प्रकंपकी पीड़ासे संक्लेशरूप परिणाम होना, वा रोगका अभाव चिंतवन करना। (४) निदानबंध आर्त्तध्यान आगामी कालमें विषय-भोगोंकी वांछारूप संक्लेश परिणाम होना।

ये आर्त्तध्यान संसारकी परिपाटीसे उत्पन्न और संसारके मूल कारण हैं, मुख्यतया तिर्यंचगतिके लेजाने वाले हैं। पांचवें गुणस्थान तक चारों और छट्ठे में निदानबंधको छोड़ शेष तीन आर्त्तध्यान होते हैं। परन्तु सम्यक्त्व अवस्थामें मन्द होनेसे तिर्यंचगतिके कारण नहीं होते

रौद्रध्यान

क्रूर (निर्दय) परिणामोंका होना सो रौद्रध्यान है। यह चार प्रकारका है। यथाः—(१) हिंसानन्द—जीवोंको अपने तथा परके द्वारा वध-पीडित-ध्वंस घात होते हु हर्ष मानना वा पीडित करने करानेका चिंतवन करना। (२) मृषानन्द—आप असत्य झूठी कल्पनायें करके तथा दूसरोंके द्वारा ऐसा होते हुए देख-जानकर आनन्द मानना वा असत्य भाषण करने-कराने का चिंतवन करना। (३) चौर्यानन्द—चोरी करने करानेका चिंतवन तथा दूसरोंके द्वारा इन कार्योंके होते हुए आनन्द मानना। (४) परिग्रहानन्द—क्रूर चित्त होकर बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रहरूप संकल्प वा चिंतवन करना या अपने-पराये परिग्रह बढ़ने-बढ़ानेमें आनन्द मानना।

ये रौद्रध्यान नरक लेजानेवाले हैं। पंचम गुणस्थान तक होते हैं परन्तु सम्यक्त्व अवस्थामें मंद होनेसे नरक गतिके कारण नहीं होते।

धर्मध्यान

सातिशय पुण्यबंधका कारण, शुद्धोपयोगका उत्पादक शुभ परिणाम सो धर्मध्यान कहलाता है। इसके मुख्य चार भेद हैं। यथा—(१) आज्ञाविचय–इस धर्मध्यानमें जैनसिद्धान्तमें प्रसिद्ध वस्तु स्वरूपको. सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाकी प्रधानतासे यथासम्भव परीक्षापूर्वक चिंतवन करना और सूक्ष्म-परमाणु आदि, अंतरित-राम रावणादि, दूरवर्ती-मेरुपर्वतादि ऐसे छद्मस्थ के प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणोंके अगोचर पदार्थोंको सर्वज्ञ वीतरागकी आज्ञा प्रमाणही सिद्ध मानकर तद्रूप चिंतवन करना (२) अपायविचय–कर्मोंका नाश, मोक्षकी प्राप्ति किन उपायों से हो, इस प्रकार आस्रव-बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि तत्वोंका चिंतवन करना (३) विपाकविचय-द्रव्य-क्षेत्र-काल भावके निमित्तसे अष्ट कर्मोंके विपाक द्वारा आत्माकी क्या २ सुखदुःखादिरूप अवस्था होती है उसका चिंतवन करना। (४) संस्थानविचय–लोक तथा उसके ऊर्ध्व-मध्य-तिर्यक लोक सम्बन्धी विभागों तथा उसमें स्थित पदार्थोंका, पंचपरमेष्ठीका अपने आत्माका चिंतवन करता हुआ, इनके स्वरूपमें उपयोग स्थिर करना। इसके पिंडस्थ-पदस्थ-रूपस्थ रूपातीत चार भेद हैं। जिनका विशेष वर्णन श्री ज्ञानार्णवसे जानना।

यद्यपि यह धर्मध्यान चौथे गुणस्थानसे सातवें गुणस्थान तक अर्थात अव्रती श्रावकसे मुनियोंतक होता है, तथापि श्रावक अवस्थामें आर्त्त-रौद्र ध्यानके सद्भावसे धर्म-ध्यान पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं होता, इसलिये इसकी मुख्यता मुनियोंके ही होती

है, विशेषकर अप्रमत्त अवस्थामें इसका साक्षात् फल स्वर्ग और परम्परा से शुद्धोपयोगपूर्वक मोक्षकी प्राप्तिभी है।

शुक्लध्यान

जो ध्यान, क्रिया रहित, इन्द्रियोंसे अतीत, ध्यानकी धारणासे रहित अर्थात् मैं ध्यान करूं या ध्यान कर रहा हूं, ऐसे विकल्परहित होता है। जिसमें चित्तवृत्ति अपने स्वरूपके सन्मुख होती है। इसके चार भेद हैं, उनमें प्रथम पाया तीन शुभ संहननों में और शेप तीन पाये वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन मेंही होते हैं आदिके दो भेदतो अंग-पूर्वके पाठी छद्मस्थोंके तथा दो केवलियों के होते हैं। ये चारों शुभोपयोग रूप हैं। (१) प्रथक्त्व वितर्क विचार—यह ध्यान श्रुतके आधार से (वितर्कसहित) होता है, मन, वचन, काय तीनों योगोंमें बदलता रहता है, अलग २ ध्येय भी श्रुतज्ञानके आश्रय बदलते रहते हैं, अर्थात् एक शब्द-गुण-पर्यायसे दूसरे शब्द-गुण-पर्याय पर चला जाता है। इसके फलसे मोहनीयकर्म शान्त होकर एकत्व-वितर्क अविचार ध्यानकी योग्यता होती है। यह आठवें गुणस्थानसे ग्यारहवें गुणस्थानतक होता है (२) एकत्व वितर्क अविचार—यह ध्यान भी श्रुतके आधारसे होता है। तीनों योगोंमें से किसी एक योग द्वारा होता है। इसमें श्रुतज्ञान बदलता नहीं, अर्थात् एक द्रव्य, एक गुण या एक पर्यायका एक योग द्वारा चिंतवन होता है। इससे घातिकर्मोंका अभाव होकर अनन्त-ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यकी प्राप्ति होती है, यह बारहवें गुणस्थानमें होता है*। (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति —

*श्री क्षपणासारमे आठवें से बारहवें गुणस्थानके असंख्यात भागों तक प्रथम शुक्लध्यान और बारहवें के सिर्फ असंख्यातवें भागमें दूसरा शुक्लध्यान कहा है ॥

इनमें उपयोगकी क्रिया नहीं है; क्योंकि क्षयोपशमज्ञान नहीं रहा। श्रुतके आश्रयकी आवश्यकता नहीं रही; क्योंकि केवल-ज्ञान होगया। ध्यानका फल जो उपयोगकी स्थिरता, सो भी हो चुकी। यहां वचन-मनयोग और बादरकाययोगका निरोध होकर सूक्ष्म-काययोगका अवलम्बन होता है अन्तमें काययोगका भी अभाव होजाता है अतएव इस कार्य होनेकी अपेक्षा उपचाररूपसे यहां सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान कहा है; यह ध्यान तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें होता है। (४) व्युपरतक्रिया निवृत्ति–इसमें श्वासोश्वासकी भी क्रिया नहीं रहती, यह चौदहवें गुणस्थानमें योगोंके अभावकी अपेक्षा कहा गया है।

इस चतुर्थ शुक्लध्यानके पूर्ण होते ही आत्मा चारों अघातिया कर्मोंका अभाव करके ऊर्ध्वगमनस्वभावके कारण एक ही समयमें लोकके अग्रभाग अर्थात् अन्तमें जा सुस्थिर, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, निकल-परमात्मा होजाता है। इसके एक २ गुणकी मुख्यतासे परब्रह्म, परमेश्वर, मुक्तात्मा, स्वयंभू आदि अनन्त नाम हैं। यह मुक्तात्मा धर्मास्तिकायके अभावसे लोका-काशसे आगे अलोकाकाशमें नहीं जा सकता। आकार इस शुद्धात्माका चरम (अन्तिम) शरीरसे किंचित् ऊन पुरुषाकार रहता है। इस निष्कर्म आत्माके ज्ञानावरणी कर्मके अभावसे अनन्तज्ञान और दर्शनावरणीके अभावसे अनन्तदर्शनकी प्राप्ति होती है, जिससे यह लोकालोकके चराचर पदार्थोंको (उनकी त्रिकालवर्ती अनन्त गुणपर्यायों सहित युगपत् एक ही समय) जानता देखता है। अन्तरायके अभावसे ऐसी अनन्तवीर्य-शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे खेदरहित हो उन सर्व पदार्थोंको देखता जानता है। मोहनीय कर्मके अभाव होनेसे क्षायिक-सम्यक्त्व होता है, जिससे सर्वज्ञ होते हुए भी किसीमें रागद्वेष उत्पन्न नहीं होता, और समता (शांति) रूप अनंत

सुख* की प्राप्ति होती है। आयुकर्मके अभावसे अवगाहन गुण उत्पन्न होता, जिससे इस मुक्तात्माके अनन्तकाल-स्थाईपनेकी शक्ति उत्पन्न होती है (नाटक समयसार-मोक्षाधिकार)। गोत्र-कर्मके अभावसे अगुरु-लघुत्वगुण उत्पन्न होता, जिससे सब शुद्धात्मा हलके भारी पने रहित होजाते हैं। नामकर्मके अभावसे शरीर रहितपना अर्थात सूक्ष्मत्व (अमूर्तत्व) गुणकी प्राप्ति होती, जिससे सिद्धात्मायें अपनी २ सत्ता कायम रखती हुई एक दूसरेमें अवगाह पा सकती हैं। वेदनीय कर्मके अभावसे अव्याबाध गुणकी प्राप्ति होती, जिससे इस कृतकृत्य आत्माके किसी प्रकारकी बाधा उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार मुक्त जीव यद्यपि व्यवहारनय अपेक्षा अष्टकर्मोंके अभावसे अष्टगुणमय कहा जाता है, तथापि निश्चयनयसे एक शुद्ध-चैतन्यरसका पिंड है। यह संसारी अशुद्ध आत्मा, पुरुषार्थ करके इस प्रकार निष्कर्म, परमात्मा, परमेश्वर्य अवस्थाको प्राप्त हो सदा स्वाभाविक-शान्तिरसपूर्ण, स्वाधीन आनन्दमय रहता और सदाके लिये अजर-अमर होजाता है—फिर जन्म-मरण नहीं करता।

पुनः इसीको दूसरी तरह से ऐसा भी कह सकते हैं कि यह शुद्धात्मा सकल संयम (मुनिव्रत) के धारण करनेके फल-स्वरूप, निज-गुणोंके अति विकाशरूप, पूर्ण-अहिंसकपनेको प्राप्त हो जाता है। जिस अहिंसकपनेका परिवार ८४ लाख उत्तरगुण हैं। इसी प्रकार पुद्गलसंयोग-जनित कुशीलभावका अभाव होनेसे यह सिद्धात्मा निजस्वरूप-विहारी, महाशील-वान ब्रह्मचारी होजाता है। जिस शीलगुणका परिवार १८ हजार उत्तरगुण है॥

---

*श्रीक्षपणासारमें मोहनीय कर्मके अभावसे क्षायिकसम्यक्त्व, वीर्यान्तरायके अभावसे अनंतवीर्य और शेष चारों अन्तराय और नव नोकषायके अभावसे अनंत सुख होना कहा है।

चौरासी लाख उत्तरगुणोंके भंग ॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा ये पंच पाप। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय! मन-वचन-कायकी दुष्टता तीन। मिथ्यादर्शन १। प्रमाद १। पैशून्य १। अज्ञान १। भय १। रति १। अरति १। जुगुप्सा १। इन्द्रियोंका अनिग्रह १। इन २१ दोषोंका त्याग × अतीचार, अनाचार, अतिक्रम, व्यतिक्रम चार प्रकारसे × पृथ्वी कायादि १० के परस्पर संयोग रूप १०० की हिंसाका त्याग × १० अब्रह्मके कारणोंका त्याग × १० आलोचनाके दोषोंका त्याग × १० प्रायश्चितके भेदों करके। इस प्रकार २१ × ४ × १०० × १० × १० × १० = ८४००००० उपर्युक्त प्रकार दोषोंके अभावसे आत्मामें अहिंसाके चौरासी लाख उत्तरगुणोंकी प्राप्ति होती है ॥

अठारह हजार शीलके भेद ॥

मन-वचन-काय ३ गुप्ति × कृत-कारित अनुमोदना ३ × आहार-भय-मैथुन-परिग्रह ४ संज्ञा विरति पंचेन्द्रिय विरति ५ × पृथ्वी-कायादि १० प्राणसंयम × उत्तम क्षमादि दश धर्मयुक्त। इस प्रकार ३ × ३ × ४ × ५ × १० × १० = १८०००शीलकेभेद आत्मामें उत्पन्न होते हैं ॥

मुनिव्रतका सारांश (मोक्ष) ॥

मिथ्यादृष्टि जीवोंके बहुधा अशुभ उपयोग रहता है, कदाचित् किसीके मन्द कषायसे शुभोपयोग भी हो तो सम्यक्त्वके बिना, निरतिशय पुण्यबंधका कारण होता है, जो किंचित् सांसारिक (इन्द्रियजनित) सुख-सम्पदाका नाटक दिखाकर अंत में फिर अधोगतिका पात्र बना देता है। ऐसा निरतिशय पुण्य मोक्षमार्गके लिये सहकारी नहीं होता। हां! जिस जीवके काल-

लब्धिकी निकटतासे तत्वविचार पूर्वक आत्मानुभव (सम्यक्त्व) हो जाता है, उसीके सातिशय पुण्यबंधका कारण सच्चा शुभोपयोग होता है। इस सम्यक्त्वसहित शुद्धोपयोगके अभ्यन्तर ही दहीमें मक्खनकी नाईं शुद्धोपयोगकी छटा झलकती है, ज्यों २ संयम बढ़ता जाता, त्यों २ उपयोग निर्मल होता जाता अर्थात् शुद्धोपयोगकी मात्रा बढ़ती जाती है। यह शुद्धोपयोग का अंकुर चौथे गुणस्थानसे शुभोपयोगकी छायामें अव्यक्त बढ़ता हुआ सातवें गुणस्थानमें व्यक्त हो जाता है। यहां पर अव्यक्त मन्दकषायोंके उदयसे किंचित् मलिन होने पर भी यद्यपि इसे द्रव्यानुयोगकी अपेक्षा शुद्धोपयोग कहा है. क्योंकि छद्मस्थके अनुभवमें उस मलिनताका भान नहीं होता तथापि यथार्थमें दशवें गुणस्थानके अनंतरही कषायोंके उदयके सर्वथा अभाव होनेसे यथाख्यात चारित्ररूप सच्चा शुद्धोपयोग होता है ॥

यह स्पष्टही है कि अशुभोपयोग पापबंधका कारण, शुभोपयोग पुण्यबंधका कारण और शुद्धोपयोग बंधरहित (संवरपूर्वक) निर्जरा एवं मोक्षका कारण है। इस शुद्धोपयोगकी पूर्णता निर्ग्रन्थ (साधु) पद धारण करनेसे ही होती है, इसीलिये मुनिव्रत मोक्षका असाधारण कारण है। जिसप्रकार श्रावकको १२ व्रत निर्दोष पालनेमें उसके कर्तव्य की पूर्णता होती है। उसी प्रकार मुनि को पंचमहाव्रत अथवा पंचाचार, पंच समिति. तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकारके चारित्र निर्दोप पालने से साधुके कर्तव्यकी सिद्ध अर्थात् शुद्धोपयोग की उत्पत्ति होती है। इस तेरह प्रकारके चारित्रमेंसे यथार्थमें ३ गुप्तिका पालन साधुका मुख्य कर्तव्य है, यह गुप्ति ही मोक्षकी दाता, मोक्षस्वरूप है। जबतक इनकी पूर्णता न हो, जब तक निष्कर्म अवस्था प्राप्त नहीं होती। इसप्रकार साधुका सकल संयम यथाख्यात चारित्र अर्थात् रत्नत्रयकी पूर्णताको प्राप्त कराता है।

यद्यपि अष्टकर्मोंकी नाशक रत्नत्रयकी एकता, एकदेश श्रावकके भी होती है तथापि पूर्णता मुनि अवस्थामेंही होती है। यह रत्नत्रयकी पूर्णता मोक्षकी कारण एवं मोक्षस्वरूप है, संसार परिभ्रमणकी नाशक है। जो जीव मोक्षको प्राप्त हुए अथवा होवेंगे, वे सब इसी दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता से। यह ही आत्माका स्वभाव है, यही तीनलोकमें पूज्य है, इसकी एकता बिना कोटि यत्न करने पर भी मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। जितने कुछ क्रियाआचरण हैं वे सब इसी रत्नत्रयके सहकारी होनेसे धर्म कहलाते हैं। यह रत्नत्रयकी एकता ही अद्भुत रसायन है, जो जीवको अजर अमर बना देती है। इस पूज्य रत्नत्रयकी एकताको हमारा बार बार नमस्कार है और वह हमारे हृदयमें सदा विकाशमान रहो ॥

सदुपदेश ॥

यह संसारी आत्मा अनादिकालसे अपने स्वरूपको भूल पुद्गलको ही अपना स्वरूप मान बहिरात्मा होरहा है। जब काललब्धि तथा योग्य-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका संयोग पाकर इसे अपना तथा परका भेद-विज्ञान होकर सम्यक्त्व (आत्म-स्वभावका दृढ़ विश्वास) की प्राप्ति होती है, तब वह अंतरात्मा होकर परपदार्थोंसे उपयोग हटाकर निजात्मस्वरूपमें स्थित होनेकी उत्कट इच्छारूप स्वरूपाचरण-चारित्रका आरम्भी तथा स्वात्मानु होजाता है पश्चात् बारह व्रतरूप देशचा-रित्र अंगीकार कर एकदेश आरम्भ-परिग्रहका त्यागी अणुव्रती होता है। जिसके फल से इसका उपयोग अपने स्वरूपमें किंचित् स्थिर होने लगता है। पुनः मुनिव्रत धार. अट्ठाईस मूलगुणरूप सकल-संयम पालनेसे सर्वथा आरम्भ-परिग्रहका त्यागी होजाता है जिससे आत्माका उपयोग पूर्णरूपसे

निजस्वरूपही में लीन होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतापूर्वक ध्यान-ध्याता ध्येय, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेयके भेदरहित होजाता है। यही स्वरूपाचरण चारित्रकी पूर्णता है। आत्मा इसी अद्भुत रसायनके बलसे निर्बंध अवस्थाको प्राप्त होकर उस वचनातीत-आत्मिक स्वाधीन सुखको प्राप्त करता है, जो इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्तीको भी दुर्लभ है। क्योंकि इन इन्द्रादिकोंका सुख लोकमें सर्वोपरि प्रसिद्ध होते हुए भी आकुलतामय, परिमित तथा पराधीन है और सिद्ध अवस्थाका सुख निराकुलित, स्वाधीन तथा अनंतकाल स्थाई है। धन्य हैं वे महन्त पुरुष! जिन्होंने इस मनुष्य पर्यायको पाकर अनादि जन्म-मरण रोगका नाश कर सदाके लिये अजर-अमर-अनंत-अविनाशी आत्मीक लक्ष्मीको प्राप्त किया। ऐसे संपूर्ण जगतके शिरोमणि सिद्ध परमेष्ठी जयवंत होओ! भक्तजनोंके हृदय-कमलमें निवास कर उन्हें पवित्र करो! जगतके जीवोंको कल्याण दाता होओ॥

हे मोक्षसुखके इच्छुक, संसार भ्रमणसे भयभीत सज्जन भ्राताओं! इस सुअवसरको हाथसे न खोओ, संसारिक राग-द्वेष रूप अग्निसे तप्तायमान इस आत्माको समता (शांति) रस-रूपी अमृतसे सिंचनकर अजर अमर बनाओ, यही सच्चा पुरुषार्थ, यही मुख्य प्रयोजन, यही सर्वोत्कृष्ट इष्ट (हित) है॥

प्रशस्ति॥

पावन भारतवर्षके, मध्यप्रदेश मझार॥
सागर-नागर-जन-बहुल, जिला लसत सुखकार॥ १॥
ता महं सरित सुनारके, तीर मनोहर ग्राम॥
हृदयनगर* राजत जहां जिन मन्दिर अभिराम॥ २॥

---

*नदीके दाहिने तट हृदयनगर और बांये तट गढाकोटा है। आजकल इसका प्रसिद्ध नाम गढाकोटा है॥

विविध धर्म कुल जातिके, निवसत जनसमुदाय ॥
जैनीजन राजें अधिक, सब विधि साता पाय ॥ ३ ॥

बसैं तहां परवार-वर, सोधिया प्यारेलाल ॥
रकिया मूर प्रसिद्ध जिहि, बांझल गोत विशाल ॥ ४ ॥

तीन पुत्र तिनके भये, पहिले नाथूराम ॥
दूजौ मैं दरयावसिंह, मूलचन्द लघुनाम ॥ ५ ॥

धर्म-कर्म संयोगसे, कर कछु विद्याभ्यास ॥
अध्यापककी जीविका, पाई शान्ति निवास ॥ ६ ॥

ब्रटिश (अंग्रेजी) राज्यमें इकादश, वर्ष कियौ बहु काम ॥
किन्तु न पायौ धर्मको, मर्म-शर्म सुखधाम ॥ ७ ॥

पूर्व पुण्यके उदयवश, आपहुँचौ रतलाम ॥
राजकीय अध्यापकी, पाई उन्नति धाम ॥ ८ ॥

यहां मिली संगति सुखद, साधर्मिनकी शुद्ध ॥
धर्म सम्पदा पायकर, नितप्रति भयौ प्रबुद्ध ॥ ९ ॥

पूरव भवके मित्रमम, हीराचन्द गंगवाल ॥
तिनके प्रेम प्रसादसे, पायौ धर्म रसाल ॥ १० ॥

पण्डित बापूलालजी, धर्म-तत्व मर्मज्ञ ॥
ज्ञान दान अनमोल तिन, दियौ कियौ वृष-विज्ञ ॥ ११ ॥

संस्कारवश पूर्वके, भयौ अटल विश्वास ॥
निज स्वरूप समुझन लगौ, कटी अविद्या फांस ॥ १२ ॥

एकाकी इस देशमें, प्रगटौ रोग महान ॥
उठौ उपद्रव प्लेगकौ अतिशय प्रलय समान ॥ १३ ॥

इसी रोगमें ग्रसित ह्वै, युगल तनय सुकुमार ॥
निज माता युत तज्यो तन, नेक न लागी बार ॥ १४ ॥

नैनन देख्यौ जगतकौ अतिशय अथिर स्वभाव ॥
मोह घट्यो प्रगट्यो विशद, निज सुधारकौ चाव ॥ १५ ॥

तबहि ज्येष्ठ सुत भ्रात कौं, सौंप भयौ निरद्वन्द ॥
तृष्णा तजि भगवत् भजन, करन लग्यो सानन्द ॥ १६ ॥
गोत्र-काशलीवाल मणि, हुकमचन्दजी श्रेष्ठि ॥
इन्द्रपुरी (इन्दौर) नगरी बसैं, दानवीर धर्मिष्ठ ॥ १७ ॥
धर्म प्रेमवश तिन कही, रहौ हमारे पास ॥
नाश दासता फांसको, करो स्वधर्म विकाश ॥ १८ ॥
महदाश्रयको पायकरि, भयौ अमित आनन्द ॥
धर्म कर्म साधन लग्यो, सब प्रकार स्वच्छन्द ॥ १६ ॥
श्रावकधर्म स्वरूपके, समुझन हेतु अनेक ॥
आर्षग्रन्थ देखन लग्यो, नशिदिन सहित विवेक ॥ २० ॥
जो कछु समुझ्यौ अरु गुन्यौ-सुन्यौ सुबुधिजन पास॥
ताकौ यह संग्रह भयौ ग्रन्थ स्वरूप प्रकाश ॥ २१ ॥
श्रावक बुध्दूलालजी, कीन्ही बहुत सहाय ॥
बार २ लिख शौधियौ, दे सम्मति सुखदाय ॥ २२ ॥
भये सहायक मित्रमम, गोधा पन्नालाल ॥
खूबचन्दजी ठोलिया, अरु परसादीलाल ॥ २३ ॥
इन सब मित्रोंने कियौ संशोधन अविरुद्ध ॥
यथासाध्य दूषण रहित, कीन्हों याहि विशुद्ध ॥ २४ ॥
संवत्सर उन्नीससौ, सत्तर अधिक प्रमाण ॥
ज्येष्ठ शुक्ल श्रुतपंचमी, भयौ ग्रन्थ अवसान ॥ २५ ॥
शशि-रविकौ जबलौं रहै, जगमें सुखद प्रकाश ॥
तबलौं यह रचना रहै, करै सुधर्म विकाश ॥ २६ ॥